

MAHL-104

साहित्यशास्त्र और हिन्दी समालोचना



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय-हल्द्वानी 263139

फोन नं. : 05946-261122, 261123

टोल फ्री नं. 18001804025

फैक्स नं. 05946-264232 ई-मेल info@uou.ac.in

<http://uou.ac.in>

विशेषज्ञ समिति

प्रो. एच.पी. शुक्ला निदेशक— मानविकी विद्याशाखा उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल	प्रो. लक्ष्मण सिंह बिष्ट 'बटरोही' निदेशक, महादेवी वर्मा सृजन पीठ, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, रामगढ़, नैनीताल
प्रो. एस.डी. तिवारी विभागाध्यक्ष, हिन्दी गढ़वाल विश्वविद्यालय, गढ़वाल	डॉ. जितेन्द्र श्रीवास्तव हिन्दी विभाग इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त वि.वि. दिल्ली
प्रो. डी.एस. पोखरिया विभागाध्यक्ष, हिन्दी कुमाऊं विश्वविद्यालय, नैनीताल	प्रो. नीरजा टंडन हिन्दी विभाग कुमाऊं विश्वविद्यालय, नैनीताल

पाठ्यक्रम समन्वयक, संयोजन एवं सम्पादन

डॉ. शंशाक शुक्ला असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल	डॉ. राजेन्द्र कौड़ा अकादमिक परामर्शदाता, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल
---	--

इकाई लेखन

इकाई संख्या

प्रो. नीरजा टण्डन, डी.एस. परिसर, नैनीताल	1, 2
डॉ. विक्रम राठौर, रा.स्ना. महा. गंगोलीहाट	3
डॉ. किरन टण्डन, डी.एस. परिसर, नैनीताल	4, 6
डॉ. सत्यप्रकाश शर्मा, हिन्दी विभाग, रा.स्ना.महा., लोहाघाट	5, 7
प्रो. दिवा भट्ट, एस.एस.जे. परिसर, हिन्दी विभाग, अल्मोड़ा	8, 9, 10
डॉ. मृदुल जोशी, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार, उत्तराखण्ड	11, 12, 13, 14
डॉ. दिलीप पाण्डे, रजा. पी.जी. कॉलेज, रामपुर	15
डॉ. शंशाक शुक्ला, हिन्दी विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय	16, 17, 18
डॉ. शिरीष कुमार मौर्य, डी.एस. परिसर, नैनीताल	19, 20, 21, 22

मुद्रण : मई—2016 ISBN 978-93-84632-70-0

कॉपीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

संस्करण : जून 2012, सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।

प्रकाशक निदेशालय : अध्ययन एवं प्रकाशन (उ.मु.वि.वि.) — 263139

mail : studies@uou.ac.in

मुद्रक : दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर मुद्रित प्रतियाँ 1000

साहित्यशास्त्र और हिन्दी समालोचना

पृष्ठ संख्या

खण्ड -1 भारतीय काव्य सिद्धान्त

इकाई 1	काव्य का लक्षण एवं स्वरूप	1-21
इकाई 2	काव्य की प्रेरणा एवं काव्य और हेतु	22-37
इकाई 3	भारतीय काव्य शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय: अलंकार सम्प्रदाय	38-55
इकाई 4	भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय: ध्वनि	56-74
इकाई 5	भारतीय साहित्य सिद्धान्त- औचित्य	75-90
इकाई 6	भारतीय काव्य शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय: रीति सम्प्रदाय	91-108
इकाई 7	भारतीय साहित्य सिद्धान्त - वक्रोक्ति	109-126

खण्ड -2 पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त

इकाई 8	पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की परम्परा	127-142
इकाई 9	प्लेटो: परिचय एवं सिद्धान्त	143-154
इकाई 10	अरस्तू: परिचय एवं सिद्धान्त	155-170
इकाई 11	मैथ्यू आर्नल्ड: परिचय एवं सिद्धान्त	171-182
इकाई 12	आई.ए. रिचर्ड्स : परिचय एवं सिद्धान्त	183-194
इकाई 13	बेनेदेतो क्रोचे : परिचय एवं सिद्धान्त	195-212
इकाई 14	टी.एस. इलियट : परिचय एवं सिद्धान्त	213-224
इकाई 15	मार्क्सवाद	225-239

इकाई 16	आधुनिकतावाद, उत्तर – आधुनिकतावाद	240-256
इकाई 17	संरचनावाद, उत्तर संरचनावाद, शास्त्रवाद, नव्यशास्त्रवाद, नई समीक्षा	257-276
इकाई 18	स्वच्छंदतावाद, बिंबवाद, प्रतीकवाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, दादावाद, शैलीविज्ञान	277-293

खण्ड –3 हिन्दी समालोचना

इकाई 19	हिन्दी आलोचना : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनका युग	294-307
इकाई 20	शुक्लोत्तर युग एवं हिन्दी आलोचना	308-326
इकाई 21	प्रगतिशील आलोचना एवं रामविलास शर्मा	327-341
इकाई 22	समकालीन हिन्दी आलोचना और नामवर सिंह	342-355

इकाई 1 काव्य का लक्षण एवं स्वरूप

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 काव्य का शाब्दिक अर्थ
 - 1.3.1 कवि, काव्य और साहित्य
 - 1.3.2 काव्य का लक्षण
- 1.4 काव्य स्वरूप की ऐतिहासिक परम्परा
 - 1.4.1 काव्य विषयक संस्कृत के आचार्यों की दृष्टि
 - 1.4.2 काव्य विषयक रीतिकालीन आचार्यों की दृष्टि
 - 1.4.3 काव्य विषयक पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि
 - 1.4.4 काव्य विषयक आधुनिक हिन्दी आचार्यों की दृष्टि
- 1.5 सारांश
- 1.6 शब्दावली
- 1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.09 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की यह पहली इकाई है। इस इकाई के माध्यम से आप यह समझ सकते हैं कि साहित्य का क्या अर्थ है। साहित्य के लिए हम काव्य शब्द का प्रयोग क्यों कर रहे हैं।

यह सवाल हर संवेदनशील व्यक्ति के मन में सदेव उठता है कि साहित्य क्या है? साहित्य क्यों पढ़ा-लिखा-सुना जाता है? साहित्य कैसे लिखा जाता है? साहित्य की जरूरत हमें क्यों होती है? हमारी सामान्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति साहित्य या किसी भी ललित कला द्वारा नहीं हो सकती है फिर भी साहित्य के बिना हमारा जीवन अधूरा है। क्योंकि हमारी मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति साहित्य, संगीत, कला द्वारा ही होती है इसीलिए यह कहा जाता है कि साहित्य, संगीत और कला से विहीन व्यक्ति पूँछ और सींग से रहित पशु के समान होता है, अतः साहित्य हमारे लिए अपरिहार्य है। साहित्य के विषय में हमारे मनीषियों ने बड़े विस्तार से चर्चा की है। प्रस्तुत इकाई द्वारा काव्य के विविध सन्दर्भों के साथ काव्य के स्वरूप से परिचित कराया जाएगा।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप काव्य/ साहित्य के विषय में जान सकेंगे तथा काव्य के विषय में संस्कृत साहित्यशास्त्रियों, पश्चिमी विचारकों, रीतिकालीन आचार्यों और हिन्दी के विचारकों के मत से परिचित हो सकेंगे और काव्य का सम्यक् विश्लेषण कर सकेंगे।

1.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- बता सकेंगे कि साहित्य क्या है।
- समझा सकेंगे कि साहित्य के विषय में हमारे मनीषियों के क्या अभिमत हैं।
- काव्यशास्त्र की विभिन्न पुस्तकों तथा साहित्यशास्त्र की शब्दावली से परिचित हो सकेंगे।

1.3 काव्य का अर्थ

1.3.1 कवि, काव्य और साहित्य -

काव्य का शाब्दिक अर्थ है कवि की रचना अर्थात् कवि द्वारा जो कार्य किया जाए, उसे काव्य कहते हैं- 'कवयतीति कविः तस्य कर्मः काव्यम् (एकावली), कवेरिदं कार्यभावो वा' (मेदिनीकोश)। शब्दकल्पद्रुम में कवि की परिभाषा दी गई है- 'कवते सर्वजानाति सर्ववर्णयतीति

कवि: 'जो सब जानता है, सम्पूर्ण विषयों का वर्णन करता है, वह कवि है। हम यह लोकोक्ति अक्सर उद्धृत करते हैं - 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि। अर्थात् कवि के पास ऐसी क्षमता होती है, जिससे वह उन उन विषयों, विचारों, स्थितियों के विषय में सोच और अभिव्यक्त कर सकता है, जिनके विषय में सामान्य व्यक्ति नहीं सोच पाता। श्रुति कहती है-'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू'। कवि मनीषी है, परिभू' यानी अपनी अनुभूति के क्षेत्र में सब कुछ समेटने में सक्षम है और स्वयंभू यानी जो अपनी अनुभूति के लिए किसी का ऋणी नहीं है तात्पर्य यह है कि काव्य उस मनीषी की सृष्टि है जो सर्वज्ञ है, सम्पूर्ण है। कवि को नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से सम्पन्न होना चाहिए और उसमें वर्णन निपुणता होनी चाहिए। यह वर्णन निपुणता असाधारण होनी चाहिए। आचार्य मम्मट अपनी कृति काव्यप्रकाश में 'काव्यं लोकोत्तरवर्णननिपुणं कवि कर्म.....' यानी काव्य को लोकोत्तर वर्णन में निपुण कवि की कृति कहते हैं। आनन्दवर्धन का कहना है कि अपार काव्यसंसार में कवि ब्रह्मा है और उसे संसार में जो जैसा अच्छा लगता है, वैसा ही वह उसका निर्माण करता है-

अपारे काव्यसंसारे कविरैकः प्रजापति।

यथास्मै रोचते विश्वं तथैव प्रतिजानीते। (ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत,)

इस आधार पर कवि से आशय है रचनाकार से और काव्य से आशय है साहित्य से। हमारे भारतीय चिन्तन में इसीलिए रचनाकार को कवि और उसकी रचना को काव्य कहा जाता रहा है। साहित्य की कोई भी विधा चाहे वह नाटक हो, कविता हो काव्य ही कहलाता था। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्', 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' जैसी उक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं। कालान्तर में हिन्दी साहित्य जगत् में काव्य शब्द पद्यबद्ध रचना के लिए रूढ हो गया और साहित्य शब्द व्यापक अर्थ में लिया गया। दरअसल आचार्य राजशेखर द्वारा रचित 'काव्य-मीमांसा' नामक कृति में सबसे पहले काव्य के अर्थ में साहित्य और काव्यशास्त्र के लिए साहित्यविद्या शब्द का प्रयोग मिलता है, इसके पूर्व साहित्य के लिए काव्य शब्द ही प्रयुक्त होता रहा है। पश्चिम में साहित्य शब्द के लिए 'लिटरेचर' शब्द का व्यवहार किया जाता है।

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति 'सहित' से हुई है, जिसका अर्थ है- सहभाव, समन्विति। साहित्य शब्द की व्याख्या दो रूपों में की जाती है। एक- साहित्य का निर्माण शब्द और अर्थ के समन्वय से होता है। दो-जिसमें हित की भावना सन्निहित हो, वह साहित्य है। साहित्य में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का समन्वय होता है। वस्तुतः काव्य में शब्द और अर्थ अपने पूरे सामर्थ्य के साथ, सौन्दर्य के साथ प्रयुक्त होते हैं। तुलसीदास का कहना है 'गिरा अरथ जल बीच सम, कहियत भिन्न न भिन्न'। शब्द और अर्थ पानी और उसमें उठने वाली लहर के समान हैं, जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। साहित्य का समस्त कार्य भाषिक अभिव्यंजना का ही व्यापार है। शब्द और अर्थ दोनों के योग से काव्य का स्वरूप संगठित होता है, यह बात तो निर्विवाद है ही, साहित्य का लक्ष्य आनन्द प्रदान करना-यानी सुन्दरम्, यथार्थ का चित्रण करना' यानी सत्यं, और व्यवहारज्ञान कराना, अकल्याणकारी तत्वों का विनाश करना, यानी शिवं की प्राप्ति कराना भी है। हम यह कह सकते हैं कि सामान्य

शब्दार्थ काव्यनिर्माण के साधन हैं, कवि की लोकोत्तरवर्णन निपुणता इन्हीं सामान्य शब्दों और अर्थों को ऐसी शक्ति से सम्पन्न बना देती है, जिससे ये रससृष्टि करने में सफल हो जाते हैं। मम्मट आदर्श काव्य ऐसे शब्दार्थ के साहित्य को मानते हैं जो रसनिर्भर है, रस का अभिव्यंजक है। उनका कहना है-

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।

नवरसरुचिरां निर्मितमादधती भारती कवेर्जयती ॥

(काव्यप्रकाश, आनन्दमंगल, प्रथमउल्लास,)

विधाता के द्वारा निर्मित नियमों से रहित, आह्लादमयी, अपने अतिरिक्त अन्य समस्त कार्यकलाप की अधीनता से परे, अलौकिक रस से भरी और नितान्त मनोहर कवि-भारती की जय हो।

काव्य वाणी का सर्वोत्तम व्यापार है और कवि की सर्वोत्कृष्ट कृति है। व्यापक अर्थ में कवि शब्द का प्रयोग साहित्यकार के लिए और काव्य का प्रयोग साहित्य के लिए होता है। वर्तमान समय में काव्य अंग्रेजी के पोयट्री के और साहित्य लिटरेरे के पर्याय के रूप में व्यवहृत होता है। अतः जब हम भारतीय काव्यसिद्धान्तों की चर्चा करते हैं तो काव्यशास्त्र शब्द का व्यवहार करते हैं और जब पाश्चात्य या आधुनिक हिन्दी साहित्य के सिद्धान्तों की बात करते हैं तो साहित्य शास्त्र या समालोचना शब्द का व्यवहार करते हैं।

1.3.2 काव्य का लक्षण

संस्कृत में लक्षण की परिभाषा दी गई है-'तदैव हि लक्षणं यदव्याप्ति अतिव्याप्ति असम्भवरूप दोषत्रयशून्यम्' अर्थात् लक्षण वह है जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव -इन दोषों से रहित हो। जिस विषय या वस्तु को पारिभाषित करना हो, उसके स्वरूप का ठीक ठीक, सन्तुलित निरूपण लक्षण कहलाता है। इस दृष्टि से काव्य को पारिभाषित करना अत्यन्त दुष्कर है, क्योंकि हम देखते हैं कि काव्य को लक्षण के दायरे में बाँधने के प्रयत्न बहुत समय से अनेक विद्वानों ने किये, काव्य की परिभाषाएं दीं, किन्तु एक सम्पूर्ण, सर्वग्राह्य परिभाषा दे पाने में आज तक कोई भी समर्थ नहीं हुआ। काव्य का स्वरूप बहुत व्यापक और सूक्ष्म है। आदिकाल से लेकर आज तक काव्य का स्वरूप स्पष्ट करने के अनेक प्रयास होते रहे हैं परन्तु काव्य की ठीक-ठीक परिभाषा अभी तक नहीं बनी। नवनवोन्मेषशाली प्रतिभा से सम्पन्न कवि की रचना है काव्य। उसमें नित नूतन कल्पनाएं, नित नये विचार, नित नये भाषिक प्रयोग, समय और समाज के नित परिवर्तित होते रूप परिलक्षित होते रहते हैं इसीलिए काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में हमें काव्य-लक्षण विषयक अनेक परिभाषाएं मिलती हैं। इस सन्दर्भ में महादेवी वर्मा का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है-

'कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है; परन्तु अबतक उसकी कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी जिसमें तर्क-वितर्क की सम्भावना न रही हो। धुँधले अतीत भूत से लेकर वर्तमान तक, और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' से लेकर आज के शुद्ध बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा जा चुका है, वह परिणाम में कम नहीं; परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान। यह स्वाभाविक भी है; क्योंकि प्रत्येक युग अपनी समस्याएं लेकर आता है, जिनके समाधान के लिए नई दिशाएं खोजती हुई मनोवृत्तियाँ उस युग के 'काव्य' और 'कलाओं' को एक विशिष्ट रूपरेखा देती रहती हैं। मूल तत्त्व न जीवन के कभी बदले हैं; और न काव्य के; कारण वे उस चेतना से सम्बद्ध हैं, जिसके तत्त्वतः एक रहने पर ही जीवन की अनेकरूपता निर्भर है।'(महादेवी वर्मा का विवेचनात्मक गद्य,)

यह तो निर्विवाद है कि साहित्य और समाज में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। और समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। इस परिवर्तन का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है, जिसके कारण उसका रूप परिवर्तित होता रहता है। सामान्य रूप से भी मूर्त वस्तुओं की तो परिभाषा दी जा सकती है, अमूर्त को ठीक-ठीक रूप से परिभाषित करना कठिन है। फिर भी साहित्य के स्वरूप को समझने के लिए संस्कृत के पुरातन चिन्तक आचार्य भरतमुनि से लेकर आज तक काव्य विषयक मान्यताओं को परखना आवश्यक है। इससे हम यह समझ सकेंगे कि काव्य के शाश्वत तत्त्व कौन से हैं और कौन से तत्त्व युगानुरूप शामिल होते जाते हैं।

(क) बोध प्रश्न

1. काव्य और साहित्य के विषय में अपने विचार कुछ पंक्तियों में दीजिए।
2. काव्य में शब्द और अर्थ का महत्त्व बताइए।

रिक्त स्थान भरिए-

1. भरतमुनि की रचना का नाम..... है।
2. काव्य की ठीक ठीक परिभाषा देना..... है, क्योंकि वह पदार्थ है।

सत्य असत्य बताइए-

1. काव्यप्रकाश के रचनाकार मम्मट हैं। (सत्य)/ (असत्य)
2. काव्य के लिए साहित्य शब्द का प्रयोग सबसे पहले नाट्यशास्त्र में हुआ है। (सत्य)/ (असत्य)

1.4 काव्य स्वरूप की ऐतिहासिक परम्परा

जैसा कि हम पहले जान चुके हैं कि काव्य का जब से आरम्भ हुआ है, काव्य के स्वरूप के विषय में विद्वानों ने चिन्तन करना आरम्भ कर दिया है। भारतीय काव्यशास्त्र की दो सहस्राधिक वर्षों की अवधि में काव्य स्वरूप विषयक अनेक अवधारणाएं स्थापित की गईं। इसी तरह पश्चिम में भी प्लेटो के पहले से ही काव्य विषयक मान्यताएं स्थापित होने लगी थीं। तब से लेकर आज तक काव्य को परिभाषा में बाँधने के जो प्रयत्न हुए, उन्हें हम कई दृष्टियों से परख सकते हैं। ऐतिहासिक कालक्रम के आधार पर, बहिरंग और अंतरंग को आधार बनाकर या काव्य के विविध अवयवों-शब्द, अर्थ, शब्दार्थ, शब्दव्यापार आदि की दृष्टि से काव्य के स्वरूप पर हम विचार कर सकते हैं, किन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए ऐतिहासिक कालक्रम के आधार पर काव्यलक्षणों पर विचार करना समुपयुक्त होगा। इसके लिए हम सबसे पहले संस्कृत के आचार्यों की परम्परा को उल्लिखित करेंगे, फिर रीतिकालीन आचार्यों का, इसके बाद पश्चिम के विचारकों का और फिर हिन्दी के समीक्षकों का।

1.4.1 काव्य विषयक संस्कृत आचार्यों की दृष्टि

भारतीय काव्यचिन्तकों में सबसे पहले आचार्य भरतमुनि का नाम आता है। भरतमुनि ने अपनी नाट्यशास्त्र नामक कृति में काव्यविषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उन्होंने काव्य की परिभाषा तो नहीं दी है, लेकिन नाटक के सन्दर्भ में काव्य के सात तत्त्वों का उल्लेख किया है-

1. सर्वसुगमता
2. नृत्योपयोगयोग्यता
3. संधियुक्तता
4. मृदुललित
5. गूढशब्दार्थहीनता
6. युक्तिमत्ता
7. बहुकृतरसमार्गता

भरतमुनि लिखते हैं-

मृदुललित पदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं, जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।

बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं, स भवति शुभकाव्यं नाटक प्रेक्षकाणाम्॥ -नाट्यशास्त्र, 16/118

-नाटक देखनेवालों के लिए वह शुभकाव्य होता है जिसमें कोमल और ललित पद(शब्द) हों, गूढ शब्द और अर्थ जिसमें नहीं हों, जो सबको आसानी से समझ में आ जाए, जिसमें नृत्य आदि का आयोजन किया गया हो, विविध रसों का जिसमें समावेश हो और सन्धियुक्तता हो।

भरत ने यहाँ जिन काव्यतत्त्वों की चर्चा की है, वे मूलतः रूपक पर घटित होते हैं, काव्य पर नहीं। यदि हम यहाँ वर्णित नृत्यबद्धता और कथावस्तु की सन्धियों को दृश्यकाव्यपरक मान कर छोड़ दें तो यह पाते हैं कि भरत ने काव्य में कोमलता, सुबोधता और रसनीयता का उल्लेख किया है। ध्यातव्य है कि कोमलता, सुबोधता या रसनीयता काव्य के अवयव नहीं हैं अपितु काव्य की विशेषताएं हैं अतः भरतमुनि का काव्यलक्षण सम्यक् नहीं है।

भरतमुनि के बाद आचार्य भामह ने अपनी कृति 'काव्यालंकार' में काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है- 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ का सहभाव काव्य है। भामह का यह लक्षण अत्यन्त व्यापक है और केवल काव्य पर ही नहीं, व्याकरण, दर्शन, शास्त्र, लोकव्यवहार सभी पर लागू होती है। समाज में जहाँ भी भाषिक व्यवहार होता है, शब्द और अर्थ का सहभाव वहाँ होता ही है। सम्पूर्ण वाङ्मय शब्द और अर्थ का ही तो व्यापार है, अतः वाणी के प्रत्येक रूप को काव्य मानना होगा, जबकि यह बात बहुत स्पष्ट है कि काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ सामान्य अर्थ से विलक्षण होते हैं। इस दृष्टि से भामह की काव्यविषयक यह परिभाषा अतिव्याप्ति दोष से युक्त है। इसके अतिरिक्त भामह ने 'सहितौ' शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट नहीं किया है। लेकिन भामह की कृति काव्यालंकार को पढ़ने पर यह स्पष्ट होता है कि भामह के पूर्ववर्ती आचार्यों की दो विचार सरणियाँ थीं, जिनमें से एक की दृष्टि के अनुसार काव्य सौन्दर्य का मूल रूप अर्थालंकार था तथा दूसरे के अनुसार शब्दालंकार। आचार्य कुन्तक ने अपनी कृति वक्रोक्तिजीवितं में भी इस तथ्य की पुष्टि की है-

'केषांचिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयतातिशयः शब्द एव केवलं काव्यम् इति, केषांचिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकाकर काव्यम् इति' । अर्थालंकारवादियों के अनुसार रूपक, उपमा आदि अर्थालंकारों के द्वारा ही काव्य का सौन्दर्य निष्पन्न होता है क्योंकि काव्यगत सौन्दर्य का ज्ञान अर्थ की प्रतीति के बाद ही सम्भव है। दूसरी ओर शब्दालंकारवादियों का मानना है कि काव्य की चारुता शब्द में ही है क्योंकि शब्द के द्वारा ही अर्थ की प्रतीति होती है। भामह इन दोनों अतिवादी दृष्टियों में समन्वय करते हुए मानते हैं कि काव्य की चारुता शब्द और अर्थ दोनों के समन्वय में ही है। वे कहते हैं-

'शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः - काव्यालंकार, 1/16

एक बात और ध्यातव्य है। भामह का कहना है कि 'सूर्य अस्त हो रहा है, चन्द्रमा उदित हो रहा है, पक्षी अपने घोंसलों को जा रहे हैं, ऐसे वाक्यों को मैं वार्ता कहता हूँ, काव्य नहीं। काव्य तो उन वाक्यों में होता है, जो लोकातिक्रान्त हों। स्पष्ट है कि भामह की दृष्टि में उस शब्दार्थ के साहित्य को काव्य कहा जा सकता है, जिसमें भाषा का सर्वोत्तम प्रयोग हो। भामह के अनुयायी कुन्तक ने अपने काव्यलक्षण द्वारा इस बात को स्पष्ट भी किया है, जिसके विषय में हम आगे चर्चा करेंगे। यहाँ इतना कहना जरूरी है कि भामह द्वारा दिया गया यह काव्य लक्षण वस्तुतः काव्यलक्षण नहीं है और

अगर हम इसे लक्षण मानते हैं तो भी इसमें अतिव्याप्ति दोष होने के कारण इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

भामह के बाद आचार्य दण्डी ने काव्य के विषय में बताया है -'शरीरं तावदिष्टार्थं व्यवच्छिन्ना पदावली' (काव्यादर्श, 1-10) इष्ट (अभीप्सित) या चमत्कृत अर्थ से परिपूर्ण शब्दावली को काव्यशरीर कहते हैं। दण्डी की दृष्टि में वे शब्द, जो मनोरम या हृदयाह्लादक अर्थ से युक्त हों, काव्य का शरीर हैं। दरअसल दण्डी के समय तक काव्य में 'आत्मा' की खोज होने लगी थी और आचार्य यह मानने लगे थे कि शब्दार्थ काव्य का शरीर हैं और उसकी आत्मा या वास्तविक तत्त्व कुछ और ही हैं। ये तत्व धीरे-धीरे काव्यात्मा विषयक सम्प्रदायों के रूप में विकसित हुए। ये तत्व थे 'अलंकार, रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्या इन सम्प्रदायों के विषय में हम आगे की इकाईयों में चर्चा करेंगे।

हमने यह पाया कि दण्डी की दृष्टि में विवक्षित अर्थ से परिपूर्ण पदावली काव्य का शरीर है। प्रश्न उठता है कि फिर काव्य का आत्मतत्त्व क्या है \ दण्डी अर्थालंकार और रस को काव्य का अनिवार्य तत्व स्वीकार करते हैं -'कामं सर्वोप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति (काव्यादर्श, 1/62)। दण्डी अलंकारजन्य आह्लाद को रस मानकर यह स्वीकार किया है कि सभी अलंकार रस में संचार करते हैं। दण्डी की ही भाँति आनन्दवर्धन ने भी अपनी कृति ध्वन्यालोक में 'शब्दार्थं शरीरं तावत्काव्यम्' कहकर शब्दार्थ को काव्य का शरीर माना है। काव्य के ये लक्षण काव्य को पूरी तरह पारिभाषित करने में समर्थ नहीं हैं।

दण्डी के बाद आचार्य वामन ने अपनी कृति 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में यद्यपि काव्य का स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया है किन्तु रीति-विवेचना के क्रम में यह कहा है कि गुण और अलंकार से युक्त शब्दार्थ ही काव्य है-'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1.1.1)। भामह ने अपने काव्यलक्षण में केवल शब्दार्थ के साहित्य को काव्य कहा था, वामन ने शब्दार्थ की विशेषता बताई-जो शब्दार्थ दोष से रहित और गुणों से युक्त हो, वह काव्य है। वामन पहले आचार्य हैं, जिन्होंने काव्य के सौन्दर्य की चर्चा की है। वामन की यह धारणा परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वागत किया गया और प्रायः आचार्यों ने काव्य में गुणयुक्तता और दोषराहित्य का उल्लेख किया। अग्निपुराणकार ने स्पष्टः काव्य को दोषों से बचाने की बात कही। 'काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद् दोषवर्जितम्'(अग्निपुराण, अध्याय 337, श्लोक सं. 7)।

आचार्य कुन्तक ने भामह द्वारा वर्णित शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य माना है, किन्तु शब्दार्थ की विशेषता बताई है कि वह शब्दार्थ काव्य है, जिसमें वक्र कविव्यापार हो, जिसमें बन्ध व्यवस्था हो और जो सुनने वाले के दिल को खुशी दे-

शब्दार्थसहितौवक्रकविव्यापारशालिनि, बन्धेव्यवस्थितौकाव्यंतद्विदाह्लादकारिणि(वक्रोक्ति जीवितम्, उन्मेष 1, कारिका-7) कुन्तक के अनुसार काव्य का आधार विशिष्ट अर्थात् रसात्मकता से युक्त, सहृदय को आह्लादित करनेवाला, कविकौशल से सम्पन्न शब्दार्थ है, जो काव्य-मर्मज्ञों को आह्लादित करता है।

कुन्तक के परवर्ती आचार्यों में आचार्य मम्मट का काव्यलक्षण सर्वाधिक लोकप्रिय रहा। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यलक्षणों में सामंजस्य स्थापित करते हुए अपनी काव्यपरिभाषा दी-

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि (काव्यप्रकाश, 1/4)

दोष से रहित, गुणों से युक्त और कहीं कहीं अलंकार सहित शब्दार्थ को काव्य कहते हैं। मम्मट की दृष्टि में काव्य शब्द और अर्थ की समष्टि है, दोषराहित्य और गुणयुक्तता वहाँ आवश्यक है, अलंकारों का प्रयोग अनिवार्य नहीं है, अलंकाराभाव से भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।

मम्मट के काव्यलक्षण को विस्तार से समझना जरूरी है। मम्मट ने काव्यलक्षण देते हुए शब्दार्थ की तीन विशेषताओं के विषय में बताया है- अदोषौ, सगुणौ तथा अनलंकृती पुनः क्वापि।

1. **अदोषौ** - मम्मट का कहना है कि दोषरहित शब्दार्थ काव्य हैं। मम्मट के इस कथन का परवर्ती आचार्यों-विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने विरोध किया है। विश्वनाथ ने अदोषौ पद की आलोचना की है। उनका कहना है कि संसार में कोई भी कार्य सर्वथा दोषरहित नहीं होता, काव्य भी कविकर्म है, उसमें भी कोई न कोई दोष अवश्य होता है, अतः दोष रहित शब्दार्थ को काव्य माना जाय तो ऐसी रचना असम्भव है, जिसमें दोष नहीं हो। यदि यह मान लिया जाय कि काव्य में जहाँ दोष है, उतने अंश को काव्य न मानकर शेष अंश को काव्य माना जाय, तो काव्यत्व और अकाव्यत्व की रस्साकशी में वह रचना ही महत्वहीन हो जाएगी। इसी तरह जैसे किसी रत्न में कीड़ा लग जाने पर भी रत्न तो रत्न ही रहता है, काव्य में दोष होने पर भी काव्य तो काव्य ही रहेगा, अतः काव्य के लक्षण में दोष का उल्लेख करना उचित नहीं है। इसके अलावा दोष काव्य के रस के अपकर्षक होते हैं, यदि वे रस के अपकर्षक नहीं हैं, तो उन्हें दोष भी नहीं कहा जा सकता। आचार्य बलदेव उपाध्याय का कहना है कि मम्मट का अदोषौ से आशय है कि काव्य में वे दोष नहीं होने चाहिए जो काव्यत्व की हानि करें। वे दोष जैसे श्रुतिकटुत्व, पुनरुक्ति, ग्राम्य आदि दोष दोष न रहकर गुण बन जाते हैं, दोष नहीं हैं। उदाहरणस्वरूप काव्य में किसी शब्द-वाक्यादि का बार बार प्रयोग अनुचित है लेकिन किसी भाव विशेष की व्यंजना के लिए अगर बार बार शब्द-वाक्यादि प्रयुक्त होते हैं तो वे दोष न होकर पुनरुक्तिप्रकाश गुण बन जाते हैं। रत्नाकर की गोपियाँ कृष्ण का संदेश जानने के लिए बार बार कहती हैं-हमको लिख्यो है कहा, हमको लिख्यो है कहा, हमको लिख्यो है कहा,

कहन सबै लगीं। यह पुनरुक्ति उनकी हृदयगत अवस्था की द्योतक होने के कारण दोष नहीं है, भावाभिव्यंजक है, शब्दार्थ का गुण है।

2. **सगुणौ-** मम्मट का कहना है माधुर्यादि गुणों से युक्त शब्दार्थ काव्य है। गुणों को मम्मट रस के अंगी धर्म मानते हैं। विश्वनाथ का कहना है कि गुण तो रस के धर्म होते हैं, शब्द और अर्थ के नहीं, अतः जहाँ रस होगा, वहाँ वे भी रहेंगे और जहाँ रस नहीं रहेगा, वहाँ गुणों की स्थिति सम्भव नहीं है, अतः सगुणौ के स्थान पर 'सरसौ' पद उपयुक्त होता। किन्तु मम्मट का यहाँ यह अभिप्राय है कि काव्य की भाषा विषयानुरूप होनी चाहिए। यदि जहाँ वीरता आदि के विषय में बताना हो, भाषा अोजगुणयुक्त होनी चाहिए, जहाँ उदगार आदि का चित्रण हो, वहाँ माधुर्य, जहाँ शान्त भाव हो, वहाँ प्रसाद गुण होना चाहिए। स्पष्ट है कि मम्मट गुणों को रस का धर्म मानते हैं (उन्होंने गुणों के लिए स्पष्टतः कहा है-ये रसस्यंगिनोधर्माः शौर्यादयः इवात्मनः,) और यह भी माना है कि 'गौणवृत्ति से गुण का सम्बन्ध शब्द और अर्थ के साथ भी स्थापित हो जाता है' (भारतीय आलोचनाशास्त्र, पृ. 23) अतः विश्वनाथ आदि की आपत्ति निरर्थक है।

3. **अनलंकृती पुनः क्वापि** - मम्मट का मानना है कि काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता नहीं होती। विश्वनाथ से पहले जयदेव ने अलंकारों की अनिवार्यता की बात करते हुए कहा था कि जो व्यक्ति काव्य को अलंकारों से रहित मानता है, उसे यह भी मानना पड़ेगा कि अग्नि भी उष्णता से रहित होती है (चन्द्रालोक, 1/12)। विश्वनाथ भी काव्यलक्षण में अनलंकृती पुनः क्वापि का समर्थन नहीं करते। दरअसल मम्मट के समय तक अलंकार 'काव्य की शोभा को बढ़ाने वाले उपादान के रूप में रूढ हो गए थे, जगकि भामह आदि अलंकारवादियों के समय में अलंकार काव्य के सौन्दर्य को निर्मित करने वाले उपादानों के रूप में अत्यन्त व्यापक अर्थ के द्योतक थे। अब अलंकार काव्यशरीर के भी अंग न होकर ऊपर से आरोपित किये जाने वाले उपादान कहे जाने लगे, अतः मम्मट ने अलंकारों की अनिवार्यता स्वीकार नहीं की।

मम्मट के शब्दार्थों शब्द पर पण्डितराज जगन्नाथ आपत्ति करते हुए यह मानते हैं कि काव्य शब्द को ही मानना चाहिए, शब्द और अर्थ दोनों को नहीं। पर यह आक्षेप आक्षेप मात्र है। यह तो स्वयं सिद्ध बात है कि काव्य शब्द और अर्थ दोनों में होता है। शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है और अर्थ तो शब्द के विना अस्तित्वरहित है।

कुल मिलाकर मम्मट का मत अनेक दृष्टियों से उपयुक्त है क्योंकि इसमें एक ओर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भामह आदि आचार्यों के मतों का समन्वय किया है और दूसरी ओर निर्दोषता, गुणयुक्तता, रसपूर्णता और अलंकारों की स्थिति का वर्णन करके काव्य की व्यवस्थित परिभाषा दी है। इसीलिए उनके अनेक परवर्तियों ने उनके ही मत का समर्थन किया है। यथा-

1. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम् - काव्यानुशासन, हेमचन्द्र,

2. शब्दार्थों निर्दोषी सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्- काव्यानुशासन, वाग्भट
3. शब्दार्थों वपुरस्य तत्र विबुधरात्माभ्यधायिध्वनिः- एकावली, विद्याधर
4. गुणालंकारसहितौ शब्दार्थों दोषवर्जितौ- प्रतापरुद्रीय, विद्यानाथ

मम्मट के उपरान्त आचार्य विश्वनाथ ने काव्यलक्षण प्रस्तुत किया-'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'- अर्थात् रसयुक्त वाक्य काव्य है। विश्वनाथ के अनुसार रस के अभाव में कोई रचना काव्य नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ का मानना है कि यदि विश्वनाथ का यह काव्यलक्षण स्वीकार किया जाता है तो काव्य के ऐसे स्थल जो सरस नहीं होते हैं या रस से सीधे सम्बद्ध नहीं होते हैं, जैसे प्रकृति वर्णन, उन्हें अकाव्य कहना पड़ेगा और काव्य का दायरा सीमित हो जाएगा। इस दृष्टि से विश्वनाथ का काव्यलक्षण अव्याप्ति दोष से युक्त हो जाता है, यद्यपि वे जिस रसात्मकता की बात करते हैं, वह तो काव्य का अनिवार्य तत्व है लेकिन यह भी ध्यान देना होगा कि रस में काव्य के सभी तत्व गतार्थ नहीं होते अतः यह परिभाषा भी निर्दुष्ट नहीं है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्यलक्षण दिया-'रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'- रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। यहाँ रमणीय शब्द सौन्दर्य, इष्टार्थ, लोकोत्तरता, रसनीयता सभी आ जाता है और इस दृष्टि से पण्डितराज का काव्यलक्षण काफी व्यापक है किन्तु जगन्नाथ केवल शब्द में ही काव्यत्व मानते हैं, अर्थ में नहीं, जबकि यह बात तो स्वतः और सर्वस्वीकृत है कि शब्द और अर्थ में अभिन्न सम्बन्ध है, शब्द के बिना अर्थ अस्त्विहीन है और अर्थ के बिना शब्द शव के समान है।

संस्कृत के आचार्यों द्वारा दिये गए काव्यलक्षणों पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि काव्यलक्षण विषयक तीन वर्ग आचार्यों के हैं। एक वर्ग काव्यलक्षण देते हुए शब्दार्थ पर बल देता है। भामह, वामन, रुद्रट, भोजराज, मम्मट, हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, विद्यानाथ आदि आचार्य इसी वर्ग में आते हैं। दूसरा वर्ग शब्दार्थ को नहीं, केवल शब्द को काव्य मानता है। दण्डी, जयदेव, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि इस वर्ग के आचार्य हैं। एक तीसरा वर्ग उन आचार्यों का है जो काव्य को व्यापार प्रधान मानता है। आचार्य कुन्तक, भट्ट नायक, आनन्दवर्धन आदि इस वर्ग के आचार्य हैं। भट्टनायक रस का विवेचन करते हुए भावनव्यापार की तथा आनन्दवर्धन ध्वनि का वर्णन करते हुए ध्वनन व्यापार की चर्चा करते हैं। इन काव्यलक्षणों में काव्य का कोई न कोई पक्ष छूटा है, इसीलिए परवर्ती काल में पुनः पुनः काव्य का स्वरूप निर्धारित करने की चेष्टा की जाती रही है। आप इस अंश को पढ़कर हमारे संस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा से परिचित हुए होंगे और काव्य के विषय में विविध विचारों से भी आप अच्छी तरह परिचित हुए होंगे। अब हम इसी ऐतिहासिक परम्परा का निर्वाह करते हुए हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों के विषय में जानेंगे। इससे पूर्व आप अपनी स्मृति को इस अभ्यास प्रश्न के द्वारा परखिए-

(ख) बोध प्रश्न

1. काव्य के विषय में मम्मट के विचार कुछ पंक्तियों में दीजिए।
2. वाक्यं रसात्मकं वाक्यम् और रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् की व्याख्या कीजिए।

रिक्त स्थान भरिए-

1. भरतमुनि ने काव्यलक्षण विधा. को दृष्टि में रखकर दिया है।
2. संस्कृत के कुछ आचार्य काव्यलक्षण देते हुए शब्दार्थ को महत्व देते हैं, कुछको और कुछ.....को।
3. काव्य का एक उपयुक्त लक्षण बताइए।

सत्य असत्य बताइए-

1. विश्वनाथ ने मम्मट के काव्यलक्षण का खण्डन किया है। (सत्य)/ (असत्य)
2. पण्डितराज के काव्यलक्षण में काव्य के सभी तत्वों का उल्लेख किया गया है। (सत्य)/ (असत्य)

1.4.2 काव्य विषयक रीतिकालीन आचार्यों की दृष्टि

हिन्दी साहित्य में काव्यशास्त्रीय चिन्तन का आरम्भ रीतिकाल से होता है। रीतिकाल में काव्य के स्वरूप पर बहुत प्रकाश डाला गया है लेकिन मौलिकता का वहाँ सर्वथा अभाव है। रीतिकालीन आचार्यों ने प्रायः संस्कृत के आचार्यों विशेषतः मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ के काव्यलक्षणों का भाषानुवाद किया है। रीतिकाल के प्रारम्भिक आचार्य चिन्तामणि लिखते हैं-

सगुण अलंकारन सहित, दोष रहित जो होइ।

शब्द अर्थ वारौं कवित, विवुध कहत सब कोइ॥ (कविकुलकल्पतरु, 1/6)

दोषरहित, गुण और अलंकारों से पूर्ण शब्दार्थ को काव्य कहते हैं। कुलपतिमिश्र लोकोत्तर चमत्कार को काव्य कहते हैं-

'जगते अद्भुत सुखसदन शब्दरु अर्थ कवित्ता।

यह लक्षण मैंने कियो समुझि गन्थ बहु चित्ता॥ (रसरहस्य, 1/20)।

श्रीपति रस और अलंकार दोनों को काव्य का अपरिहार्य तत्व मानते हैं-

शब्द अर्थ बिन दोष गुण अलंकार रसवाना

ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजाना॥(काव्यसरोज, 1)

भिखारीदास ने स्पष्टरूप से काव्य की परिभाषा नहीं दी है लेकिन काव्य-पुरुष की कल्पना करते हुए काव्यविषयक अपना अभिमत भी पस्तुत कर दिया है। उनका मानना है कि रस कविता का अंग है, अलंकार आभूषण, गुण काव्यसौन्दर्य के अभिव्यंजक हैं और काव्य को कुरूप बनाने वाले दोष हैं-

रस कविता को अंग, भूषण हैं भूषण सदा।

गुण सरूप और रंग, दूषण करें कुरूपता ॥- काव्यनिर्णय, 1/13

इन काव्यलक्षणों का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि ये संस्कृत के आचार्यों के मतों का ही पिष्टपेषण मात्र हैं और इनमें मौलिकता नहीं है। अतः इनका विस्तार से विवेचन अपेक्षित नहीं है।

(ग) बोध प्रश्न

निम्नलिखित बहुविकल्पी प्रश्नों में सही विकल्प चुनिए-

1. काव्यसरोज के रचनाकार हैं-

(क)कुलपति (ख)श्रीपति (ग)भिखारीदास (घ) चिन्तामणि

2. किसके काव्यलक्षण में काव्यपुरुष की परिकल्पना की गई है-

(क) भिखारीदास (ख)श्रीपति (ग)कुलपति (घ) चिन्तामणि

1.4.3 काव्य विषयक पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि

भारतीय काव्यशास्त्र की ही तरह पश्चिम में भी काव्य विषयक चिन्तन की सुदीर्घ परम्परा है। प्लेटो से लेकर आज तक पश्चिम के विचारकों ने भी काव्यलक्षण स्थापित करने के निरन्तर प्रयास किये हैं। अरस्तू की स्थापना है-'Poetry is an art. Art is imitation of nature. Epic poetry, tragedy and comedy in most of their forms are, all, in their conception, modes of imitation.....There is another art which imitates by means of language alone, and that either in prose and worse'- (हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली) अर्थात् काव्य एक कला है। कला प्रकृति का अनुकरण है। महाकाव्य, त्रासदी और कामदी- सभी अपने आप में अनुकरण के विचारात्मक तरीके हैं।..... केवल भाषा के माध्यम से अनुकृत की जाने वाली एक और कला है, जो गद्य और पद्य के रूप में पाई जाती है। अरस्तू के इस कथन की व्याख्या करने पर

हम पाते हैं कि उन्होंने काव्य को प्रकृति का अनुकरण करनेवाली कला माना है। इसी तरह सर फिलिप सिडनी भी काव्यरचना को अनुकरण की कला मानते हैं। आप पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का अध्ययन करते हुए पाएंगे कि पाश्चात्य परम्परा काव्य को अनुकरणमूलक मानती है। अरस्तू के गुरु, पाश्चात्यकाव्यशास्त्र के आद्याचार्य प्लेटो भी काव्य को अनुकरण का अनुकरण मानते हैं। पर अगर आप ध्यान से देखें तो आपको यह बात स्पष्टतः समझ में आ जाएगी कि काव्य प्रकृति की हू-ब-हू नकल नहीं है अपितु एक रचना है। अरस्तू भी काव्य को पुनर्रचना मानते हैं। भारतीय काव्यशास्त्रीय दृष्टि भी यह बात स्वीकार करती है कि काव्य में लोक का अनुकरण किया जाता है। भरतमुनि नाट्यशास्त्र में यह मानते हैं कि नाट्य में लोकवृत्तानुकरण किया जाता है। अनुकरण की चर्चा नाट्यचर्चा के साथ अर्थात् दृश्यकाव्य के लिए तो की गई है, लेकिन श्रव्यादि काव्यों के कवि की सर्जना करता है। कहने का अभिप्राय यह है भारतीय साहित्यशास्त्र में काव्य को निर्मिति- यानी प्रयत्नपूर्वक की गई रचना भी कहा जाता है और यह भी माना जाता है कि काव्य कवि की ठीक वैसे ही सृष्टि है, जैसे विधाता की सृष्टि। इसी तरह अरस्तू, पश्चिम के नव्यशास्त्रवादी समीक्षक आदि काव्य को एक निश्चित उद्देश्य से युक्त निर्मिति मानते हैं, दूसरी ओर पश्चिम के रोमांटिक कवि, युंग आदि मनोविश्लेषक यह मानते हैं कि कृति रचनाकार के अचेतन से स्वतः प्रस्फुटित होती है, जैसे प्रकृति के गर्भ से पौधा खुद-ब-खुद उगता है। कवि कीट्स आदर्श काव्य उसी को मानते हैं जो कवि के मन में उसी प्रकार उगे, जैसे व्रक्ष में कोंपलें उगती हैं। वर्ड्सवर्थ के विचार में 'काव्य प्रबल अनुभूतियों का स्वाभाविक उच्छलन है, जो शान्ति के क्षणों में स्मृति का विषय बने हुए मनःसंवेगों से फूट निकलता है-'Poetry is spontaneous overflow of powerful feelings; it takes its origin from emotions recollected in tranquillity' - (भारतीय काव्यशास्त्र मीमांसा)

डॉ जॉनसन कविता को ऐसी कला मानते हैं जो कल्पना की सहायता से युक्ति के द्वारा सत्य को आनन्द से समन्वित करती है-'poetry is an art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reasons'(हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली,) जॉनसन का यह अभिमत भारतीय चिन्तन के करीब है। वस्तुतः सम्यक् कल्पना काव्य को सत्य और आनन्द से सम्पन्न बना देती है। पर इस परिभाषा में भाषा पर विचार नहीं किया गया है। इसी तरह कॉलरिज सर्वोत्तम शब्दों के सर्वोत्तम क्रमविधान 'Best words in the best order'(हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली) को कविता कहते हैं और उन्होंने काव्यात्मा पर विचार नहीं किया है। इसी तरह मैथ्यू आर्नल्ड कविता को जीवन की आलोचना कहते हैं, शैली कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति कहकर यह मानते हैं कि वह अत्यन्त प्रसन्न और सर्वोत्तम मस्तिष्क के सर्वोत्तम और सर्वाधिक सुखपूर्ण क्षणों का लेखाजोखा है। चैम्बर्स शब्दकोश में कल्पना और अनुभूति से उत्पन्न विचारों को मधुर शब्दों में अभिव्यक्त करने की कला को कविता कहा गया है- Poetry is an art of expressing in melodious words] thoughts which are the creation of imagination and feelings (हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली)।

पश्चिम की इन परिभाषाओं द्वारा काव्य को समझने-समझाने के अनेक प्रयास हुए किन्तु काव्य को इन लक्षणों के द्वारा पूरी तरह से रूपांकित नहीं किया जा सकता है। फिर भी इन परिभाषाओं को समग्रतः देखने पर आप काव्य का एक सर्वमान्य खाका तो खींच ही सकते हैं। सर्वप्रथम यह बात तो सामान्यतः सबको स्वीकार्य है कि काव्य में शब्द और अर्थ आवश्यक तत्व हैं। कल्पना कवि को अपने काव्यसंसार में ऊँची उड़ान भरने का अवसर देती है, संवेदना रस की दृष्टि करती है और वैचारिकता संवेदना, कल्पना को समुचित रूप से संगठित करके भाषा रूपी उपकरणों से अभिव्यक्त कर देती है। इस तरह शब्द, अर्थ, कल्पना, भाव और विचार -ये काव्य के आवश्यक तत्व माने जा सकते हैं।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों ने काव्य के स्वरूप के विषय में विचार किया है, हम इस विषय में आगे चर्चा करेंगे, उससे पूर्व आप प्रस्तुत अभ्यास द्वारा अपनी स्मृति को परखें-

(घ) बोध प्रश्न

1. काव्य को आप अनुकरण मानेंगे अथवा सृजन ?

2. काव्य में कल्पना का क्या योगदान है ?

सत्य/ असत्य बताइए-

3. पश्चिम के पहले समीक्षक अरस्तू हैं- (सत्य / असत्य)

4. सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम क्रमविधान कविता है- यह विचार कॉलरिज का है (सत्य / असत्य)

5. निम्नलिखित में से किस समीक्षक ने रचना को पुनर्रचना कहा है-

(क) प्लेटो (ख) अरस्तू (ग) कॉलरिज (घ) जॉनसन

6. कविता को प्रबल अनुभूतियों का सहज उच्छलन मानते हैं-

(क) कीट्स (ख) अरस्तू (ग) कॉलरिज (घ) वर्ड्सवर्थ

1.4.4 काव्य विषयक आधुनिक हिन्दी आचार्यों की दृष्टि

आपने संस्कृत, रीतिकाल तथा पश्चिम के विचारकों की दृष्टि से काव्य स्वरूप के विषय में जाना। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आधुनिक काल में गद्यविधाओं का सर्वतोमुखी विकास होने के साथ साथ साहित्यविषयक गम्भीर चिन्तन भी आरम्भ हुआ और अब साहित्य विषयक सिद्धान्तों को नई दृष्टि से परखा गया। हिन्दी के साहित्यचिन्तकों के सामने भारतीय काव्यशास्त्र की

एक सुदीर्घ परम्परा थी और पश्चिम की भी। यह बड़ी स्वाभाविक बात है कि इस परम्परा का प्रभाव आधुनिक काल के चिन्तकों पर पडा और हिन्दीगद्य के आरम्भिक आचार्यों के काव्यविषयक अभिमत संस्कृत के आचार्यों के मतों से प्रभावित रहा। कुछ परिभाषाओं का उल्लेख करते हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी रचना 'रसज्ञरंजन' में काव्य की परिभाषा इस रूप में दी - 'कविता प्रभावशाली रचना है, जो पाठक या श्रोता के मन पर आनन्ददायी प्रभाव डालती है।... मनोभाव कल्पना का रूप धारण करते हैं, वही कविता है, चाहे वह पद्यात्मक हो चाहे गद्यात्मक .. अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है'(रसज्ञरंजन)। द्विवेदी जी की दृष्टि में काव्य आनन्दात्मक है। पर इस आनन्द के सम्पादनकारी अवयवों का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है, दूसरे चित्त का प्रत्येक मनोभाव कवित नहीं हो सकता अतः यह परिभाषा उपयुक्त नहीं है। इस परिभाषा पर विश्वनाथ का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी मानवीय अनुभूति, कल्पना और सुनदरता के समन्वित रूप को काव्य कहते हैं-'.. काव्य तो प्रकृत मानव-अनुभूतियों का नैसर्गिककल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है, जो मनुष्यमात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है (हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली) । यह कथन काव्यनिर्माण प्रक्रिया और उसके भावात्मक प्रभाव पर प्रकाश डालती है, पर यहाँ काव्यभाषा का उल्लेख नहीं है।

श्यामसुन्दरदास काव्य को 'हृदय में अलौकिक चमत्कार की सृष्टि करने वाला'; गुलाबराय रसप्रधान साहित्य को काव्य तथा जयशंकर प्रसाद आत्मा की अनुभूति को कविता कहते हैं। महादेवी वर्मा की नजर में : 'कविता कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण है; और यह चित्रण इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनाएं किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत होती हैं। आप ध्यान से इन परिभाषाओं को परखेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि इन परिभाषाओं को आप काव्य की निर्दुष्ट परिभाषा नहीं मान सकते क्योंकि इनमें भी काव्यभाषा की चर्चा नहीं है।

काव्यविषयक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परिभाषा प्रामाणिक है, सार्थक है; उन्होंने काव्य को सम्पूर्णतः पारिभाषित करने का प्रयास किया है-'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं (रसमीमांसा, कविता क्या है)। शुक्ल जी यहाँ रस दशा को ज्ञानदशा के समकक्ष मानकर काव्य की अलौकिकता सिद्ध करते हैं, इस रसदशा तक पहुँचाने वाली कवि की विशिष्ट वाणी की चर्चा करते हैं। उन्होंने काव्य के भाव और कला दोनों पक्षों का उल्लेख यहाँ कर दिया है। काव्य के अन्यान्य लक्षण भी हैं, विषय विस्तार के भय से अब हम उनके विषय में विचार नहीं कर रहे हैं।

कुल मिलाकर काव्य के विषय में अनन्त अभिमत हैं, फिर भी काव्य की कोई सर्वांगपूर्ण परिभाषा नहीं दी जा सकती है, किन्तु काव्य के विषय में हम एक निश्चित अवधारणा कर सकते हैं कि काव्य शब्दार्थ का साहित्य है। ये शब्दार्थ लोकसामान्य शब्दार्थों से भिन्न हैं, इनमें सहृदय को

अपनी ओर आकर्षित करने की पूरी क्षमता है, कवि का यह अलौकिक व्यापार है जिसके द्वारा वह अनेकानेक विषयों को अत्यन्त प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त करता है।

1.5 सारांश

इस पूरी इकाई के माध्यम से हमने काव्य के विषय में पूरी भारतीय एवं पाश्चात्य परम्परा का अवलोकन किया है और अब तक प्राप्त काव्यलक्षणों का विश्लेषण करने पर पाया है कि आरम्भिक काल से लेकर अब तक काव्य की ऐसी कोई भी परिभाषा हमें नहीं मिलती, जिससे काव्य को पूरी तरह से पारिभाषित किया जा सके। इस सन्दर्भ में हमें यह ध्यान रखना होगा कि काव्य को सम्पूर्णतः परिभाषा के दायरे में बाँधना सम्भव भी नहीं है क्योंकि उसमें नित नूतन नूतन विषयादि का समावेश होता रहता है। इसलिए काव्य को 'नूतन नूतन पदे पदे' कह सकते हैं।

1.7 शब्दावली

नवनवोन्मेषशाली - कवि में ऐसी प्रतिभा होती है जिससे वह प्रत्येक विषय को अपने मौलिक विचारों से नया नया रूप देता रहता है। इसीके परिणाम स्वरूप उसके वर्णन में हर बार कुछ नया होता है। तभी हम काव्य के लिए कहते हैं- लागे नित नयो नयो। इस प्रतिभा को ही कवि की प्रज्ञा या नवनवोन्मेषशाली प्रतिभा कहा जाता है।

लोकोत्तर वर्णन निपुणता- प्रतिभा सम्पन्न कवि अपनी कल्पना से ऐसे विषयों का वर्णन करता है, जो अलौकिक रस की अनुभूति कराते हैं। संसार में प्रत्येक संवेदनशील प्राणी हर विषय, वस्तु को देखकर उसके विषय में कुछ महसूस करता है, पर कवि में ही वह नैपुण्य होता है, जो उस विषय या वस्तु का चमत्कारिक वर्णन करने में समर्थ होता है।

भावन व्यापार- भावन से अभिप्राय है अनुभूति से। किसी रचना को पढते समय हम जो महसूस करते हैं, वह भावन व्यापार है।

ध्वनन व्यापार - ध्वनिसिद्धान्त में इस शब्द का प्रायः प्रयोग किया जाता है। इसे व्यंजना व्यापार भी कहते हैं। आचार्यों का अभिमत है कि काव्य में प्रयुक्त याब्द और अर्थ अपना सामान्य अर्थ छोड़कर विशिष्ट बन जाते हैं, ये विशिष्ट शब्दार्थ ऐसे अर्थ का द्योतन करते हैं, जो सहृदय के हृदय को अपनी ओर अनायास ही आकर्षित कर लेते हैं, यह द्योतन ही ध्वनन या व्यंजन व्यापार है।

विबुधा-जानकार, विद्वान्

पिष्टपेषण - दोहराव

अन्योन्याश्रित - एक दूसरे पर आश्रित, एक दूसरे से जुड़े

लोकवृत्तानुकरण : लोक में प्रचलित वृत्तः अर्थात् लोक से जुड़े विविध विषयों का अनुकरण

सर्वतोमुखी-सब प्रकार से।

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(क) बोध प्रश्नों के उत्तर

1. काव्य और साहित्य के विषय में अपने विचार कुछ पंक्तियों में दीजिए।

काव्य वाणी का सर्वोत्तम व्यापार है और कवि की सर्वोत्कृष्ट कृति है। व्यापक अर्थ में कवि शब्द का प्रयोग साहित्यकार के लिए और काव्य का प्रयोग साहित्य के लिए होता है। भारतीय काव्यशास्त्र में प्रायः साहित्य के लिए काव्य शब्द का ही व्यवहार हुआ है। बाद में साहित्य व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और काव्य पद्यबद्ध रचना के लिए

2. काव्य में शब्द और अर्थ का महत्त्व बताइए।

शब्द और अर्थ काव्य के अपरिहार्य अवयव हैं। यदि भाषा नहीं होती तो काव्यरचना सम्भव ही नहीं होती। हमारे मनीषियों ने बार बार इसीलिए वाणी की वन्दना की है। शब्द और अर्थ दोनों के योग से काव्य का स्वरूप संगठित होता है।

रिक्त स्थान भरिए-

1. नाट्यशास्त्र

2. है, क्योंकि वह अमूर्त

सत्य असत्य बताइए-

1. (सत्य)

2. (असत्य)

(ख) अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर

1. काव्य के विषय में मम्मट के विचार कुछ पंक्तियों में दीजिए।

आचार्य मम्मट ने अपनी रचना काव्यपकाश में काव्य का लक्षण दिया है कि वे शब्दार्थ जो दोषरहित हों, गुणयुक्त हों और कहीं कहीं अलंकारों के प्रयोग से युक्त हों काव्य हैं। अदोषी से उनका अभिप्राय है कि काव्य ऐसे दोषों से रहित होना चाहिए जो काव्यत्व को हानि पहुँचाते हैं। सगुणौ का अर्थ है कि काव्य में सदैव विशय के अनुरूप भाषा का प्रयोग होना चाहिए, तभी रस की अनुभूति हो

सकती है और अलंकारों के विषय में उनका मानना है कि अलंकार काव्य के लिए अपरिहार्य नहीं हैं। यदि अलंकारों के प्रयोग से रस भंग नहीं होता तो उनका प्रयोग ठीक है, यदि अलंकार चमत्कार प्रदर्शन मात्र के लिए प्रयुक्त हुए हों, तो काव्यत्व को हानि पहुँचाते हैं, अतः अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य नहीं हैं।

2. वाक्यं रसात्मकं वाक्यम् और रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् की व्याख्या कीजिए।

आचार्य विश्वनाथ रसात्मक वाक्य को काव्य की संज्ञा देते हैं। उनका मानना है कि जो भी वाक्य रस उत्पन्न करता है, वह काव्य की श्रेणी में आ जाता है। पण्डितराज जगन्नाथ का मानना है कि यदि विश्वनाथ का यह काव्यलक्षण स्वीकार किया जाता है तो काव्य के ऐसे स्थल जो सरस नहीं होते हैं या रस से सीधे सम्बद्ध नहीं होते हैं, जैसे प्रकृति वर्णन, उन्हें अकाव्य कहना पड़ेगा और काव्य का दायरा सीमित हो जाएगा। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्यलक्षण दिया- रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'- रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। यहाँ रमणीय शब्द सौन्दर्य, इष्टार्थ, लोकोत्तरता, रसनीयता सभी आ जाता है और इस दृष्टि से पण्डितराज का काव्यलक्षण काफी व्यापक है किन्तु जगन्नाथ केवल शब्द में ही काव्यत्व मानते हैं, अर्थ में नहीं, जबकि यह बात तो स्वतः और सर्वस्वीकृत है कि शब्द और अर्थ में अभिन्न सम्बन्ध है, शब्द के बिना अर्थ अस्त्विहीन है और अर्थ के बिना शब्द शव के समान है।

रिक्त स्थान भरिए-

1. नाट्य
2. को और कुछ...व्यंजन, ध्वनन, भावन व्यापार
3. काव्य का एक उपयुक्त लक्षण बताइए।

काव्य उस शब्दार्थ को कहते हैं, जिसमें मनःप्रसादन की क्षमता हो, विविध विषयों का समावेश हो और जो लोकोत्तर आनंद की प्राप्ति कराए।

सत्य असत्य बताइए-

1. (सत्य)
2. (असत्य)

(ग) बोध प्रश्न

निम्नलिखित बहुविकल्पी प्रश्नों में सही विकल्प चुनिए-

1. (ख) श्रीपति

2.(क) भिखारीदास

(घ) बोध प्रश्न

1. काव्य को आप अनुकरण मानेंगे अथवा सृजन ?

पश्चिम में काव्य को अनुकरण कहा गया है। भारतीय चिन्तन में दृश्यकाव्य के सन्दर्भ में अनुकरण की बात की गई है श्रव्य में नहीं। भारतीय मनीषा तो काव्य को कवि की सृष्टि मानती है। लेकिन यह भी स्वीकार्य है कि काव्य की विषयवस्तु लोक की ही विषयवस्तु होती है। भरतमुनि का कहना है कि ऐसी कोई विद्या नहीं है, ऐसी कोई कला नहीं है, ऐसा कोई शिल्प नहीं है, ऐसा कोई शास्त्र नहीं है, अर्थात् ऐसी कोई विषय नहीं है, जिसे काव्य में प्रयुक्त न किया जाता हो। इस दृष्टि से काव्य को अनुकरण कह सकते हैं और लोक का अनुकरण करके कवि अपनी कल्पना से अपने विचारों को जब रूपाकार देता है, तो वह उसकी सृष्टि ही कही जाएगी।

2. काव्य में कल्पना का क्या योगदान है ?

कल्पना काव्य में सौन्दर्य का आधान करती है। कल्पना ही वह तत्त्व है जो काव्य के यथार्थ को आभिव्यक्तिक सौन्दर्य से सम्पन्न करता है, उसके आदर्श रूप को प्रस्तुत करता है।

सत्य/ असत्य बताइए-

3. (असत्य)

4. (सत्य)

5. (ख) अस्तू

6. (घ) वर्ड्सवर्थ

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, तृतीय और चतुर्थ उद्योत, व्याख्याकार डॉ. रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1981
- मम्मट, काव्यप्रकाश, व्याख्याकार डॉ. सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, चौक, बनारस-1, संस्करण-1955
- अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009
- गुप्त, राकेश एवं चतुर्वेदी, ऋषिकुमार, साहित्यानुशीलन, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1972

- सहाय, राजवंश हीरा, भारतीय-आलोचना-शास्त्र , बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2003
- दीक्षित, हरिनारायण एवं टण्डन किरण, भारतीयकाव्यशास्त्रमीमांसा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-7, प्रथम सं; 1995

1.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भरतमुनि , नाट्यशास्त्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
2. भामह, काव्यालंकार, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
3. भिखारीदास, काव्यनिर्णय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
4. मम्मट , काव्यप्रकाश, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. काव्य क्या है विषय पर एक निबन्ध लिखिए। काव्य और साहित्य के विषय में बताइए।
2. लक्षण का अर्थ स्पष्ट करते हुए काव्यलक्षण के ऐतिहासिक विकास के विषय में बताइए .
3. मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ की काव्यविषयक मान्यताओं की समीक्षा कीजिए
4. हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों की दृष्टि से काव्य के स्वरूप के विषय में बताइए।

इकाई 2 काव्य की प्रेरणा एवं काव्य और हेतु

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 काव्य के हेतु तथा काव्य की प्रेरणा से अभिप्राय
- 2.4 काव्य के हेतु विषयक भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा
 - 2.4.1 प्रतिभा
 - 2.4.2 व्युत्पत्ति
 - 2.4.3 अभ्यास
- 2.5 काव्य प्रेरणा के विषय में आचार्यों की दृष्टि
 - 2.5.1 काव्य प्रेरणा विषयक भारतीय दृष्टि
 - 2.5.2 काव्य प्रेरणा विषयक पाश्चात्य दृष्टि
- 2.6 हिन्दी काव्यशास्त्र में काव्य प्रेरणा और काव्यहेतु
- 2.7 सारांश
- 2.8 शब्दावली
- 2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 2.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.12 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अंतर्गत सम्मिलित है। इस इकाई के माध्यम से आप यह समझ सकते हैं कि साहित्य कैसे लिखा जाता है। साहित्य की निर्मिति कैसे होती है। साहित्य लिखने की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त होती है।

किसी घड़े का निर्माण जैसे मिट्टी से होता है, वस्त्र बनाने के लिए कपास कारण होता है, इसी तरह काव्य जिसे हम कवि का कर्म कहते हैं, उसके निर्माण के लिए भी कोई न कोई कारण होता है, इस कारण को ही साहित्यशास्त्र की शब्दावली में काव्यहेतु कहा जाता है। मिट्टी है, पानी है, चाक है लेकिन कुम्हार का मन घड़े का निर्माण करने के लिए तत्पर नहीं है, तो क्या घड़ा बन जाएगा ? नहीं। इसी तरह कवि में प्रतिभा है, उसे विविध विषयों का ज्ञान है, उसने काव्यलेखन का निरन्तर अभ्यास भी किया है, किन्तु उसका मन नहीं है तो क्या वह काव्य लिखेगा? नहीं। काव्यलेखन की प्रेरणा मिलने पर ही वह रचना लिखेगा। अतः काव्य प्रेरणा भी काव्यलेखन का कारण है। प्रस्तुत इकाई द्वारा काव्य की प्रेरणा तथा काव्य के हेतु के विषय में हम विचार करेंगे।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे कि काव्य की रचना की प्रेरणा क्या है तथा काव्य के वे कौन से कारण हैं, जो काव्यसृजन करने में कवि के लिए आवश्यक होते हैं। काव्य की प्रेरणा तथा हेतुओं के विषय में भारतीय और पाश्चात्य परम्परा से परिचित हो सकेंगे।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप...

बता सकेंगे कि साहित्यकार में ऐसी क्या विशेषता है, जिसकी सहायता से वह काव्यरचना करने में समर्थ होता है।

काव्यहेतु तथा काव्यप्रेरणा के विषय में भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन से परिचित हो सकेंगे।

समझ सकेंगे कि साहित्यसर्जना के लिए कवि को प्रेरणा कहाँ से मिलती है।

2.3 काव्य हेतु तथा काव्य की प्रेरणा से अभिप्राय

आश्चर्य होता है यह सोचकर कि कवि के पास वो कौन सा जादू है, जिसके बल पर वह किसी भी विषय को बड़े आकर्षक रूप में अभिव्यक्त कर देता है, जबकि वही रोज की परिचित भाषा होती है, वे ही प्राकृतिक दृश्य होते हैं, वही उषा की लालिमा, शाम का झुटपुटा, कलियों का

खिलना, पक्षियों का चहचहाना, पर कवि के चयनित शब्दों में वो सामर्थ्य न जाने कहाँ से आती है कि हर बार कवि नये रूप में अपनी बात कह देता है। आपने प्रायः सुना होगा कि रामकथा बहुत छोटी है

- एक राम एक रावन्ना, एक क्षत्रिय एक वामन्ना।

वाने वाकी नार हरी, वाने वाके प्राण हरे, तुलसी लिख गए पोथन्ना।

लेकिन इस छोटी सी कथा को वाल्मीकि से लेकर आज तक अनेक रचनाकारों ने अपनी अभिव्यक्ति का विषय बनाया है। अभिव्यक्ति का विषय ही नहीं बनाया है अपितु हर बार बिल्कुल नये रूप में प्रस्तुत किया है। रचनाकार की मौलिक सूझबूझ से एक ही विषय पुनर्नवता को प्राप्त होकर सहृदय को प्रभावित करता है। और हर बार वही पुराना विषय नया लगने लगता है। आचार्यों का मानना है कि कवि की प्रतिभा काव्यरचना के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण है, जिसके बल पर कवि काव्यरचना में समर्थ होता है। प्रतिभा के साथ-साथ व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को भी काव्यहेतु के रूप में स्वीकार किया जाता है। कवि में प्रतिभा है, विविध विषयों का उसे ज्ञान है और उसने बार-बार अभ्यास से अपनी रचनाओं को परिमार्जित भी कर लिया है, लेकिन उसके अन्तर्मन में काव्य रचने के लिए रुचि नहीं है, तो भी काव्यरचना सम्भव नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि काव्य रचने की प्रेरणा के बिना काव्य नहीं रचा जा सकता। कवि की चेतना जब किसी घटना, किसी परिस्थिति, किसी व्यक्ति, किसी गुण या किसी विचार से व्याप्त हो जाती है, तब साहित्य का जन्म होता है। इस सन्दर्भ में आदिकवि वाल्मीकि की काव्यरचना में प्रवृत्त होने की कथा का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। कहते हैं कि आदि कवि वाल्मीकि ने एक दिन नारद से पूछा कि आजकल इस लोक में सौन्दर्य सम्पन्न और वीर, परोपकारी, पराक्रमी, सदाचारी, सत्यनिष्ठ, सत्यवादी कौन है, जिसके संग्राम में कुपित होने पर देवता भी भयभीत हो जाते हैं। नारद ने उन्हें इस विषय में इक्ष्वाकुवंशी राम के सन्दर्भ में बताया। इसके उपरान्त वाल्मीकि अपने शिष्यों के साथ तमसा नदी के तट पर स्नान करने गए। रास्ते में उन्होंने क्रौंच पक्षियों के युगल को विहार करते हुए देखा। उसी समय एक बहेलिए ने क्रौंच को मार दिया और वाल्मीकि ने देखा कि उसके वियोग में क्रौंची ने करुण स्वर से आर्तनाद किया। मुनि की चेतना क्रौंची के शोक से शोकाकुल हो गई और उनके मुँह से यह श्लोक निकल गया- हे निषाद! तुमने काममोहित क्रौंचमिथुन में से एक का वध कर दिया है, तुम वर्षों तक प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होओगे-

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वंगमः शाश्वतीक्षमः, यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीकाम मोहितः।

तमसा मे स्नान करते हुए, वहाँ से लौटते हुए, आश्रम में उठते बैठते मुनि की चेतना में क्रौंची का आतर्नाद निरन्तर गूँजता रहा, साथ ही उनके मन में यह विचार भी आया कि क्रौंची के शोक से उनका अपना मन इतना व्यथित हो गया है कि उस व्यथा को व्यक्त करना उनके लिए अपरिहार्य हो गया है। और इसके लिए उनके हृदय से अनायास रोज की परिचित बोली से अलग वाणी प्रस्फुटित हो गई। यह अलग वाणी 'श्लोक' के रूप में प्रस्फुटित हुई और मुनि ने अपने शिष्य से कहा कि '

शोक में प्रवृत्त मेरे हृदय से जो वाणी प्रस्फुटित हुई, वह श्लोक ही है-'शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा'। इसी तरह महाकवि कालिदास, तुलसीदास अपनी पत्नियों से प्रताडित होने पर साहित्यरचना के लिए प्रेरित हुए।

स्पष्ट है कि काव्यरचना की प्रेरणा में संवेग और बोद्धिक चिन्तन का महत्वपूर्ण योगदान है। कोई घटना, कोई परिस्थिति, कोई विचार, कोई व्यक्ति या कोई गुण जब कवि की चेतना में इतनी व्याप्त हो जाती है कि वह उस घटना आदि से तदाकार अनुभूति करता है, तब साहित्य की सर्जना हो जाती है। यह तदाकार अनुभूति केवल रचनाकार को ही नहीं होती अपितु किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को होती है, हाँ रचनाकार की प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास उसकी इस अनुभूति को अनायास व्यक्त करने की सामर्थ्य से सम्पन्न बना देते हैं।

काव्यसृजन की प्रेरणा में जीवन की घटनाओं का महत्व बहुत अधिक है। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त का कहना है-'घटना के अभाव में अनुभूति का उद्रेक नहीं होता और बिना अनुभूति के उद्रेक के घटना प्रभावशून्य सिद्ध होती है अतः दोनों का ही महत्त्व है। जीवन में घटनाएं तो बहुत होती हैं, किन्तु वे सभी ऐसी अनुभूति प्रदान नहीं करतीं कि जिससे काव्य रचना की प्रेरणा मिले। अतः इन दोनों में समन्वय स्थापित करते हुए कहा जा सकता है कि मार्मिक घटनाओं की अनुभूति काव्यरचना की प्रेरणा प्रदान करती है।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, एम ए एच डी-04, काव्यशास्त्र व समालोचना, पृ. 38 से उद्धृत

आपने अक्सर महसूस किया होगा कि किसी घटना को देखकर, सुनकर हमारे मन में विभिन्न विचार आते हैं और हम उन विचारों को बॉटना भी चाहते हैं, बस वह घटना हमें कुछ रचने के लिए प्रेरित करती है और हमारी अभिव्यक्ति की क्षमता और योग्यता उसके सन्दर्भ में हमें कुछ रचने के लिए समर्थ बनाती है। काव्यशास्त्र की शब्दावली में घटना का प्रभाव काव्य-प्रेरणा और रचने की ताकत काव्यहेतु है।

(क) बोध प्रश्न-

1. काव्य हेतु तथा काव्यप्रेरणा में अन्तर बताइए।
2. वाल्मीकि को काव्य रचने की प्रेरणा कैसे मिली- संक्षेप में बताइए।

2.4 काव्य के हेतु विषयक भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा

यह बात हम पहले कह चुके हैं कि इस संसार में कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं होता है। काव्य भी कवि का कार्य है और उसकी रचना में भी कुछ कारण हैं, जिनके बिना काव्यरचना सम्भव नहीं है। इन कारणों को काव्यहेतु कहा जाता है। हिन्दी साहित्य कोश में काव्य

हेतु को इस रूप में पारिभाषित किया गया है- 'कवि शिक्षा के अन्तर्गत कवि में काव्य निर्माण की सामर्थ्य उत्पन्न करने वाले साधनों को 'काव्य हेतु' अथवा 'काव्य के कारण' कहा जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में आचार्यों ने विस्तार से काव्यहेतुओं की चर्चा की है। पश्चिम में भी इस बात पर चिन्तकों ने विचार किया है कि कवि में आखिर ऐसी कौन सी बात होती है, जो अन्य लोगों में नहीं होती और जिसके बल पर वह काव्यरचना में समर्थ होता है। प्रायः सभी चिन्तक यह मानते हैं कि काव्यरचना के लिए कवि की प्रतिभा सर्वप्रमुख कारण होती है। इस प्रतिभा के साथ साथ विविध विषयों का ज्ञान पाकर रचनाकार रचना करने में समर्थ होता है और निरन्तर अभ्यास उसकी लेखनी को निरन्तर परिमार्जित करता है।

काव्यहेतु विषयक हमारे काव्यशास्त्रियों के चिन्तन पर अब हम विचार करेंगे। सर्वप्रथम अग्निपुराण में काव्यहेतुओं के विषय में कहा गया है कि 'संसार में नरत्व दुर्लभ है, उसमें भी विद्या दुर्लभ है, विद्या में भी कवित्व दुर्लभ है और कवित्व में शक्ति अर्थात् प्रतिभा दुर्लभ है, व्युत्पत्ति दुर्लभ है और फिर विवेक भी दुर्लभ है-

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र च दुर्लभा।

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा॥

व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः॥ -अग्निपुराण, 337/4-5

काव्यनिर्माण के साधनों-शक्ति, व्युत्पत्ति और विवेक का उल्लेख अग्निपुराण में हुआ है, इसके उपरान्त आचार्य भामह ने सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से काव्यहेतुओं की चर्चा करते हुए प्रतिभा को काव्य का प्रमुख कारण माना है। उनका कहना है कि गुरु के उपदेश से जड़बुद्धि या अल्पबुद्धि वाला व्यक्ति शास्त्रज्ञ हो सकता है, लेकिन काव्यरचना तो कुछ प्रतिभासम्पन्न लोग ही कर सकते हैं। प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति को शब्दशास्त्र, छन्दशास्त्र, कोषग्रन्थ, इतिहासाश्रित कथाओं, लोकव्यवहार और विभिन्न कलाओं का ज्ञान प्राप्त करके काव्यरचना करनी चाहिए। उसे शब्द और उसके अभिप्रेत को जानकर काव्यमर्मज्ञों की सेवा करके और अन्यान्य कृतियों के अध्ययन के उपरान्त ही काव्य के लिए प्रवृत्त होना चाहिए। भामह प्रतिभा को काव्य का मुख्य कारण और काव्यज्ञशिक्षा और शास्त्रज्ञान को उसके सहायक कारण मानते हैं।

आचार्य दण्डी नैसर्गिक प्रतिभा, विविध शास्त्रों का परिशीलन और निरन्तर काव्यनिर्माण का अभ्यास - इन तीनों का काव्य निर्माण के लिए कारण रूपी सम्पदा मानते हैं-

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।

अमन्दश्चाभियोगोस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥ -दण्डी, काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद,

कारिका- 103

वामन हेतु के लिए काव्यांग शब्द का प्रयोग करते हैं और लोक, विद्या और प्रकीर्ण को काव्य के अंग मानते हैं। लोक के अन्तर्गत लोकवृत्त और विद्या के अन्तर्गत शब्दशास्त्र, कोश, छन्दशास्त्र,

कला, नीतिशास्त्र आदि विविध शास्त्र आते हैं। वामन द्वारा उल्लिखित काव्यहेतु अन्य आचार्यों से भिन्न अवश्य हैं, लेकिन विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि इन काव्यांगों का समाहार ऊपर वर्णित तीनों हेतुओं में ही हो जाता है। लोकवृत्त और शास्त्रज्ञान व्युत्पत्ति में सन्निविष्ट हो जाते हैं और लक्ष्यतत्त्व भी। अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण और अवधान रचनाभ्यास के ही विविध रूप हैं।

वामन के बाद रुद्र ने काव्यनिर्माण के लिए शक्ति(प्रतिभा), व्युत्पत्ति और अभ्यास-तीनों को काव्यहेतु के रूप में स्वीकार किया है। (त्रितयमिदं व्याप्रियते- शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः।-काव्यालंकार, 1/4)। आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतिभा ही काव्य का मुख्य कारण है। वे मानते हैं कि व्युत्पत्ति की कमी को भी शक्ति ढक लेती है और यदि कवि सशक्त है तो वह काव्यरचना में समर्थ होता ही है, भले ही वह काव्य बहुत उत्कृष्ट न हो। काव्यहेतुओं पर सबसे ज्यादा विस्तार से राजशेखर ने चर्चा की है। उन्होंने शक्ति और प्रतिभा दोनों को अलग मानते हुए शक्ति के क्षेत्र को व्यापक और प्रतिभा के क्षेत्र को शब्दसमूहों, विभिन्न अर्थों, अलंकार, तन्त्र, उक्तिमार्ग तक सीमित माना और शक्ति को काव्य का हेतु कहा।

काव्यहेतुओं के विषय में आचार्य मम्मट ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों के सम्मिलित रूप को काव्यहेतु माना-

'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥-काव्यप्रकाश, 1/3

मम्मट की दृष्टि में काव्य के निर्माण में शक्ति प्रमुख कारण है। वह काव्यत्व की सिद्धि के लिए बीजरूप संस्कार विशेष है, जिसके अभाव में काव्य का निर्माण नहीं हो सकता है। शक्ति के साथ व्याकरण, अभिधान, कोश, कला, महाकवियों के काव्य और इतिहास-पुराणादि के परिशीलन से उत्पन्न ज्ञान अर्थात् व्युत्पत्ति और काव्यरचना को जानने वालों के उपदेश से काव्ययोजना में बार बार प्रवृत्त होना- अर्थात् अभ्यास-भी काव्यरचना के हेतु हैं लेकिन ये तीनों अलग अलग काव्यहेतु नहीं हैं, बल्कि तीनों मिलकर काव्यहेतु होते हैं।

मम्मट द्वारा काव्यहेतुओं की व्याख्या के उपरान्त संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने काव्यहेतुओं पर जो भी विचार किया है, वह पूर्ववर्ती आचार्यों की दृष्टि का ही पिष्टपेषण है। वाग्भट, हेमचन्द्र, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने प्रतिभा को काव्य का प्रमुख हेतु माना है। हमारे रीतिकालीन आचार्यों ने भी संस्कृत के आचार्यों की ही तरह प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्यहेतुओं के रूप में उल्लिखित किया है। यहाँ एक उदाहरण से हम अपनी बात की पुष्टि करेंगे। रीतिकालीन आचार्य भिखारीदास ने अपनी कृति 'काव्यनिर्णय' में काव्यहेतुओं के विषय में लिखा है-

सक्ति कबित्त बनाइबे की जिहि जन्मनछत्र में दीनी विधातैं।

काव्य की रीति सिख्यो सुकबीन सों देखी सुनी बहुलोक की बातैं।

दासजू जामे एकत्र ये तीनों बनै कबिता मनरोचक तातैं।

एक बिना न चलै रथ जैसे धुरंदर सूत की चक्र निपातैं

भिखारीदास का काव्यहेतु विषयक मत मम्मट के मत के अनुसार ही है। भिखारीदास शक्ति को ईश्वरप्रदत्त मानकर उसे काव्य का हेतु कहते हैं। शक्ति के अतिरिक्त सुकवियों से काव्य की शिक्षा और लोकानुभव को भी काव्य का हेतु कहा है।

काव्यहेतु विषयक इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को देखने से यह स्पष्ट होता है कि आनन्दवर्धन, पण्डितराज जगन्नाथ आदि केवल प्रतिभा को काव्यहेतु मानते हैं और भामह, दण्डी, रुद्रट, मम्मट आदि ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों का समन्वय करते हुए तीनों को एक साथ काव्य का हेतु स्वीकार किया है। और यह सम्यक् भी है। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास- ये तीनों ही काव्य के हेतु हैं और तीनों अलग-अलग नहीं, अपितु कवि व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष और परस्पर आश्रित हैं। प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति और अभ्यास का कोई महत्व नहीं है और व्युत्पत्ति और अभ्यास के अभाव में प्रतिभा का कोई महत्व नहीं। एक कहावत आपने अक्सर सुनी होगी- पूत के पाँव पालने में ही पहचान लिए जाते हैं, यानी शैशव काल से ही व्यक्ति की प्रतिभा का पता चल जाता है, लेकिन यदि उसकी प्रतिभा को सही दिशा निर्देश नहीं मिलता, उसकी प्रतिभा को परिमार्जित नहीं किया जाता तो वह ठीक वैसे ही धारहीन हो जाती है जैसे किसी अस्त्र का प्रयोग न किये जाने की स्थिति में उसमें जंग लग जाती है। सिद्ध है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के हेतु हैं। इन हेतुओं में एक हेतु और कहा गया है- समाधि या अवधान। यह बात सत्य है कि कवि में प्रतिभा है, उसने विविध विषयों का अध्ययन भी किया है और निरन्तर अभ्यास से अपनी प्रतिभा को मॉजा भी है लेकिन उसका मन एकाग्र नहीं है, तो भी काव्यरचना नहीं हो सकती। किन्तु मन की एकाग्रता तो प्रत्येक कार्य के लिए आवश्यक है अतः उसे काव्यहेतुओं में शामिल करने की आवश्यकता नहीं है। आगे हम काव्य के इन तीन हेतुओं के विषय में समझने का प्रयास करेंगे।

(ख)बोध प्रश्न -

1. वामन काव्यहेतु के लिए किस शब्द का व्यवहार करते हैं?
2. प्रतिभा काव्य का मुख्य हेतु है, सिद्ध कीजिए।

रिक्त स्थान भरिए-

1. व्युत्पत्ति के लिएशब्द का भी प्रयोग होता है।
2. शक्ति हीकहलाती है।
3. काव्य के सुप्रसिद्ध तीन हेतुओं के अलावा.....को भी काव्यहेतु माना जाता है।

सत्य/असत्य बताइए-

1. काव्यनिर्णयभिखारीदास की रचना है- (सत्य)/ (असत्य)
2. वृद्धसेवा से अभिप्राय है बुजुर्गों की सेवा करना - (सत्य)/ (असत्य)

2.4.1 प्रतिभा

आचार्यों का यह मानना है कि प्रतिभा काव्य का वह हेतु है, जिसके बिना काव्यरचना हो ही नहीं सकती और यदि हो जाती है, तो उपहास्यता को प्राप्त होती है। यह प्रतिभा कवित्व का बीज है, और यह कवि को पूर्व पूर्व जन्मों के संस्कारों से प्राप्त होती है। यह नवनवोन्मेषशालिनि अर्थात् नई नई उद्भावना करने वाली होती है। यह कवियों के प्रत्युत्पन्नमत्तित्व (जिसे 'Presence of mind' कहा जाता है)की द्योतक होती है। संस्कृत के आचार्य भट्टतौत ने लिखा है-

बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागाभिगोचरा।

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनि प्रतिभा मता'- काव्यकौतुक, पृ 212

नवनवोन्मेषशाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहा जाता है। मनुष्य की जन्मजात दैवी-शक्ति, जिससे उसके अन्दर नवीन वस्तुओं की रचना करने की स्फूर्ति पैदा होती है, प्रतिभा है। भामह के अनुसार यह प्रतिभा किसी किसी को ही प्राप्त होती है। वामन के अनुसार प्रतिभा प्राक्तन जन्मों के संस्कार से युक्त होती है। रुद्रट का मानना है कि मन की एकाग्र अवस्था, जिसमें अभिधेय का अनेक रूपों में विस्फुरण होता है और जिसमें अक्लिष्ट पद सूझ पडते हैं, उसे शक्ति कहते हैं। यह शक्ति दो प्रकार की हाती है- सहजा और उत्पाद्या। कवि में स्वाभाविक रूप में विद्यमान प्रतिभा सहजा है और साधनों के उपयोग से उत्पन्न की जाने वाली उत्पाद्या। राजशेखर ने बुद्धि के तीन प्रकार बताए हैं- स्मृति, मति और प्रज्ञा। स्मृति वह बुद्धि है, जो अतीत का स्मरण कराती है, मति वर्तमान काल से जुड़ी है और प्रज्ञा भविष्य अर्थ को प्रकृष्ट रूप में ज्ञात करने वाली होती है। ये तीनों प्रकार की बुद्धिकवियों का उपकार करती हैं और दो प्रकार से कवियों में स्थित रहती हैं। जन्मजात रूप में और आहार्य रूप में। इस प्रकार कवि भी दो प्रकार के होते हैं- बुद्धिमान और आहार्य बुद्धि।

पश्चिम में भी काव्यरचना के लिए प्रतिभा के महत्व को विद्वानों ने स्वीकार किया है। इस सन्दर्भ में सुप्रसिद्ध चिन्तक प्लेटो को याद किया जा सकता है। प्लेटो का मानना है कि 'यदि कोई व्यक्ति कविता की देवी 'म्यूज' से प्राप्त होने वाली प्रेरणा के अभाव में काव्यमन्दिर में प्रवेश पाना चाहता है और सोचता है कि वह वहाँ अपनी कला के बल पर प्रवेश पा लेगा, तो मैं कहता हूँ कि उसे और उसकी कविता को काव्य के पवित्र मन्दिर में प्रवेश नहीं मिलेगा क्योंकि वह उस व्यक्ति की तुलना में कहीं भी नहीं ठहरता, जिसे कविता की देवी से प्रतिभा रूपी प्राकृतिक शक्ति (Muse's madness, or Natural gift) की प्राप्ति है। प्लेटो की मान्यता है कि यदि तुम्हारे पास प्राकृतिक शक्ति है और उसे तुमने आवश्यक वस्तुओं के ज्ञान तथा अभ्यास द्वारा मांज लिया है, तो तुम श्रेष्ठ कवि हो सकते हो। स्पष्ट है कि पश्चिमी चिन्तक भी प्रतिभा, व्युत्पत्ति, और अभ्यास से परिचित हैं। पश्चिम के अनेक चिन्तकों ने इस बात पर विचार किया है कि कवि में ऐसी कौन सी बात होती है, जिसके बल पर वह काव्यरचना में समर्थ हो जाता है। वर्डस्वर्थ के अनुसार 'कवि कौन होता है? वह मानव होता है, मानवों से ही अपनी बात कहता है: हाँ उसकी संवेदनशक्ति अधिक

जीवन्त होती है, उसे मानवस्वभाव का अधिक गम्भीर ज्ञान होता है, उसकी आत्मा अधिक विशाल होती है.....अभ्यासवश वह जो कुछ सोचता और अनुभव करता है, उसे अभिव्यक्त करने की अधिक तत्परता उसने अर्जित कर ली है। (पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, सं., डॉ; नगेन्द्र)

पश्चिम में प्रतिभा को जीनियस अर्थात् दुनिया के छिपे हुए सौन्दर्य को अनावृत्त करने में समर्थ कहा गया है। कल्पना के रूप में भी प्रतिभा को स्वीकार किया गया है और कल्पना को विस्तार से विवेचित भी किया गया है। प्लेटो की दृष्टि में कल्पना फैंटेसिया है, अरस्तू का मानना है कि रचनाकार अपनी कल्पना के बल पर नाटक के विभिन्न पात्रों में प्रविष्ट होकर यह जानने की कोशिश करता है कि दर्शकों या पाठकों पर उसके नाटक का क्या पभाव पड़ेगा? कॉलरिज कवि-शक्ति को कल्पना मानते हैं, और उसके दो भेद करते हैं- प्रारम्भिक और दूसरी। दूसरी कल्पना भारतीय कारयित्री प्रतिभा है, जिसके बल पर कवि नूतन निर्माण करता है। क्रोचे की सहजानुभूति का आधार भी कल्पना ही है, फ्रायड के अनुसार दिवास्वप्नों या कल्पनाचित्रों की सृष्टि करना अतृप्त मानव का स्वभाव है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि पश्चिमी चिन्तकों का मानना है कि कवि में अन्य लोगों की अपेक्षा संवेदना अधिक प्रखर होती है। उसमें एक शक्ति ऐसी होती है, जो सामान्य जन में नहीं होती। इसी शक्ति के सहारे वह अप्रत्यक्ष वस्तुओं को प्रत्यक्ष कर लेता है।

2.4.2 व्युत्पत्ति

काव्य का दूसरा हेतु है व्युत्पत्ति। लोकहृदय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्युत्पत्ति अत्यावयक है। राजशेखर के अनुसार औचित्यानौचित्य का विवेक और बहुज्ञता ही व्युत्पत्ति है। व्युत्पत्ति के अन्तर्गत सभी प्रकार का लौकिक, शास्त्रीयज्ञान, लक्षण तथा लक्ष्य ग्रन्थों की जानकारी, छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र का ज्ञान, विविध कलाओं की जानकारी, कोश, व्याकरण आदि की जानकारी आदि आ जाते हैं। इस बात को आप इस तरह समझ सकते हैं- यदि आपसे कहा जाय कि बागेश्वर में लगने वाले बगवाल मेले का या नैनीताल में लगने वाले नन्दादेवी के मेले का वर्णन कीजिए और आपको उस मेले से सन्दर्भित यथेष्ट जानकारियाँ नहीं हैं, तो आपमें लिखने की क्षमता होने पर भी क्या आप ठीक ठीक वर्णन कर पाएंगे? नहीं। उसका सुन्दर, ठीक ठीक वर्णन आप तभी कर सकेंगे जब उसके विषय में आपको पूरी पूरी जानकारी हो। हमारे आचार्यों का भी यह मानना है कि काव्यपरम्परा का अध्ययन करके कवि अपनी रचना को सुन्दर, यथार्थ से सम्पन्न बना सकता है। शास्त्रज्ञान द्वारा कवि के कथन में सौन्दर्य और व्यवस्था आती है, लोकज्ञान द्वारा वह अपनी विषयवस्तु को सम्यक् रूप से व्यक्त कर सकता है, अपने अनुभवजन्य ज्ञान से कवि लोक की प्रस्तुति करने में सफल होता है। व्यवहारज्ञान द्वारा वह जीवन और जगत् से जुड़ी विभिन्न स्थितियों, समस्याओं पर विचार करके उनका समाधान कर सकता है। काव्यदोषों के निराकरण के लिए भी व्युत्पत्ति आवश्यक है। व्युत्पत्ति को ही आचार्य मम्मट ने निपुणता कहा है। यह निपुणता शास्त्रज्ञान, लोकज्ञान, विद्याज्ञानादि से तो प्राप्त होती ही है, काव्यमर्मज्ञों की निकटता से भी प्राप्त होती है।

पश्चिम के सुप्रसिद्ध विचारक मैथ्यू आर्नल्ड कहते हैं कि रचनाकार को चाहिए कि वह श्रेष्ठ कवियों की रचना की कुछ पंक्तियों को कसौटी के रूप में चुने और फिर उनके आधार पर अपनी रचना करो। काव्यरचना का नैपुण्य प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों का निरन्तर अध्ययन हो, अपनी रचना को आलोचक की दृष्टि से परखा जाय और विविध विषयों की जानकारी लेते रहा जाय। पश्चिम के नव्यशास्त्रवादी चिन्तकों ने भी व्युत्पत्ति, लोकशास्त्र के निरीक्षण पर और औचित्यानौचित्य के ज्ञान पर बल दिया है।

2.4.3 अभ्यास

आपने यह कहावत बार-बार सुनी होगी- 'करत-करत अभ्यास के जडमति होत सुजान, रसरी आवत घाट ते सिल पर परत निसान'। अर्थात् अभ्यास द्वारा जड़बुद्धि वाला व्यक्ति भी ज्ञानवान् हो जाता है जैसे पत्थर पर निरन्तर पानी गिरने से पत्थर में भी निशान बन जाते हैं। अभ्यास से आशय है निरन्तर प्रयास करना। हमारे चिन्तकों का मानना है कि काव्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए अभ्यास भी आवश्यक है। काव्यज्ञों या काव्यनिर्माण के तत्त्वों को जाननेवाले व्यक्तियों का साहचर्य प्राप्त करके उनके निर्देशन में निरन्तर अभ्यास करना कवि का कर्तव्य होना चाहिए। इससे रचना व्यवस्थित होकर निखर जाती है (भारतीय साहित्यशास्त्र कोश, राजवंश सहाय हीरा,)। अभ्यास प्रतिभा का पोषक है। अभ्यास से ही काव्यरचना में सौष्ठव और प्रौढता आती है। अभ्यास के अभाव में प्रतिभा भी कुंठित हो जाती है। आचार्य दण्डी का कहना है कि 'पूर्व वासनाजन्य अब्द्रुत प्रतिभा के न रहने पर भी शास्त्राध्ययन और अभ्यास से वाणी की उपासना करने पर वाणी अवश्य ही अनुग्रह करती है (हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृ.)।

काव्यहेतु विषयक इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय तथा पश्चिमी काव्यशास्त्रियों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों का वर्णन काव्यहेतु के सन्दर्भ में किया है। हाँ, आचार्यों में इस बात को लेकर अवश्य मतभेद है कि इन तीनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कौन सा उपकरण है। ध्यान से देखें तो हमारे सामने यह स्पष्ट है कि ये तीनों अलग-अलग नहीं हैं, अपितु तीनों कवि व्यक्तित्व के ही विभिन्न पक्ष हैं। ये तीनों परस्पर आश्रित हैं। जैसे केवल मिट्टी से घड़ा नहीं बन सकता, उसे बनाने के लिए पानी, चाक, कुम्हार, आग आदि भी आवश्यक होते हैं, वैसे ही केवल प्रतिभा से काव्य का सृजन नहीं हो सकता। इसी तरह प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति और अभ्यास का कोई महत्व नहीं है और व्युत्पत्ति और अभ्यास के अभाव में प्रतिभा की सार्थकता नहीं। हम इन तीनों काव्यकारणों को मम्मट की तरह तीन नहीं अपितु एक ही कारण कह सकते हैं और मान सकते हैं कि इनकारणों के तीन रूप हैं-1; प्रेरक कारण, 2; निमित्त कारण तथा 3; उपादान कारण। प्रेरककारण रचनाकार की वह प्रकृति है, जो उसे काव्यरचने की प्रेरणा देती है, निमित्तकारण कवि की प्रतिभा है और उपादान कारण लोकादिशास्त्रों का मनन और अभ्यास है और ये तीनों मिलकर काव्यका हेतु कहलाता है।

(ग) बोध प्रश्न

1. काव्य के हेतु के रूप में प्रतिभा का महत्व बताइए।	
2. क्या प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के अलग अलग कारण है, बताइए।	
रिक्त स्थान भरिए-	
1. प्लेटो ने कविता की देवी.....को कहा है।	
2. कारयित्री प्रतिभा कवि से सम्बद्ध है तो भावयित्री.....से।	सत्य असत्य
बताइए-	
1. समाधि काव्य का हेतु है।(सत्य)/ (असत्य)	
2. काव्यहेतु और काव्यप्रेरणा में अन्तर नहीं है। (सत्य)/ (असत्य)	

2.5 काव्य प्रेरणा के विषय में आचार्यों की दृष्टि

2.5.1 काव्य प्रेरणा विषयक भारतीय दृष्टि

इस इकाई के आरम्भ में हमने वाल्मीकि द्वारा काव्यप्रेरणा के सन्दर्भ में क्रॉचवध के प्रसंग की चर्चा की थी और उसके आधार पर यह जाना था कि कवि किसी घटना, किसी व्यक्ति, किसी वस्तु से जब बहुत अधिक प्रभावित हो जाता है और उसकी चेतना से वह घटना, परिस्थिति, व्यक्ति या वस्तु इतनी व्याप्त हो जाती है कि उसके मनोमस्तिष्क से वह हटती ही नहीं है, तब साहित्य का जन्म होता है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी का कहना है कि काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है, यह एक स्वतः अनुभूत तथ्य है। यह अनुभूत तथ्य एक ओर रचनाकार को आविष्ट सा कर देता है, उस समय उसकी संवेदना उस घटना आदि के साथ तदाकार हो जाती है, जैसे आदि कवि की चेतना क्रॉची की ही तरह व्यथा से आविष्ट हो गई थी: दूसरी ओर कवि का चिन्तनपक्ष प्रबल हो जाता है और वह विभिन्न सामाजिक मूल्यों की खोज करने लगता है। इस प्रकार 'काव्यप्रेरणा दो प्रकार की हो सकती है- एक तो भावना के दबाव से अनजाने फूट पडने वाली और दूसरे जीवन-मूल्यों की खोज और प्रतिष्ठा की चिन्ता से उत्पन्न होने वाली। एक में संवेग की प्रधानता है, दूसरे में बौद्धिक चिन्तन की।'(साहित्यानुशीलन, साहित्य की प्रेरणा, पृ. 33)।

2.4.2 काव्य प्रेरणा विषयक पश्चिम की दृष्टि

पश्चिम में काव्यप्रेरणा के विषय में विस्तार से विचार किया गया है। सर्वप्रथम हमें काव्य-प्रेरणा विषयक दो सिद्धान्त प्राचीन यूनान में मिलते हैं। 1. दैवी प्रेरणा का सिद्धान्त और 2. अनुकरण का सिद्धान्त। यूनान के प्राचीन चिन्तक यह मानते हैं कि कवि का काव्यरचना की प्रेरणा काव्य-देवी (द म्यूज) से प्राप्त होती है। यूनान के आदि कवि होमर इस दैवी प्रेरणा पर विश्वास रखते थे। प्लेटो का मत है कि 'जैसे चुम्बक अपने चारों ओर बिखरे हुए लोहे के कणों को आकर्षित करता

है और लोहे के कण बहुत से लौह कणों को अपनी ओर खींचते हैं, इसी प्रकार कला की देवी जिनको प्रेरित करती है, वे अन्य बहुत से लोगों को प्रेरणा प्रदान करते हैं। वास्तव में जो सुकवि महाकाव्यों की रचना करते हैं वे अपनी खुद की कला का जरा भी उपयोग नहीं करते, जब वे अपनी सुन्दर रचना का प्रणयन करते हैं तो दैवी प्रेरणा से ही करते हैं।उस समय ईश्वर कवियों को मस्तिष्क विहीन करके अपना अनुचर बना लेता है। कवि तब तक रचना नहीं कर सकता जब तक कि वह अनुप्रेरित होकर इन्द्रियज्ञान शून्य न हो जाए (साहित्यानुशीलन, साहित्य की प्रेरणा)। यूनान तथा रोम के अनेक चिन्तक काव्य की देवी म्यूज के वरदान के परिणाम स्वरूप ही काव्यरचना होती है, यह मानते थे। भारतीय समीक्षक भी यह मानते हैं कि काव्यरचना की प्रेरणा ईश्वरीय देन ही है। अरस्तू की दृष्टि में सफल काव्य की सृष्टि अन्तःप्रेरणा की अवस्था में ही सम्भव है। अरस्तू जीवन की मूल प्रवृत्ति अनुकरण को मानते हैं और उसे पकृति का अनुकरण मानते हैं। क्रोचे ने आत्माभिव्यंजना को काव्य का मूल प्रेरणास्रोत मानते हुए उसे सहजानुभूति के रूप में व्यक्त किया है। स्वच्छन्दतावादी कवि वर्डस्वर्थ के अनुसार मानवमन की वासनाएं-वैचारिक और सांवेगिक आवश्यकताएं काव्यरचना के लिए कवि को प्रेरित करती हैं। शैली काव्यसृष्टि को दिव्यशक्ति मानते हैं- 'कविता सचमुच एक दिव्यशक्ति है (इन डिफेन्स ऑव पोयट)। मनोविश्लेषण-शास्त्र के जन्मदाता फ्रायड के अनुसार बालक क्रीडा में अपनी इच्छानुसार संसार का निर्माण करता है और बड़ा होकर दिवास्वप्नों में अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने लगता है। फ्रायड का मत था कि 'हमारी अभुक्त या अतृप्त कामवासना स्वप्न या अचेतनावस्था में और काव्यसृजन की अर्धचेनावस्था में परितृप्त होती है। यह अतृप्त कामना ही काव्य के मूलाधार भावचित्रों की जननी है। अतः हृदय की दबी हुई वासनाएं अपने विकास का मार्ग खोजती हुई काव्य, कला तथा स्वप्न आदि की सृष्टि करती हैं (काव्यशास्त्र व समालोचना, एम.ए.एच.डी; वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, पृ. 39)। वस्तुतः कला या साहित्य दिवास्वप्न का उन्नयन है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि व्यक्ति की कौतुहल प्रियता, सौन्दर्याभिलाषा, स्वाभाविक आकर्षण, मानव के क्रियाव्यापारों में अनुराग और आत्माभिव्यक्ति की कामना उसके काव्यसृजन का मूल स्रोत है। आचार्यभरतमुनि ने काव्य के प्रयोजनों की चर्चा के प्रसंग में लिखा है कि 'ऐसी कोई कला नहीं है, ऐसा कोई शास्त्र नहीं है, ऐसी कोई विद्या नहीं है, ऐसा कोई शिल्प नहीं है, जो काव्य का विषय न बन सके। काव्यप्रेरणा के पीछे भी यही भाव है। जब रचनाकार किसी घटना, विषय, वस्तु आदि से प्रभावित होता है, तब आवेश की स्थिति में काव्यसृजन के लिए तत्पर होता है, उस समय रचनाकार की चेतना के मूल में किसी अभाव की प्रखर अनुभूति रहती है, यह अनुभूति कवि की सर्जनाशक्ति जागरित करने में प्रेरक का काम करती है। पश्चिम के प्रतिभास, आत्माभिव्यक्ति, इच्छापूर्ति, अधिकार भावना आदि से सम्बन्धित काव्यप्रेरणा विषयक सिद्धान्तों के मूल में भी यही भाव है।

2.6 हिन्दी काव्यशास्त्र में काव्यप्रेरणा और काव्यहेतु

इस इकाई में काव्य के हेतु विषयक भारतीय कव्यशास्त्र परम्परा के अन्तर्गत हम रीतिकालीन आचार्यों के काव्यहेतु के सन्दर्भ में विचारों की चर्चा कर चुके हैं, और हमने यह पाया है कि रीतिकालीन आचार्य संस्कृताचार्यों के ही विचारों से साम्य रखते हैं। हाँ यहाँ हम यह जरूर उल्लिखित करना चाहेंगे कि हमारे रचनाकार प्रायः अपनी रचनाओं में यह इंगित करते रहते हैं कि काव्य रचने की प्रेरणा उन्हें कहाँ से मिली है। इस सन्दर्भ में संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्य, कवि पण्डितराज जगन्नाथ के सन्दर्भ में प्रचलित एक कथा का जिक्र करके हम अपनी बात स्पष्ट करते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने शाहजहाँ के राजपरिवार की एक कन्या लवंगी से विवाह किया जिसके कारण काशी के पण्डितों ने काशी के घाटों पर उनका प्रवेश निषेध कर दिया। इस पर वे काशी के बाहर घाट के ऊपर बैठ गए और उन्होंने गंगा की स्तुति में श्लोक लिखने आरम्भ कर दिये। कहते हैं कि उनके एक-एक श्लोक लिखने के साथ-साथ गंगा एक एक सीढ़ी ऊपर चढ़ने लगीं और गंगा लहरी के पूरा होते ही गंगा उन्हें स्वयं अपने साथ ले गई। पण्डितराज को इस गंगालहरी को लिखने की प्रेरणा अपने समाज के लोगों द्वारा किये गए तिरस्कार और आस्था के माध्यम से हुई। हमारे महाकवि तुलसीदास के विशय में भी कहा जाता है कि रामचरित लिखने की प्रेरणा उन्हें हनुमान ने दी। रीतिकालीन कवि घनानन्द का कहना है 'लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोंहि तो मेरे कवित बनावत।

आधुनिक काल में हिन्दी के आचार्यों ने काव्यप्रेरणा और काव्य हेतुओं के विषय में यत्र-तत्र अपने विचार व्यक्त किये हैं। अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'साहित्यालोचना' में बाबू श्यामसुन्दरदास ने आत्माभिव्यक्ति की इच्छा, मानव व्यापारों में अनुराग, नित्य और काल्पनिक संसार में अनुराग और सौन्दर्यप्रियता की चर्चा काव्यप्रेरणा के सन्दर्भ में की। जिस तरह वाल्मीकि के सन्दर्भ में कहा गया कि वहाँ शोक से श्लोक की प्राप्ति हुई, इसी तरह सुमित्रानन्दन पन्त ने भी वेदना को काव्य की मूल प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया। कीट्स द्वारा लिखित- Our sweetest songs are those, That tells our sadest thoughts की भाँति 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गाना उमडकर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान' के द्वारा पन्त ने इस बात की पुष्टि की है। जयशंकर प्रसाद की दृष्टि में काव्यानुभूति अखण्ड, आत्मिक व्यापार है और दिनकर की दृष्टि में आत्मानुभूति। मुक्तिबोध के अनुसार अविरल साधना और श्रम के फलस्वरूप सुन्दर अभिव्यक्ति होती है। अज्ञेय भी काव्य प्रेरणा को काव्य का आभ्यन्तरिक उपादान मानते हैं।

2.7 सारांश

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद हम काव्य के उन कारणों के विषय में जान चुके हैं, जो काव्य रचना के हेतु कहलाते हैं। काव्यरचना के मर्म को जानने के लिए काव्य के हेतु - प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तथा काव्य की प्रेरणा के विषय में हमने विभिन्न आचार्यों के मतों को परखा और पाया कि भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यचिन्तन परम्परा में काव्यहेतुओं और काव्य की

प्रेरणा के सन्दर्भ में गम्भीर, विस्तृत और सारगर्भित विवेचन किया गया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि एक ओर प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के बिना काव्यरचना नहीं हो सकती और दूसरी ओर काव्य रचने की प्रेरणा के बिना भी काव्यरचना सम्भव नहीं है। तुलसीदास को उनकी पत्नी रत्नावली ने यदि यह कहकर -अस्थि चर्ममय देह मम, तापर ऐसी प्रीति। जो होती श्रीराम में क्यों होती भवभीति' उकसाया नहीं होता तो रामचरितमानस जैसी रचना की निर्मिति शायद नहीं होती।

2.8 शब्दावली

औचित्यानौचित्य का विवेक- उचित और अनुचित को परखने की क्षमता।

बहुज्ञता- विविध विषयों का ज्ञान बहुज्ञता है।

पिष्टपेषण- पिष्टपेषण का अर्थ है, जो बात पहले कही जा चुकी है, उसे ही बार बार दोहराना।

काव्यमर्मज्ञ- काव्य के मर्म को जानने वाला।

काव्यज्ञ- काव्यज्ञ से तात्पर्य है ऐसे व्यक्ति जो काव्यरचना जानते हों अथवा जो काव्य का अनुशीलन करने वाले हों।

स्वतः अनुभूत- जिसका अनुभव स्वयं हो।

2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(क) बोध प्रश्न-

1. काव्य हेतु तथा काव्यप्रेरणा में अन्तर बताइए।

किसी घटना को देखकर, सुनकर हमारे मन में विभिन्न विचार आते हैं और हम उन विचारों को बांटना भी चाहते हैं, बस वह घटना हमें कुछ रचने के लिए प्रेरित करती है और हमारी अभिव्यक्ति की क्षमता और योग्यता उसके सन्दर्भ में हमें कुछ रचने के लिए समर्थ बनाती है। काव्यशास्त्र की शब्दावली में घटना का प्रभाव काव्य-प्रेरणा और रचने की ताकत काव्यहेतु है।

2. वाल्मीकि को काव्य रचने की प्रेरणा कैसे मिली- संक्षेप में बताइए।

किसी बहेलिए द्वारा क्रीडा मे लीन क्रोचपक्षियों के जोडे में से क्रोंच का वध करने पर महर्षि के मुँह से अनायास श्लोक की उत्पत्ति हो गई। इसके उपरान्त उनके व्यथित हृदय में रामकाव्य लिखने की प्रेरणा जागरित हुई।

(ख)बोध प्रश्न -

1. वामन काव्यहेतु के लिए काव्यांग शब्द का व्यवहार करते हैं?

2. प्रतिभा काव्य का मुख्य हेतु है, सिद्ध कीजिए।

रिक्त स्थान भरिए-

1. निपुणता

2. प्रतिभा

3. समाधि

सत्य/असत्य बताइए-

1. (सत्य)

2. (असत्य)

(ग) बोध प्रश्न

1. काव्य के हेतु के रूप में प्रतिभा का महत्व बताइए।

2. क्या प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के अलग अलग कारण हैं, बताइए।

रिक्त स्थान भरिए-

1. म्यूज

2. सहृदय

सत्य असत्य बताइए-

1. (सत्य) 2. (असत्य)

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, तृतीय और चतुर्थ उद्योत, व्याख्याकार डॉ. रामसागर त्रिपाठी, (द्वितीय संस्करण, 1981) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,
- मम्मट, काव्यप्रकाश, व्याख्याकार डॉ. सत्यव्रत सिंह, (1955) चौखम्बा विद्याभवन, चौक, बनारस-1,
- अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, (प्रथम संस्करण, 2009) राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,
- गुप्त, राकेश एवं चतुर्वेदी, ऋषिकुमार, साहित्यानुशीलन, (प्रथम संस्करण, 1972) सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद,
- सहाय, राजवंश हीरा, भारतीय-आलोचना-शास्त्र, (2003) बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना,

- दीक्षित, हरिनारायण एवं टण्डन किरण, भारतीयकाव्यशास्त्रमीमांसा, (प्रथम सं; 1995) ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-7,
- कालेलकर, काका एवं नगेन्द्र (सम्पादक), भारतीय काव्य-सिद्धान्त, (1969) लोकभारती प्र., इलाहाबाद,
- मिश्र, भगीरथ, काव्यशास्त्र (1966), विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

2.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
2. भामह, काव्यालंकार, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
3. भिखारीदास, काव्यनिर्णय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
4. मम्मट, काव्यप्रकाश, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

2.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा में काव्यहेतुओं के विषय में बताइए।
2. काव्यप्रेरणा से आप क्या समझते हैं, विस्तार से बताइए।

इकाई-3 भारतीय काव्य शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदायः अलंकार सम्प्रदाय

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 अलंकार सिद्धान्त (अलंकार सम्प्रदाय)
 - 3.3.1 अलंकार: से आप क्या समझते हैं
 - 3.3.2 अलंकार संबंधी अलंकार वादी मत
 - 3.3.3 अलंकार सम्प्रदाय क्या है
 - 3.3.4 काव्य में अलंकारों का महत्व
 - 3.3.5 अलंकारों का वर्गीकरण
- 3.4 अलंकारों का प्रमुख भेद
 - 3.4.1 शब्दालंकार
 - 3.4.2 अर्थालंकार
 - 3.4.3 उभयालंकार
- 3.5 सारांश
- 3.6 शब्दावली
- 3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 3.8 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.9 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अंतर्गत सम्मिलित है .इससे पुरवा की इकाईयों में आपने भारतीय काव्यशास्त्र के उद्भव एवं विकास के साथ-साथ काव्य के स्वरूप , लक्षण , हेतु और प्रयोजन के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया .

प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे काव्य की आत्मा संबंधी भारतीय दृष्टि ने अलंकार को महत्वपूर्ण तत्व मानकर काव्य के क्षेत्र में उसका कितना विस्तृत और बहुविध विवेचन किया .

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप अलंकार सम्प्रदाय का विस्तृत ऐतिहासिकविवेचन कर सकेंगे तथा अलंकारों के भेदाभेद को समझ सकेंगे

3.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आप:

- अलंकार का अर्थ तथा परिभाषा के संबंध में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- भारतीय काव्यशास्त्र के अलंकार सम्प्रदाय और उसकी परम्परा के बारे में बता सकेंगे।
- काव्य में अलंकारों के महत्व तथा उनके विशेष स्थान के बारे में बता सकेंगे।
- अलंकारों के वर्गीकरण और उनके प्रमुख भेद शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं उभयालंकार के बारे में जान सकेंगे।
- अलंकारों से और अधिक परिचित हो सकेंगे।

3.3 अलंकार सिद्धान्त (अलंकार सम्प्रदाय)

3.3.1 अलंकार से आप क्या समझते हैं

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति अलं शब्द से हुई है. आचार्य दण्डी के शब्दों में कहें तो- “काव्य शोभाकारान धर्मानलंकार प्रचक्षते।” (आचार्य दण्डी) अर्थात् काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं। अलंकार को और अधिक स्पष्ट रूप में परिभाषित करें तो हम इस दो रूपों में जान सकते हैं।

(एक) साधन परक रूप में- इस रूप में दो प्रकार से जाना जा सकता है

प्रथम- अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकारः अर्थात् जो अलंकृत करे या काव्य की शोभा में वृद्धि करे।

द्वितीय- “अलंकरोति इति अलंकारः।” अर्थात् अलंकृत करे या शोभित करे।

(दो) भाव परक रूप में - “अलंकृति अलंकारः।” अर्थात् अलंकरण ही अलंकार है। अब आप जानना चाहेंगे कि ” अलंकरण करना क्या है? इसका तात्पर्य है शोभित करना, सौन्दर्य बढ़ाना । दरअसल सुन्दरता सभी प्राणियों की प्रिय वस्तु है जिस प्रकार उचित रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि मनुष्य के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं उसी प्रकार अलंकारों के उचित प्रयोग से काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि होती है।

अलंकार का मूल अर्थ तो अब आप समझ गए होंगे आइए आगे अलंकार के संबंध में और अधिक जानकारी प्राप्त करें।

अलंकार मूलतः साहित्य के सौन्दर्य में वृद्धि करने वाले कारक हैं उसकी आत्मा नहीं। वे साधन है साध्य नहीं। उनके उचित प्रयोग से ही काव्य की शोभा में वृद्धि होती है। यह भी स्मरणीय है कि काव्य में अलंकारों का अतिशय प्रयोग उसके मूल सौन्दर्य को नष्ट कर देता है मसलन जब कोई सुन्दर नारी आभूषण पहनती है तो उसकी सुन्दरता में चार-चाँद लग जाते हैं इसके विपरीत वह आभूषणों से ही लद जाए तो वह सुन्दर के बजाय कुरूप ही अधिक लगेगी।

3.3.2 अलंकार संबंधी अलंकारवादी मत-

अलंकार शास्त्र के जन्म के कई शताब्दी पहले भारतीय साहित्य में अलंकारों का प्रयोग होता रहा है . ऋग्वेद की हम बात करें तो उसमें ‘अलंकृति’ शब्द का प्रयोग मिलता है-

“का तेऽस्त्यरंकृतिः सूक्तै कदा नूनं ने महावन दाशमे।” (ऋग्वेद 7129131)

लेकिन सर्वप्रथम भारतीय काव्य शास्त्र का उपलब्ध प्रामाणिक एवं प्राचीन ग्रन्थ आचार्य भरतमुनि प्रणीत नाट्य शास्त्र है जिसमें इन्होंने उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक इन चार अलंकारों का उल्लेख किया है। तत्पश्चात आचार्य मेहाविन का नाम केवल परवर्ती ग्रन्थों में मिलता इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। वास्तविक अर्थों में अलंकार संबंधी शास्त्रीय मत-परम्परा की असल शुरुआत छठी शताब्दी में हुई इसे प्रतिष्ठित करने में आचार्य भामह का नाम उल्लेखनीय है इन्होंने अपने ग्रन्थ ‘काव्यालंकार’ में अञ्चालीस अलंकारों का उल्लेख किया है साथ ही अलंकारों को काव्य का अनिवार्य तत्व माना है-न कान्तमपि निर्भूसं विभति वनिता मुखम् (काव्यालंकार 1.13) (जिस प्रकार कमनीय नारी का सुन्दर मुख भी बिना आभूषणों के शोभा नहीं देता उसी प्रकार अलंकारों के अभाव में काव्य सुन्दरता को प्राप्त नहीं करता)।

आचार्य भामह के बाद अलंकारवादियों में आचार्य दण्डी का प्रमुख स्थान है अपने ग्रन्थ काव्यदर्श में इन्होंने इकतीस अलंकारों का विवेचन किया है और समस्त शोभादायक धर्मों को अलंकार कहा है-

“काव्य शोभाकारान धर्मानलंकार प्रचक्षते।” (काव्यादर्श 2.1)

दण्डी के बाद लगभग आठवीं शताब्दी के साहित्यशास्त्रियों उद्भट और वामन का नाम उल्लेखनीय है। इनके ग्रन्थ क्रमशः काव्यालंकार सार संग्रह और काव्यालंकारसूत्रवृत्ति है उद्भट ने 48 अलंकारों को अपने ग्रन्थ में विवेचित किया है। आचार्य वामन अलंकारों को काव्य में महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। काव्य सौन्दर्य की प्रतिष्ठा अलंकारों में निहित मानते हैं इनके विचार से ‘सौन्दर्य’ ही अलंकार है सौन्दर्य के समावेश से ही काव्य ग्रहण करने योग्य है-

काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति)

वामन के उपरान्त अलंकार सम्प्रदाय के समर्थन में मत व्यक्त करने वाले आचार्यों में कमी आती दिखाई पड़ती है वह इसलिए कि नवीं सदी के आरम्भ में ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन हो चुका था जिसके प्रतिपादक आचार्य आनन्दवर्धन थे। जिसमें रस, अलंकार आदि सिद्धान्त ध्वनि के अन्तर्गत विवेचित किए जाने लगे थे। इसके बावजूद भी महिम भट्ट, कुन्तक, नामिसाधु ने अलंकारों पर अपने मत व्यक्त किए।

महिम भट्ट अलंकारों को काव्य में अभिधा रूप में स्वीकार करते हैं और इन्हें भणिति की भंगिमा का रूप मानते हैं। कुन्तक की दृष्टि में कथ्य की विशेष शैली ही अलंकार है साथ ही ये शैली में वक्रता का होना अपरिहार्य मानते हैं। नामि साधु सभी हृदय जीतने वाले अर्थ प्रकारों को अलंकार की सीमा में संनिहित मानते हैं।

उपरोक्त अलंकारवादियों के मतों से ज्ञात होता है कि-

- इन्होंने अलंकार शब्द का प्रयोग एवं ग्रहण व्यापक अर्थों में किया है इनकी दृष्टि में अलंकार काव्य सौन्दर्य के सभी साधनों को अपने में समाहित करता है।
- इनकी दृष्टि में अलंकार काव्य का सर्वस्व है इन्होंने इसे काव्य की आत्मा कहा है किन्तु रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, आदि सम्प्रदायों की तरह इसे स्पष्ट रूप में काव्य की आत्मा घोषित नहीं किया इसे काव्य की प्राणधारा जरूर माना है।
- अग्निपुराण में तो रस को काव्य की आत्मा मानते हुए भी अलंकार को काव्य की प्राणधारा माना है और साथ ही यह भी कहा है कि- अलंकार रहिता विधवैव सरस्वती” अर्थात्-अलंकारों के अभाव में वाणी विधवा के समान है।

3.3.3 अलंकार सम्प्रदाय क्या है

आप अलंकार संबंधी विभिन्न साहित्याचार्यों के मतों को जान चुके हैं आइए अब अलंकार सम्प्रदाय के स्वरूप के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं-

आप जान चुके हैं कि अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिपादक आचार्य भामह हैं। इन्होंने अलंकारों के स्वरूप के बारे में कहा है, “अलंकार काव्य का अन्तरंग तत्व है और उसका सर्वस्व वक्रोक्ति है अर्थात् इन्होंने अलंकार का मूल ही वक्रोक्ति यानी वचन के टेढ़ेपन को माना है इनकी दृष्टि में साधारण शब्द अर्थ नहीं बल्कि वक्र शब्द अर्थ (अलंकृत शब्द और अर्थ) ही काव्य है। आचार्य दण्डी ने भी रस, भाव आदि को स्वतंत्र न मानकर इन्हें अलंकार के अन्तर्गत माना है इन्होंने सभी शोभा कारक उपकरणों को अलंकार के अन्तर्गत समाहित करने का प्रयास किया है। आचार्य वामन अलंकारों की स्वतंत्र सत्ता को नकारते हुए उन्हें गुणों के माध्यम से काव्य सौन्दर्य के विधायक धर्म मानते हैं। इन्होंने गुणों को काव्य का नित्य धर्म बताया है और अलंकार को उसका सहायक तत्व माना है। नौवीं शताब्दी के आरम्भ में ध्वनि सम्प्रदाय के अविर्भाव से अलंकार सम्प्रदाय की प्रतिष्ठ में कमी होती नजर आती है। आचार्य आनन्दवर्धन ने अलंकारवादी आचार्यों की मान्यताओं का खण्डन करते हुए कहा है, अलंकारों का विधान रसादि के अंग के रूप में होना चाहिए न कि अंगी के रूप में- “विवक्षा तत्परत्वेन लाङ्गित्वेन कदाचन।” (ध्वन्यालोक 2/1) इनकी दृष्टि से अलंकार काव्य का प्राण तत्व नहीं बल्कि रस को प्रकाशित करने वाला धर्म है जो अपने धर्म, द्वारा साधारणीकृत होने में सहयोग करता है। यों तो आचार्य मम्मट रसवादी हैं लेकिन इन्होंने अपने समय (11वीं सदी) तक प्रचलित सभी काव्य सिद्धान्तों का अपने ग्रन्थ ‘काव्य प्रकाश’ में समन्वय किया है इनकी दृष्टि में अलंकारों का मुख्य उद्देश्य रस को पुष्ट करना है। ये मानते हैं कि हार, आभूषण आदि अलंकार के प्रकार हैं जो रस के उपकारक हैं।

आचार्य मम्मट तो स्पष्ट शब्दों में ‘अनलंकृति पुनः क्वापि’ कहकर काव्य में अलंकारों की अनिवार्य उपयोगिता को ही समाप्त कर देते हैं। किन्तु 13 वीं शताब्दी के आचार्य जयदेव को मम्मट की मान्यता स्वीकार नहीं है। मम्मट की मान्यताओं का खण्डन करते हुए वे कहते हैं- जिसे काव्य में अलंकार स्वीकार नहीं वह अग्नि को उष्णता रहित क्यों नहीं मानता-“अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थालंकृति। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृति।।” (चंद्रलोक 1/8) आचार्य विश्वनाथ (चौदहवीं शताब्दी) ध्वनिवादी आनन्दवर्धन और रसवादी मम्मट से प्रेरणा लेकर अलंकार को शब्द और अर्थ का अस्थि धर्म मानते हैं।

अलंकारों के स्वरूप के संबंध में विभिन्न आचार्यों के मतों की विवेचना का जो सार है उसे हम निम्न बिन्दुओं के रूप में ग्रहण कर सकते हैं-

- काव्य में अलंकारों की उपस्थिति अनिवार्य है अलंकारों के अभाव में काव्य सौन्दर्य को प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे सुन्दर स्त्री की सुन्दरता आभूषणों के अभाव में फीकी लगती है।
- काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य मूलतः- गुण, रस, रीति, आदि अलंकार पर आश्रित है। अलंकारों के अन्तर्गत गुण, दोष आदि सभी काव्यांगों की गणना की जाती है।

- अलंकार रस या काव्य का प्राणतत्व नहीं बल्कि रस को प्रकाशित करने वाला धर्म है .
- अलंकार काव्य में सीधे सौन्दर्य प्रदान करने वाले साधन मात्र नहीं बल्कि गुणों को उत्कर्ष प्रदान करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं. गुण ही हैं जो काव्य को शोभा प्रदान करते हैं।

उपरोक्त विवेचना से निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अलंकार काव्य का अनिवार्य तत्व नहीं है वह शब्दार्थ के साधन द्वारा रस का उपकारक है। 'अनलंकृति पुनः क्वापि' के माध्यम से आचार्य मम्मट ने मूलतः यही सिद्ध करने का प्रयास किया है. कहना न होगा कि अलंकार काव्य के बाह्य शोभा कारक धर्म हैं। आचार्य विश्वनाथ और मम्मट के विचारों से यही पुष्ट होता है। भामह, दण्डी, उद्भट भी केवल अलंकारों को काव्य का अनिवार्य साधन मानते हैं। आन्तरिक धर्म नहीं। यह दृष्टिकोण मूलतः ध्वनिवादियों का है। अलंकार वादी तो अलंकार को काव्य का सर्वस्व मानते हैं।

3.3.4 काव्य में अलंकारों का महत्व-

विभिन्न आचार्यों के अलंकारों के स्वरूप से संबंधित विवेचना से हम जान चुके हैं कि अलंकार मूलतः काव्य के बाह्य साधन हैं. हम जानते हैं कि काव्य में अलंकारों द्वारा चमत्कार और आनन्द उत्पन्न किया जाता है जिससे काव्य और अधिक रोचक और ग्राह्य बनता है। प्राचीन से अर्वाचीन तक के सभी साहित्याचार्यों की अलंकार संबंधी विवेचना पर गौर किया जाए तो कहना न होगा कि अलंकार काव्य के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं तो आवश्यक जरूर हैं वे काव्य में उस गुण की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं. जिसके कारण पाठक बार-बार काव्य की ओर आकर्षित होता है। काव्य का कुशल कलाकार अलंकारों के प्रयोग के समय सचेत रहता है कि कहीं काव्य में अलंकार हावी न हो जाए और कविता की मूल संवेदना में बाधा न पहुँचे इसलिए वह सन्तुलित होकर चलता है. यह सन्तुलन संवेदना और सौन्दर्य का होता है तात्पर्य यह कि जब कोई पाठक कविता का रसास्वादन करे तो संवेदना तक पहुँचे इन्द्रधनुषी रंगों के साथ। न कि रूखे-सूखे धुन्ध भरे आकाश की तरह। कविता में इन्द्रधनुषी रंग अलंकारों के माध्यम से ही भरे जा सकते हैं। कहना न होगा कि काव्य में नीरसता को दूर करने के लिए अलंकारों का समुचित प्रयोग आवश्यक जान पड़ता है।

इससे पहले भी आप जान चुके हैं कि स्त्री में प्राकृतिक सुन्दरता होने पर भी वह अपने सौन्दर्य में वृद्धि के निमित्त आभूषणों का प्रयोग करती है। कारण साफ है कि वह बाह्य सौन्दर्य वृद्धि के साथ-साथ अपनी आन्तरिक तुष्टि चाहती है यह तुष्टि उसके प्रसन्नचित चेहरे से प्रकट होकर उसके प्राकृतिक सौन्दर्य में चार चाँद लगा देती है। ठीक इसी सन्दर्भ में हम अलंकारों को देखें तो मूलतः अलंकार काव्य में बाह्य शोभा वृद्धि के कारक है, किन्तु यह कहने में अति न होगी कि इनके समावेश से काव्य की आन्तरिक ध्वन्यात्मकता भी आकर्षक एवं हृदय ग्राही रूप धारण कर सहृदय को चरमोल्लास

की स्थिति तक पहुँचाती है। काव्य में अलंकारों के महत्व पर विचार करते समय इस सन्दर्भ में भी विचार करना महत्वपूर्ण लगता है कि क्या अलंकारों के अतिशय प्रयोग से काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि हो सकती है? आप सभी जानते हैं कि सुन्दर नारी यदि आभूषणों से ही लद जाए तो वह सुन्दर के बजाए कुरूप ही अधिक लगेगी, उसका भड़कीलापन सहृदय में कुरुचि ही उत्पन्न करेगा। ठीक यही बात कविता पर भी लागू होती है। अभिव्यक्ति के समय कवि को अलंकारों के संयमित प्रयोग के लिए सचेत रहना चाहिए क्योंकि किसी भी काव्यांग की अधिकता काव्य के लिए उचित नहीं जान पड़तीं। शब्दों के माध्यम से अत्यधिक चमत्कार उत्पन्न कर देना और जटिल अर्थों की अत्यधिक योजना के कारण कहीं ऐसा न हो कि 'बात सीधी थी पर भाषा के चक्कर में टेढ़ी हो गई' तात्पर्य यह कि अलंकारों की अधिकता से कवि की मूल संवेदना सहृदय तक पहुँचे ही नहीं। इसलिए अलंकार पर अपने मत व्यक्त करने वाले सभी आचार्य इस तथ्य पर एकमत हैं कि अलंकार न केवल चमत्कार और कौतुहल उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त न हों अपितु उनका प्रयोग मूल संवेदना की रक्षा तथा सहृदय के मनोरंजन के लिए हो।

3.3.5 अलंकारों का वर्गीकरण

आप काव्य में अलंकारों के महत्व को जान चुक हैं। आइए अब उनके वर्गीकरण के बारे में जानकारी प्राप्त करें।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है- अलंकार वर्णन करने की चमत्कार पूर्ण शैलियाँ हैं ये शैलियाँ न जाने कितनी हो सकती हैं अलंकारों के वर्गीकरण व संख्या के संबंध में इनकी यह टिप्पणी अक्षरसः सही है। भारतीय साहित्यशास्त्र के पहले प्रथम उपलब्ध एवं प्रामाणिक ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' के रचानाकार भरतमुनि ने अलंकारों की संख्या चार निर्धारित की थी बाद में इस संख्या में उतरोत्तर वृद्धि होती गई जहाँ तक अलंकारों के सर्वप्रथम वर्गीकरण का प्रश्न है इसे आधार दिया है राजानक रय्यक ने। इन्होंने जो मान्यताएँ दी उनके आधार पर अलंकारों के वर्गीकरण से संबंधित दो सिद्धान्त उभरकर सामने आते हैं-

पहला- आश्रयाश्रित सिद्धान्त।

दूसरा- अन्वय व्यतिरेक सिद्धान्त।

आश्रयाश्रित सिद्धान्त- 12 वीं शताब्दी के अन्त में आचार्य रूय्यक ने अपने ग्रन्थ 'अलंकार सर्वस्व' में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया इनके अनुसार जो अलंकार शब्द पर आश्रित है वे शब्दालंकार है और जो अर्थ पर आश्रित हैं वे अर्थालंकार है।

अन्वय व्यतिरेक सिद्धान्त- इस सिद्धान्त के संबंध में आचार्य मम्मट ने कहा है कि - विशिष्ट शब्द होने पर अलंकार विशेष हों तो शब्दालंकार होगा और विशिष्ट शब्द के न रहने पर शब्दालंकार अलंकारत्व में कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अन्वय व्यतिरेक तर्क का आधार है- पूर्ववर्ती आधार के रहने पर आघृत का रहना। इसके लिए 'प्रवृत्ति सहत्व' साक्ष्य है। उदाहरणार्थ बन्दहु गुरु पद पदुम परागा'

को लें तो यहाँ पर 'प' वर्ण की आवृत्ति बार-बार होनेपर अनुप्रास अलंकार है इसके स्थान पर यदि यही अर्थ ध्वनित करने वाले पद 'चरण-कमल-मकरन्द' करे रख दें तो अर्थ तो वही रहेगा लेकिन अनुप्रास अलंकार नहीं रहेगा। इसी सन्दर्भ में आगे चलकर अग्निपुराण के रचयिता ने अलंकारों के तीन स्पष्ट विभाजन किए जो बहुप्रचलित हैं-

1. शब्दालंकार
2. अर्थालंकार
3. उभयालंकार

तत्पश्चात् आचार्य भोज ने दण्डी के वर्गीकरण को केन्द्र में रखकर सभी अलंकारों को शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार में विभाजित किया साथ ही इन तीनों वर्गों के अन्तर्गत आने वाले अलंकारों की सूची भी दी जिसका विवरण निम्न प्रकार है-

शब्दालंकार- जाति, रीति, गति, वृत्ति, छाया, उक्ति, मुद्रा, भणति, गुम्फन, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वक्रोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनय।

उभयालंकार- उपमा, रूपक, साक्य, संशयोक्ति, समाधि, युक्ति, अपहन्हुति, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, उल्लेख, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेष, दीपक, क्रम, परिकर, अतिशय, पर्याय, संतुष्टि, भाविक एवं श्लेष।

आधुनिक काल में भी बहुविध समालोचकों ने उनमें सर्वाधिक मान्यता डॉ० नगेन्द्र के वर्गीकरण को मिली अपने ग्रन्थ 'रीति काव्य की भूमिका' में इन्होंने व्यक्ति की मानसिक दशाओं को आधार बनाकर अलंकारों को छः वर्गों में विभाजित किया है-

1. साधर्म्य प्रधान (मानसिक स्पष्टता)
2. अतिशय मूलक (विस्तार)
3. वैसम्य मूलक (आश्चर्य)
4. औचित्य मूलक (अन्विति)
5. वक्रता मूलक (जिज्ञासा)
6. चमत्कार मूलक (कोतुहल)

बोध प्रश्न- क

1. अलंकार से क्या तात्पर्य है? संक्षेप में उत्तर दीजिए?
2. आचार्य दण्डी द्वारा अलंकारों के संबंध में दी गई परिभाषा लिखिए?
3. भामह ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में कितने अलंकारों का उल्लेख किया है?
4. "कथ्य विशेष की शैली ही अलंकार है" यह कथन किसका है?

अ-भामह

ब- दण्डी

स-वामन

द-कुन्तक

बोध प्रश्न -ख

1. आचार्य भामह ने अलंकार का सर्वस्व किसे माना है?
2. आचार्य दण्डी ने किन-किन उपकरणों को अलंकार के अन्तर्गत समाहित करने का प्रयास किया है?
3. 'अनलंकृति पुनः क्वापि' किसने कहा है?

अ-भामह

ब-दण्डी

स-वामन

द-मम्मट

4. 'अलंकार शब्द और अर्थ का अस्थि धर्म है' किसने कहा है?

अ-आनन्दवर्धन

ब-विश्वनाथ

स-मम्मट

द-दण्डी

बोध प्रश्न - ग

1. अलंकारों के वर्गीकरण को सर्वप्रथम आधार किसने दिया?
 2. आश्रयाश्रित सिद्धान्त के प्रतिपादक कौन है
- अ- विश्वनाथ
 ब- रूय्यक
 स- भोज
 द- नगेन्द्र
3. अलंकारों का बहुप्रचलित वर्गीकरण शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार को सर्वप्रथम आधार किसने दिया?
 4. आधुनिक काल के किस समालोचक के अलंकारों से संबंधित वर्गीकरण को सर्वाधिक मान्या मिली?

3.4 अलंकारों के प्रमुख भेद

आप अलंकारों के वर्गीकरण की परम्परा और विभिन्न आचार्यों द्वारा किए गए उनके वर्गीकरण के बारे में जान चकें हैं। आइए अब अलंकारों के बहुप्रचलित वर्गीकरण शब्दालंकार, अर्थालंकार, और उभयालंकार के साथ ही इनके अन्तर्गत आने वाले प्रमुख अलंकारों के बारे में जानकारी प्राप्त करें।

3.4.1 शब्दालंकार-

जहाँ काव्य में शब्दों के माधम से चमत्कार उत्पन्न होता है वहाँ शब्दालंकार होता है। जैसा कि नाम और परिभाषा से ही जाहिर है कि इसमें शब्दों का सौन्दर्य ही प्रमुख होता है ये शब्द पर आधारित होते हैं। इनमें कुछ विशेष शब्दों द्वारा काव्य सौन्दर्य में वृद्धि होती है ये विशेष शब्द जिस काव्य सौन्दर्य का प्रतिपादन करते हैं उनके स्थान पर यदि उनके पर्यायवाची शब्दों को रख दिया जाए तो काव्य सौन्दर्य में वृद्धि असम्भव है। मसलन हम कहें कि- **चारू चन्द्र की चंचल किरणे खेल रही थी जल, थल में** यहाँ चारू, चन्द्र, और चंचल शब्दों में सौन्दर्य है इनके स्थान पर यदि इनके पर्यायवाची शब्द सुन्दर, मयंक, और अस्थिर रख दें तो काव्य में न ही नादात्मक सौन्दर्य आ पाएगा और न ही संगीतात्मकता कहना न होगा कि शब्दालंकार में विशिष्ट शब्दों का विशेष महत्व होता है।

यह शब्दालंकार काव्य में मूलतः दो प्रकार से आ सकता है। 1- वर्ण सौन्दर्य के द्वारा 2- वाक्य सौन्दर्य के द्वारा।

आचार्य मम्मट ने मूलतः छः शब्दालंकार माने हैं- अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र।

यहाँ हम प्रमुख शब्दालंकारों की विवेचना करेंगे- अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, पुनरुक्तवदाभास, वीप्सा, तथा पुनरुक्ति प्रकाश।

अनुप्रास- वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं तात्पर्य यह कि जब एक वर्ण या वर्ण समूह की दो या उससे अधिक बार आवृत्ति हो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है। जैसे-

“कल-कल कोमल कुसुम कुंज पर।
मधु बरसाने वाला कौन।”

नोट- व्यंजनों की बार-बार आवृत्ति होने पर ही अनुप्रास अलंकार होता है स्वरों की नहीं अनुप्रास मूलतः दो प्रकार का होता है- वर्णानुप्रास और पदानुसार। वर्णानुप्रास के भी दो भेद होते हैं- छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास।

छेकानुप्रास- छेक का अर्थ है चतुर! जहाँ अनेक वर्णों की एक बार स्वरूप और क्रम से आवृत्ति (सादृश्य) हो वहाँ छेकानुप्रास होता है चतुरों को अधिक प्रिय होने के कारण इसका नाम छेकानुप्रास पड़ा।

‘सर-सर हँस न होत बाजि गजराज न दर-दर।
तरू-तरू सुफल न होत नारि पतिव्रता धर-धर।।’

इन पंक्तियों में ‘सर-सर’, ‘दर-दर’, ‘तरू-तरू’, में छेकानुप्रास है क्योंकि यहाँ अनेक वर्णों की एक बार स्वरूप और क्रम से आवृत्ति हुई है।

वृत्यानुप्रास- जब एक साथ अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति हो वहाँ वृत्यानुप्रास होता है जैसे-

‘सम सुवरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर।।’

इन पंक्तियों में ‘स’ वर्ण की अनेक बार आवृत्ति क्रमशः हुई है अतः वृत्यानुप्रास अलंकार है।

लाटानुप्रास- छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास में आप देख चुके हैं कि दानों में वर्ण या समूह की आवृत्ति होती है लेकिन लाटानुप्रास में एक शब्द या वाक्य दो या उससे अधिक बार आता है किन्तु अन्वय करने पर उसका अर्थ भिन्न हो जाता है। लाट देश यानी गुजरात के विदग्ध लोगों को विशेष रूप से प्रिय होने के कारण इसे लाटानुप्रास कहते हैं। जैसे-

‘पराधीन जो जन नहीं स्वर्ग नरक ता हेतु।
पराधीन जो जन, नहीं स्वर्ग नरक ता हेतु।’

इस दोहे का अर्थ अन्वय करने पर इस प्रकार होगा- जो मनुष्य गुलाम नहीं, उसके लिए नरक भी स्वर्ग है जो मनुष्य गुलाम है उसके लिए स्वर्ग, स्वर्ग नहीं नरक है।

एक बहुप्रचलित उदाहरण और देखिए-

पूत सपूत तो का धन संचय? पूत कपूत तो का धन संचय?

यमक: जब एक या एक से अधिक शब्द एक से अधिक बार प्रयुक्त हों एवं उनका प्रत्येक बार अर्थ अलग-अलग हो वहाँ यमक अलंकार होता है। जैसे-

‘तों पर वारों उरवसी सुनि राधिके सुजाना
तू मोहन के उस वसी है, उसवसी समाना।’

यहाँ पहली पंक्ति में उरवसी का अर्थ उर्वशी है दूसरी में उर वसी यानी हृदय में वसी के अर्थ में है।

श्लेष- श्लेष का अर्थ है चिपकना। जहाँ किसी एक शब्द में कई अर्थ चिपके हों वहाँ श्लेष अलंकार होता है तात्पर्य यह कि जहाँ कवि एक से अधिक अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग करके काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है वहाँ श्लेष अलंकार होता है उदाहरण के लिए-

‘चरन धरत शंका करत भावत नीद न शोर’
सुबरन को ढूढ़त फिरत कवि, व्यभिचारी चोरा।’

यहाँ सुबरन शब्द से काव्य में चमत्कार उत्पन्न हुआ है और उसके विभिन्न संदर्भों में तीन अर्थ हैं- कवि के संदर्भ में सुन्दर वर्ण, व्यभिचारी के संदर्भ में सुन्दर रूप रंग या शरीर, चोर के संदर्भ में सोना। अतः उपरोक्त में श्लेष अलंकार है।

एक और उदाहरण देखिए-‘रहिमन पानी राखिए बिन पानी सब सूना।
पानी गए न उबरे मोती मानस चूना।’

यहाँ भी पानी शब्द तीन विभिन्न अर्थ संदर्भों में प्रयुक्त हुआ है। मोती के संदर्भ में कान्ति, मनुष्य के संदर्भ में प्रतिष्ठा और चूने के संदर्भ में पानी। अतः श्लेष अलंकार है।

वक्रोक्ति- वक्रोक्ति का अर्थ है ‘वक्र या टेढ़ी उक्ति’ अर्थात् किसी वक्ता द्वारा कही गई उक्ति का अर्थ घुमा-फिरा कर दूसरा ही ग्रहण करना। कहना न होगा कि जहाँ किसी उक्ति में वक्ता के अभिप्रेत आशय से भिन्न अर्थ की कल्पना की जाए वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है- इसके दो भेद हैं-

1- श्लेष वक्रोक्ति

2- काकु वक्रोक्ति-

उदाहरण के लिए रावण - अंगद का संवाद देखिए-

‘सो भुजबल राख्यो उर घाली

तीतेउ सहसबाहु बलि, बाली।’

यहाँ जीतेउ का अर्थ हारेउ हो गया है अर्थात् उपरोक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा- सहस्रार्जुन, बलि बालि से आप हारे थे। अतः वक्रोक्ति अलंकार है।

पुनरुक्तिवदाभास- जहाँ दो शब्दों के अर्थ में पुनरुक्ति का अभास हो किन्तु वास्तविक अर्थों में दोनों एक ही अर्थ के द्योतक न होकर भिन्न-भिन्न अर्थों के द्योतक हों वहाँ पुनरुक्तिवदाभास अलंकार होता है। जैसे-

समय जा रहा है काल है आ रहा ।

सचमुच उल्टा भाव भुवन में छा रहा ॥

उपरोक्त पंक्तियों में ‘समय’ और ‘काल’ शब्दों से प्रतीत हो रहा है कि दोनों के अर्थ समान हैं किन्तु गौर करें तो यहाँ काल का अर्थ ‘मृत्यु’ है न कि समय । अतः यहाँ पुनरुक्ति न होकर पुनरुक्ति का आभास हो रहा है अतः यहाँ पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

पुनरुक्ति प्रकाश- जहाँ काव्य में एक शब्द की एक या एक से अधिक बार आवृत्ति हो उनका अर्थ भी समान हो वहाँ पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार होता है। जैसे-

छिल-छिल कर छाले फोड़े, मल-मल कर मृदुल चरण से ।

घुल-घुल कर वह रह जाते, आँसू करूणा के कण से ॥

उपरोक्त काव्यांश में ‘छिल-छिल,’ ‘मल-मल,’ ‘घुल-घुल’, शब्दों में पुनरुक्ति प्रकाश है।

नोट- पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार काव्य में अर्थ की रुचिरता बढ़ाने के लिए प्रयुक्त होता है।

वीप्सा- पुनरुक्ति प्रकाश की तरह ही इस अलंकार में भी शब्दों की पुनरावृत्ति होती है किन्तु यह आवृत्ति अर्थ की रुचिरता या सौन्दर्य वर्धन के लिए नहीं अपितु मनोवेगों मसलन आदर, उत्साह, आश्चर्य, शोक, घृणा आदि की तीव्रता प्रकट करने के लिए होती है। काव्य में जहाँ ऐसा हो वहाँ वीप्सा अलंकार होता है।

‘राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई।’

यहाँ राम कहत चलु की बार-बार आवृत्ति मूलतः भक्ति का आवेग प्रकट करने के लिए हुई है। अतः यहाँ वीप्सा अलंकार है।

3.4.2 अर्थालंकार:

आप शब्दालंकार एवं उसके अन्तर्गत आने वाले महत्वपूर्ण अलंकारों के संबंध में जान चुके हैं। आइए अब हम अर्थालंकार और इसके अन्तर्गत आने वाले कुछ महत्वपूर्ण अलंकारों के बारे में जानकारी प्राप्त करें। जब काव्य में सौन्दर्य शब्द के बजाय उसके अर्थ द्वारा आता है वहाँ अर्थालंकार होता है अब आप अर्थालंकार के स्वरूप को समझ गए होंगे। शब्दालंकार में जहाँ काव्य में चमत्कार शब्द में निहित होता है वहीं अर्थालंकार में चमत्कार अर्थ में निहित होता है। आइए अब कुछ महत्वपूर्ण अर्थालंकारों उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान, संदेह, मानवीकरण और विरोधाभास की परिभाषा सहित व्याख्या करते हैं।

उपमा- उपमा का शाब्दिक अर्थ है 'उप' (समीप) 'मा' (मापना तौलना) अर्थात् जहाँ दो भिन्न पदार्थों की आपस में तुलना कर उनकी समानता व्यक्त की जाए वहाँ उपमा अलंकार होता है। यह सभी सादृश्यमूलक अलंकारों का मूलाधार माना जाता है। इसके चार अंग हैं।

1. उपमेय- जिसको उपमा दी जाए।
2. उपमान- जिससे उपमा दी जाए।
3. साधारण धर्म- उपमेय तथा उपमान में उपस्थित वह गुण जो दानों में समान रूप से पाया जाता है जैसे 'मुख चन्द्रमा सा सुन्दर' है। इस वाक्य में मुख (उपमेय) चन्द्रमा (उपमान) और दोनों में समान रूप से पाया जाने वाला साधारण धर्म यानी गुण सुन्दर है।
4. वाचक शब्द- उपमेय तथा उपमान में सादृश्य बताने वाला शब्द (समान, सा,सादृश्य) वाचक कहलाता है। जैसे मुख चन्द्रमा के सा सुन्दर है वाक्य में 'सा' शब्द वाचक है।

उपमा के प्रमुख दो भेद होते हैं-

1. पूर्णोपमा
2. लुप्तोपमा

रूपक - जहाँ उपमेय और उपमान का निषेध रहित आरोप हो वहाँ रूपक अलंकार होता है। आरोप से आशय है - एक वस्तु से दूसरी वस्तु को साथ इस प्रकार रखना कि दोनों में अभेद हो जाए अर्थात् कोई अन्तर न रहे।

जैसे- 'अधर-लता के फूल सुनहले, लाज-अनिल से झर जाते।' इसकी प्रथम पंक्ति में अधर (उपमेय) का लता (उपमान) का दूसरी पंक्ति में लाज (उपमेय) का अनिल (उपमा) का निषेध रहित आरोप है अतः यहाँ रूपक अलंकार है।

उत्प्रेक्षा - उत्प्रेक्षा का शाब्दिक अर्थ है- उत्कृष्ट रूप में प्रकष्ट (उपमान) को देखना अर्थात् सम्भावना करना। यानी जहाँ उपमेय और उपमान भिन्न होते हुए भी इनमें समानता की सम्भावना मानी जाए वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। जैसे-

‘सोहत ओढ़े पीत-पट श्याम सलोने गाता’
मनहूँ नीलमनि शैल पर आतप परयो प्रभाता।’

उपरोक्त दोहे में पीताम्बर धारी श्याम कृष्ण- बिहारी (उपमेय) में नीलमणि पर्वत पर प्रातः कालीन धूप (उपमान) की सम्भावना व्यक्त की गई है अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

भ्रान्तिमान - जहाँ सादृश्य के कारण उपमेय में उपमान का भ्रम हो, साथ ही उपमेय को उपमान समझ लिया जाए वहाँ भ्रान्तिमान अलंकार होता है। जैसे-

बिल विचार कर नाग सूँड में घुसने लगा विषैला साँप ।

काली ईख समझ विषधर को उठा लिया गज ने झट आप ॥

उपरोक्त पंक्तियों में भ्रम के कारण हाथी के सूँड का छिद्र साँप को बिल प्रतीत हो रहा है तथा हाथी को विषैले साँप में काली ईख का भ्रम हो रहा है अतः यहाँ भ्रान्तिमान अलंकार है।

संदेह - जहाँ उपमेय और उपमान में अत्यधिक समानता देखकर यह निश्चय नहीं हो पाता कि इनमें कौन उपमेय है? कौन उपमान। अर्थात् संदेह बना रहता है वहाँ संदेह अलंकार होता है। जैसे-

सारी बीच नारी है कि नारी बीच सारी है।

कि सारी ही कि नारी है कि नारी ही कि सारी है?

उपरोक्त पंक्तियों में द्रापदी के चीर हरण के समय चीर का ढेर देखकर संदेह हो रहा है कि साड़ी के बीच में नारी है कि नारी के बीच में साड़ी है अतः यहाँ संदेह अलंकार है।

मानवीकरण - जहाँ प्रकृति, पशु-पक्षी, एवं निर्जीव पदार्थों अर्थात् मानव से इतर पदार्थों में मानवीय गुण आरोपित किए जाएँ वहाँ मानवीकरण अलंकार होता है। जैसे-

बीती विभावरी जाग री’

अम्बर-पनघट में डुबो रही तारा-घट उषा-नगरी॥’

यहाँ रात्रि बीतने और उषा काल का वर्णन करते समय कवि ने उषा को युवती के रूप में चित्रित किया है जो आकाश रूपी पनघट में तारे रूपी घड़े को डुबो रही है। अतः यहाँ मानवीकरण अलंकार है।

विराधाभास - जहाँ वास्तव में दो वस्तुओं में विरोध न हो केवल विरोध का आभास हो वहाँ विराधाभास अलंकार होता है। जैसे-

तंत्री नाद कविता रस, सरस राग, रति रंग ।

अनबूढ़े तिरे जे बूढ़े सब अंग ॥

उपरोक्त दोहे में 'जो नहीं डूबे थे वे डूबे गए' और जो अच्छी तरह डूब गए वे तर गए' में विरोध प्रतीत हो रहा है। लेकिन वास्तव में विचार किया जाए तो यहाँ कवि का तात्पर्य यह है कि जो संगीत, काव्य और प्रेम में लीन नहीं होते वे असफल हो जाते हैं जो पूरी तरह तल्लीन हो जाते हैं वे सफल हो जाते हैं अतः यहाँ विरोध का आभास मात्र है विरोध नहीं। इसलिए यहाँ विरोधाभास अलंकार है।

3.4.3 उभयालंकार:

आइए अब उभयालंकार के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। काव्य में अनेक बार एक ही स्थान पर दो या दो से अधिक अलंकार विद्यमान होते हैं ऐसे स्थान पर उभयालंकार होता है। जैसे-

सम सुबरन सषमाकर सुखद न थोर ।

सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर ॥

उपरोक्त पंक्तियों में पहली पंक्ति में पहली पंक्ति में अनुप्रास और दूसरी पंक्ति में व्यतिरेक अलंकार है। अतः यहाँ पर उभयालंकार है।

3.5 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- भारतीय काव्य शास्त्र में वर्णित अलंकार सम्प्रदाय और उसकी परम्परा की विवेचना कर सकते हैं।
- अलंकार से आशय एवं उसके स्वरूप के बारे में बता सकते हैं।
- अलंकार संबंधी अलंकार वादी मतों के बारे में बता सकते हैं।
- अलंकारों का बहुप्रचलित वर्गीकरण शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं उभयालंकार तथा इनके अन्तर्गत आने वाले प्रमुख अलंकारों को बता सकते हैं।

3.6 शब्दावली

अलंकृत	-	सजा हुआ
प्रणीत	-	बना हुआ, निर्मित
उपरान्त	-	बाद में

तुष्टि	-	संतोष
निषेध	-	अभाव

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न- क

1. देखिए इकाई भाग 3.3.1
2. काव्य शोभाकारान धर्मानलंकार प्रचक्षते।
3. अड़चालीस
4. द- कुन्तक

बोध प्रश्न - ख

1. वक्रोक्ति
2. सभी शोभाकारक उपकरणों को
3. द- मम्मट
4. आचार्य विश्वनाथ

बोध प्रश्न- ग

1. राजानक रुय्यक ने
2. रुय्यक
3. आचार्य दण्डी ने
4. डॉ० नगेन्द्र को

3.2.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री

विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी, चन्द्रलोक सुधा, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 1961।

राम बिहारी शुक्ल, काव्य प्रदीप, हिन्दी भवन जालन्धर और इलाहाबाद।

डॉ० नगेन्द्र, रीति काव्य की भूमिका-नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, 1977

डॉ० नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका- नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, 1977

डॉ० रामचन्द्र तिवारी, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र की लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2007।

डॉ० तारक नाथ वाली, भारतीय काव्य शास्त्र, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2010

गणेश यम्बक देशपाण्डे, भारतीय साहित्य शास्त्र, राजपाल एण्ड संस नई दिल्ली, 1958।

डॉ० भगीरथ मिश्र एवं डॉ० बलभद्र तिवारी, काव्यांग विवेचन, स्मृति प्रकाशन इलाहाबाद।

7.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. अलंकार से आप क्या समझते हैं ? काव्य में अलंकारों का महत्व बताते हुए अलंकार सम्प्रदाय की विस्तृत विवेचना कीजिये .
2. अलंकारों की परिभाषा देते हुए अलंकारों के प्रमुख वर्गीकरण एवं भेदों की विस्तार से विवेचना कीजिये .

इकाई 4 भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय : ध्वनि

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 उद्देश्य
- 4.3 ध्वनि का अभिप्राय
- 4.4 ध्वनि और शब्दशक्तियाँ
 - 4.4.1 अभिधा
 - 4.4.2 लक्षणा
 - 4.4.3 व्यंजना
- 4.5 ध्वनिसिद्धान्त का प्रवर्तन
- 4.6 ध्वनिकाव्य के भेद
- 4.7 हिन्दीसाहित्यशास्त्रियों का ध्वनिचिन्तन
- 4.8 पश्चिम के साहित्यशास्त्रियों का ध्वनिचिन्तन
- 4.9 सारांश
- 4.10 शब्दावली
- 4.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 4.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 4.13 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 4.14 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में ध्वनि सिद्धान्त का बहुत महत्व है। इसके प्रवर्तन का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को जाता है। इस सिद्धान्त से पहले भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में तीन सिद्धान्तों को आचार्यों ने अत्यधिक विस्तार और गहराई से विवेचन किया था। आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि आचार्यों ने अलंकार सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित किया था, भारतीय काव्यशास्त्र के आद्याचार्य भरतमुनि ने रस को महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी सिद्ध किया था और आचार्य वामन ने रीति सम्प्रदाय का विश्लेषण विवेचन करके रीति के लिए काव्यात्मा शब्द का व्यवहार किया।

आचार्य वामन ने भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में काव्यशास्त्रियों को काव्य के जीवनाधारक सूक्ष्म तत्व के विषय में विचार करने के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी, जिसके परिणामस्वरूप अन्य सिद्धान्तों- ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य का आचार्यों ने काव्यात्मा के रूप में प्रतिपादन किया। ध्वनि सिद्धान्त इन सभी सिद्धान्तों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण काव्यसिद्धान्त बना। इस सिद्धान्त का स्रोत वैयाकरणों के 'स्फोट' सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की स्थापना के लिए ध्वनिवादियों को काव्यशास्त्रियों के बहुत विरोध का सामना करना पड़ा था, लेकिन प्रतिष्ठित होने के बाद यह सिद्धान्त काव्यशास्त्रियों के विवेचन का विषय शताब्दियों तक रहा। आज भी उत्तर-आधुनिकतावादी चिन्तन के सूत्र ध्वनि सिद्धान्त में खोजे जा सकते हैं।

इस इकाई के अध्ययन से आप ध्वनिसिद्धान्त के विषय में समग्रतः परिचित हो सकेंगे कि ध्वनि क्या है? ध्वनि के आधार पर काव्य के कौन कौन से भेद हैं? काव्य में शब्दशक्तियों का क्या महत्व है? पश्चिम में कल्पना विषयक विचार और ध्वनिसिद्धान्त में परस्पर क्या समानताएं हैं।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप...

- * बता सकेंगे कि ध्वनि क्या है।
- * समझा सकेंगे कि ध्वनि और शब्दशक्तियों का काव्य में क्या महत्व है।
- * समझा सकेंगे कि क्या ध्वनि काव्य की आत्मा है।

4.3 ध्वनि का अभिप्राय

ध्वनि से पूर्व जो तीन काव्यसिद्धान्त काव्यशास्त्रियों की विवेचना का विषय बने, उन पर यदि हम विचार करें तो सामान्यतः हम कह सकते हैं कि रससिद्धान्त यदि काव्य के भावपक्ष पर विशेष प्रकाश डालता है, तो अलंकार सिद्धान्त काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष पर। हालाँकि अलंकारवादियों ने रसवादों के द्वारा काव्य के वस्तुपक्ष पर भी विचार किया, लेकिन

काव्य के बाह्य रूपाकार पर विशेष ध्यान रखने के कारण इस सिद्धान्त द्वारा काव्य का पूरा पूरा विवेचन नहीं किया जा सकता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए रीतिसिद्धान्त के प्रवर्तक वामन ने गुणाधारित रीति व्यवस्था का निर्देश किया और गुणों के द्वारा काव्य की शैली को समझने का प्रयास किया, उन्होंने रस को 'कान्ति' नामक गुण का विषय माना और अलंकारों को काव्योत्कर्ष का साधन मानकर रस और अलंकार को व्यवस्थित करने का प्रयास किया। पर कतिपय दोषों के कारण यह सिद्धान्त बहुत स्वीकृत नहीं हो सका। परिणामतः परवर्ती आचार्यों ने ऐसे तत्वों की खोज करनी शुरु की, जो काव्य में गुणों से परे हो, जो काव्य में व्याप्त हो और जो शब्द और अर्थ से परे हो, और इस खोज के परिणामस्वरूप ध्वनि सिद्धान्त का उदय हुआ। यह सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि काव्य में सामान्य शब्दार्थ के अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ छिपा होता है, जो शब्द और अर्थ में नहीं होता है, पर रचनाकार का अभिप्रेत होता है।

ध्वनि शब्द काव्यशास्त्र में वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आया है, जिसका सामान्यतः अर्थ है आवाज़, दो वस्तुओं के परस्पर टकराने से उत्पन्न आवाज़, कानों को सुनाई पड़ने वाला नाद। 'स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः'- यानी जिस शब्द से अर्थ फूटता है, अभिव्यक्त होता है, वह स्फोट है। यह नित्य एक और अखण्ड है। यह स्फोट शब्द का होता है, वाक्य का होता है, पूरे प्रबन्ध का होता है। वैयाकरणों की दृष्टि में स्फोट का अर्थ है- 'पूर्ववर्ती वर्णों के उच्चारण के संस्कार के साथ अन्तिम वर्ण के उच्चारण के अनुभव से अर्थ की अभिव्यक्ति'। अर्थात् व्याकरण के अनुसार कोई भी शब्द ध्वनियों का समूह है। जब हम किसी शब्द का उच्चारण करते हैं तो क्रमशः कई ध्वनियाँ हमारे कानों तक पहुँचती हैं, लेकिन शब्द की अन्तिम ध्वनि कानों तक पहुँचते पहुँचते आरम्भ की सभी ध्वनियाँ तिरोहित हो जाती हैं। यहाँ सवाल उठता है कि हमें शब्द के अर्थ का बोध किस ध्वनि से होता है? यदि हम संगीत शब्द का उच्चारण करते हैं, तो सं उच्चारण के समय ग्, ई, त् और अ ध्वनियाँ तो हैं ही नहीं, यदि हम यह मानते हैं कि त ध्वनि अर्थ का बोध कराती है, तो स् अ ग् ई त् और अ ध्वनियों की क्या जरूरत? इसके लिए वैयाकरण एक नित्य शब्द की कल्पना करते हैं और उसे स्फोट कहते हैं। वे कहते हैं कि पृथक् पृथक् वर्णों से अर्थबोध न होकर स्फोट से होता है। तीनों ध्वनियों का उच्चारण एकसाथ हो नहीं सकता। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ठीक है कि तीनों ध्वनियाँ एक साथ उच्चरित नहीं हो सकतीं, लेकिन पूर्व पूर्व वर्ण संस्कार रूप में तो हमारे मानस में स्थित हो जाते हैं, ये संस्कार अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ अर्थबोध कराते हैं। किसी भी शब्द में वर्णों के संयोग-वियोग से (जैसे संगीत शब्द में स्+अ+अनुस्वार+ग्+ई+त्+अ इन सात वर्णों का उपयोग होता है, ये सभी वर्ण अनित्य हैं और इनसे उच्चरित किये जाने वाले शब्द से नित्य ध्वनिरूप शब्द प्रकट होता है और इससे) जो स्फोट उत्पन्न होता है, उसे ध्वनि कहते हैं-

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजायते।

स स्फोटः शब्दजः शब्दोध्वनिरित्युच्यते बुधैः। -भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्

स्पष्ट है कि स्फोट के व्यंजक अर्थ को ध्वनि कहते हैं। ध्वनि सिद्धान्त के आचार्यों ने यह पाया कि शब्द के कोशगत, व्यवहार में प्रयुक्त अर्थ सामान्यतः स्वीकृत होते हैं, शास्त्रादि विषयों के विवेचन में भी समर्थ होते हैं लेकिन साहित्य में कोशगत अर्थ से काम नहीं चलता। वहाँ तो कवि का अभिप्रेत अर्थ मुख्य हो जाता है। उदाहरणतः यदि कवि यह कहता है कि -

'कितना चौड़ा पाट नदी का कितनी भारी शाम,
कितने खोये खोये से हम कितना तट निष्काम'-सर्वेश्वर दयाल सक्सेना,

तो कवि नदी के चौड़े पाट के विषय में नहीं बता रहा होता है, वह अपनी अन्यमनस्कता, अपनी उदासी के विषय में भी बता रहा होता है। वह जो बताना चाहता है, वह शब्दों में नहीं कह रहा है, पर शब्दों से जो अर्थ निकल रहा है, वही अभिप्रेत अर्थ ध्वनिवादियों के अनुसार ध्वनि है। यह ध्वनि काव्य की आत्मा है। स्पष्ट है कि ध्वनिवादियों ने जिस ध्वनि की व्याख्या की है, उसका सम्बन्ध शब्द की व्यंजना शक्ति से है अतः ध्वनि को जानने से पहले शब्दशक्तियों के विषय में जानना जरूरी है।

4.4 ध्वनि और शब्द-शक्तियाँ

संस्कृत में शब्द को ब्रह्म की संज्ञा दी गई है- शब्दं ब्रह्मः। इसका आशय यह है कि शब्द में अपार क्षमता होती है। यह क्षमता उसकी अर्थ सामर्थ्य से आती है। इस सामर्थ्य को शक्ति कहा जाता है। हम जब से भाषा सीखते हैं, शब्द और उसके अर्थ के विषय में जानते हैं और यह भी जानते हैं कि शब्द और अर्थ का शाश्वत सम्बन्ध है। अर्थ के बिना शब्द शव के समान है और शब्द के बिना अर्थ अस्तित्वहीन है। तुलसीदास का कहना है कि शब्द और अर्थ जल और जल में उठनेवाली लहर के समान हैं, जिन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता है- 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'। शब्द का उच्चारण करते ही हमारे मन में, कल्पना में और अनुभूति में शब्द का अर्थज्ञात हो जाता है। स्वादिष्ट व्यंजन का नाम लेते ही मुँह में पानी आ जाता है, गुलाब शब्द का उच्चारण करते ही फूल के रंग और गंध का बोध होने लगता है, स्पष्ट है कि शब्द का अर्थबोध किसी शक्ति के द्वारा होता है, अतः शब्द का अर्थगत व्यवहार ही शब्दशक्ति है।

हम अपने परिवेश से, शब्दकोशों से, लोकव्यवहार से, वृद्धजनों के अनुभव से शब्दों के अर्थादि के विषय में जानते हैं। हम यह भी पाते हैं कि प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ निर्धारित है। सामान्य तौर पर हम उसी अर्थ का व्यवहार करते हैं, किन्तु शब्द के सामान्य अर्थ की अपनी सीमा होती है और कभी कभी हम अपने विचार उससे अभिव्यक्त कर पाने में असमर्थ हो जाते हैं, तब हम कुछ प्रतीकों का या बिम्बों का या कल्पना का सहारा लेकर अपनी बात स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं, शब्दके इस व्यापार को साहित्यशास्त्री शब्द का लक्षणा व्यापार या व्यंजना व्यापार कहते हैं। इस तरह से शब्द के तीन व्यापार दृष्टिगत होते हैं- अभिधा- अर्थात् शब्दादि के निर्धारित अर्थ को बताने वाला व्यापार, लक्षणा- अर्थात् शब्द के लाक्षणिक अर्थ को बताने वाला

व्यापार और व्यंजना- अर्थात् शब्द से व्यंजित होने वाले अर्थ को बताने वाला व्यापार। सामान्य बोलचाल में भी हम अक्सर प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं, ताकि अपनी अनुभूतियों को अधिकाधिक स्पष्ट तरीके से अभिव्यक्त कर सकें। जैसे -यह सड़क दिल्ली जाती है, पेट में चूहे कूद रहे हैं, आँखों में रात कट गई, वह हाथ पर हाथ रखकर बैठा है, मुँह में दही जमा है, वह घोड़े बेच कर सोया है- जैसे वाक्यों को हम व्याकरण की दृष्टि से देखें तो ये सभी वाक्य गलत हैं, लेकिन इनका हम अक्सर व्यवहार करते हैं और इनकी अभिव्यंजना की शक्ति से हम अच्छी तरह से परिचित हैं। ऐसे भाषिक प्रयोग साहित्य में निरन्तर प्रयुक्त होते हैं। इसीसे काव्यभाषा और सामान्यभाषा का अन्तर भी स्पष्ट होता है। रोज के परिचित विषयों, घटनाओं आदि का वर्णन जब सामान्य व्यक्ति करता है, तो वह सुनने वालों पर उतना प्रभाव नहीं छोड़ता, पर जब कवि वही वर्णन करता है, तो अनेकानेक पाठक, श्रोता विस्मित हो जाते हैं। सन्ध्याकाल में जब सूर्यास्त होता है, सूर्य की रक्तिम किरणें पेड़ों की चोटियों पर पड़ती हैं, तो प्रत्येक संवेदनशील उस दृश्य से प्रभावित होता ही है, पर जब कवि वर्णन करता है-

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो उठा,

तरुशिखा पर थी अवरजती, कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा (प्रियप्रवास, हरिऔध)

तो उसका प्रभाव पाठकों पर अक्षुण्ण रूप से पड़ता है। स्पष्ट है, शब्दार्थ की यही सामर्थ्य साहित्यजगत् में शब्दशक्ति कहलाती है।

आचार्यों का मानना है कि शब्द तीन प्रकार के होते हैं- वाचक, लक्षक और व्यंजक और इन शब्दों के अर्थ वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कहलाते हैं। इन तीन प्रकार के शब्दों से सम्बन्धित शक्तियाँ भी तीन हैं- अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। कुछ आचार्य तात्पर्या नामक चौथी शक्ति भी मानते हैं और उसको इस रूप में पारिभाषित करते हैं- जो वृत्ति अभिधा द्वारा प्रतिपादित अर्थों को अन्वित कर एक विशेष या अभिनव अर्थ का बोध कराए और वह अर्थ वाच्यार्थों का योग मात्र ही न होकर कुछ विलक्षण प्रकार का वाक्यार्थ हो, उसे तात्पर्यावृत्ति कहते हैं। लेकिन अधिकांश आचार्यों का यह मानना है कि तात्पर्या शक्ति अभिधा, लक्षणा और व्यंजना से पृथक् नहीं है, अतः अलग से उसका उल्लेख आवश्यक नहीं है। आचार्य विश्वनाथ ने इन शब्दशक्तियों का उल्लेख इस रूप में किया है-

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।

व्यङ्ग्यो व्यंजनया तास्स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः। -साहित्यदर्पण

आइए, इन तीनों शब्दशक्तियों के विषय में जानें।

4.4.1 अभिधा-

यह हम सब जानते हैं कि शब्द और अर्थ का अनादि सम्बन्ध है और प्रत्येक शब्द के लिए अर्थ और अर्थ के लिए शब्द नियत है। जो शब्द साक्षात्संकेतित अर्थ को यानी कोशगत, व्यवहार में प्रयुक्त अर्थ को बताता है, वह वाचक शब्द है- साक्षात्संकेतितमर्थमभिधत्ते स वाचकः। इस वाचक शब्द से व्याकरण, कोश, व्यवहार, वाक्यशेष, आप्तवाक्य, विवृत्ति(विवरण), सिद्धपद सान्निध्य आदि के द्वारा जो मुख्य अर्थ अभिव्यक्त होता है, वह अभिधा है। यानी शब्द की जिस शक्ति द्वारा मुख्यार्थ, वाच्यार्थ, साक्षात्संकेतित अर्थ का बोध हो, उसे अभिधा कहते हैं-

स मुखयोऽर्थस्तस्य मुख्यव्यापारोऽस्याभिधोच्यते ।

-शब्द का वह मुख्य व्यापार जो शब्द के मुख्य अर्थ, साक्षात्संकेतित अर्थ, वाच्यार्थ का बोधक है, अभिधा है। अभिधा शब्द की मुख्य शक्ति है। लक्षणा और व्यंजना का बोध होने से पहले अभिधा शक्ति से अर्थबोध होता है। यद्यपि साहित्यजगत् में व्यंजना शक्ति को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है, पर लक्षणाशक्ति या व्यंजनाशक्ति भी वाच्यार्थ के उपरान्त प्रकट होती हैं, इसीसे हमारे रीतिकालीन आचार्य कवि देव का कहना है-

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा हीन
अधम व्यंजना रस कुटिल उलटी कहत नवीना।

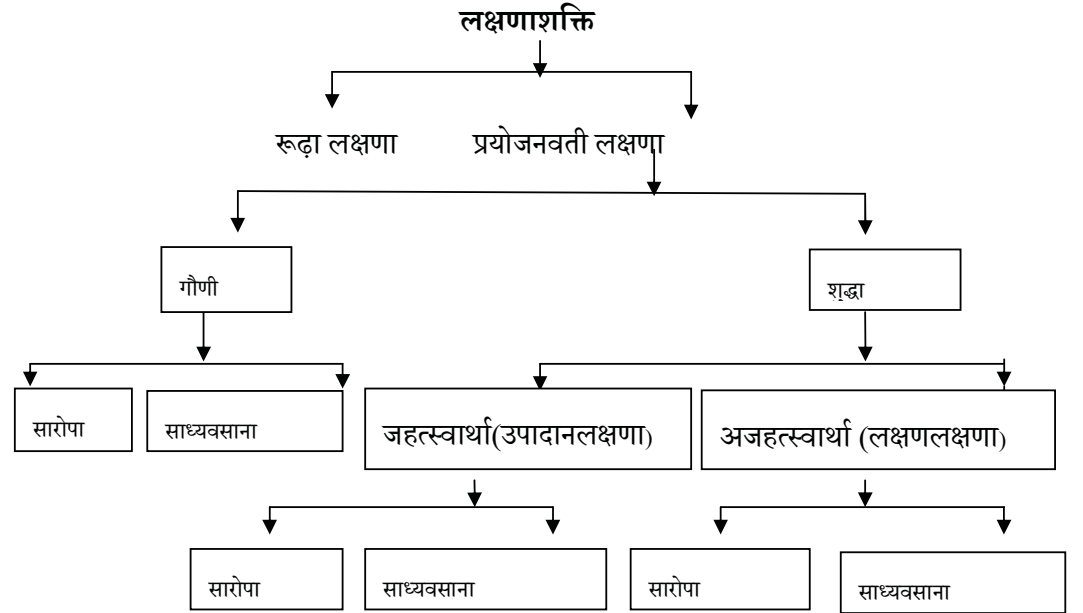
4.4.2 लक्षणा

जैसा कि हमने पहले देखा कि कभी-कभी शब्दों के सामान्य अर्थ से कहने वाले का अभिप्राय प्रकट नहीं होता है और फिर वक्ता कहने के नये-नये तरीके खोजता है। तब श्रोता वक्ता की प्रयोग सामर्थ्य को समझकर अर्थबोध कर लेता है। भावों में जब अधिक तीव्रता हो, वक्ता कथन में रमणीयता लाना चाहे, तब वाच्यार्थ के अशक्त होने पर जिस दूसरी शब्द शक्ति से काम लिया जाता है, वह लक्षणा है। लक्षणा की परिभाषा है-

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा
लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया।

-मुख्यार्थ के बाधित होने पर रूढि अथवा प्रयोजन के आधार पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित दूसरा अर्थ जहाँ आरोपित किया जाता है, वहाँ लक्षणा शब्दशक्ति होती है। आचार्यों ने लक्षणा की तीन शर्तें बताई हैं- 1. शब्द के मुख्यार्थ से अर्थ की सम्यक् प्रतीति न हो, यह मुख्यार्थबाध है, 2. मुख्यार्थ के स्थान पर कोई ऐसा अर्थ ले लिया जाए, जो मुख्यार्थ से सम्बन्धित हो और जिससे वक्ता का अभिप्रेत सिद्ध हो जाए और 3. मुख्यार्थ से सम्बन्धित जो अन्यार्थ लिया जाए, वह या तो परम्परा से किसी अर्थ में रूढ़ हो गया हो या किसी प्रयोजन की सिद्धि करता हो। लक्षणा को पारिभाषित करते हुए आचार्यों ने यह भी माना है कि लक्षणा में जो मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ लिया जाता है, वह 'आरोपित' किया जाता है। उदाहरणस्वरूप यदि हम वाक्य प्रयोग करते हैं कि- वहाँ तो

लाठियां चल रही हैं, तो इस वाक्य में मुख्यार्थ बाधित है, क्योंकि लाठियां स्वतः नहीं चल सकतीं, पर लाठियां चलाई जा सकती हैं, यह मुख्यार्थ से योग है। मुख्यार्थ से सम्बन्धित जो दूसरा अर्थ लिया गया है, वह प्रयोजन के सहारे लिया गया है और इस अर्थ को आरोपित किया गया है। अतः यहाँ लक्षणा शब्दशक्ति है। इसी तरह यदि कहा जाय कि 'वह कविता लिखने में प्रवीण है' तो भी मुख्यार्थ बाधित होगा क्योंकि प्रवीण शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है- वीणा बजाने में कुशल। लेकिन प्रवीण शब्द कुशल, चतुर के अर्थ में रूढ़ हो चुका है अतः यहाँ रूढ़ से मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्यार्थ ग्रहण करने पर भी लक्षणा शक्ति है। लक्षणा शक्ति या तो रूढ़ि पर आधारित होती है या प्रयोजन पर, अतः इस दृष्टि से लक्षणा के दो भेद हैं- रूढ़ लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। प्रयोजनवती लक्षणा दो प्रकार की है- गौणी और शुद्ध। गौणी लक्षणा में बाधित मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध गुणों का होता है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति के लिए कहा जाय कि वह बैल है, तो इसका आशय यह होता है कि उसमें बैल के समान गुण हैं, अतः यहाँ गौणी लक्षणा मानी जाएगी। जहाँ मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध गुणों के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्ध पर आधारित हो, वहाँ शुद्ध लक्षणा है। जैसे यह सड़क दिल्ली जा रही है- यहाँ क्योंकि सड़क जड़ है, वह दिल्ली नहीं जा सकती, तो मुख्यार्थ बाधित हो गया। सड़क दिल्ली नहीं जा सकती, लेकिन उस पर चल कर व्यक्ति दिल्ली पहुँच सकता है, यह दूसरा अर्थ गुणोत्तर सम्बन्धों पर आधारित है। इसके बाद लक्षणा के अनेक अर्थ किये गये हैं, किन्तु आचार्य मम्मट द्वारा निर्धारित छः भेद स्वीकार किये गए। ये छः भेद निम्नांकित हैं-



4.4.3 व्यंजना-

शब्द की अभिधा और लक्षणा शक्तियों द्वारा भी कभी कभी वक्ता का अभिप्रेत स्पष्ट नहीं हो पाता है, तब वक्ता के कहने के ढंग से, परिवेश की दृष्टि से स्थान की दृष्टि से, वक्ता की भावभंगिमा से, श्रोता किसी अन्य अर्थ को ग्रहण करता है। साहित्यशास्त्रियों की दृष्टि में यह अन्य अर्थ व्यंजना है। जब अभिधा शक्ति शब्द का अर्थ बताने में असमर्थ हो जाती है, तो लक्षणा द्वारा उसका अर्थ निकलता है। पर कुछ ऐसे भी अर्थ होते हैं, जिनकी प्रतीति अभिधा या लक्षणा द्वारा नहीं होती और ऐसी स्थिति में एक अन्य शक्ति की परिकल्पना करनी पड़ती है, यह शक्ति ही व्यंजना है। आचार्य विश्वनाथ ने व्यंजना को इस रूप में पारिभाषित किया है-

विरतास्वभिधाद्यासु यथार्थो बोध्यते परः। सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य चा। - साहित्यदर्पण, 2/12-13

हमने देखा कि लक्षणा में भी अन्य अर्थ लक्षित होता है, और व्यंजना में भी। पर लक्षणा में किसी न किसी रूढ़ि या प्रयोजन से ही अन्यार्थ की प्रतीति होती है, जबकि व्यंजना में किसी प्रकार की शर्त नहीं होती। व्यंजनाशक्ति का शाब्दिक अर्थ है 'वह शब्दशक्ति, जो अर्थ को स्पष्ट करे, चित्रित करे, चमका दे और सजा दे। यह शक्ति नवीन अर्थ को द्योतित करने वाली शक्ति है। इस शक्ति के विषय में हम इस तरह से समझ सकते हैं - मान लीजिए हम एक वाक्य का प्रयोग करते हैं कि - 'अब तो रात हो गई है'- इस वाक्य का अभिधा से अर्थ निकलता है - कि दिन समाप्त हो गया है, वक्ता का प्रयोजन यदि यह बताना है कि अब देर हो गई है, तो लक्षणा शक्ति से यह अर्थ निकलता है, किन्तु वक्ता का अभिप्राय कुछ और हो सकता है, कोई श्रोता उसका यह अर्थ कर सकता है कि घर जल्दी पहुँचना चाहिए, किसी मुमुर्षु के लिए इसका अर्थ हो सकता है कि अब जीवन का अन्तिम पड़ाव आ गया है, किसी को किसी से मिलना है तो अर्थ निकलता है कि जल्दी- जल्दी जाना चाहिए। कहने का अभिप्राय यह है कि वक्ता की विशेषता से, संबोध्य (जिससे कोई बात कही जा रही हो उसकी), उच्चारण का ढंग, वाक्यरचना की विशेषता, वाच्यार्थ की विशेषता, अन्य व्यक्ति के निकट होने की विशेषता, प्रस्ताव की विशेषता, देश, काल, चेष्टा आदि की विशेषता, शारीरिक भंगिमा, दृष्टि निक्षेप आदि के कारण जो अभिप्रेत व्यक्त होता है, उसे ही व्यंजना कहा जाता है। ध्यातव्य है कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, प्रभाव, संख्या, विषय आदि की दृष्टि से भेद होता है। जैसे वाच्यार्थ एक होता है, ओर उसके व्यंग्यार्थ अनेक हो सकते हैं। सूर्यास्त हो गया का वाच्यार्थ एक होगा पर व्यंग्यार्थ अनेक होंगे। युद्ध के अवसर पर इसका अर्थ होगा युद्ध रोकने का समय आ गया, किसी भक्त के लिए इसका अर्थ होगा- पूजा का समय हो गया, कोई शाम को घूमने जाता है तो उसके लिए इसका अर्थ होगा कि घूमने का समय हो गया। शब्द और अर्थ दोनों पर आधारित होने से व्यंजना के दो भेद हैं- शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना। शाब्दी व्यंजना अभिधा पर भी आधारित होती है और लक्षणा पर भी। इस दृष्टि से शाब्दी व्यंजना के दो भेद हैं- अभिधामूला व्यंजना और लक्षणामूला व्यंजना। अभिधाशक्ति द्वारा अनेकार्थी शब्दों में एक अर्थ निश्चित हो जाने पर जिस शक्ति के द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है, उसे अभिधामूला व्यंजना कहते हैं,

और जहाँ मुख्यार्थ की बाधा होने पर लक्षणाशक्ति से अन्यार्थ निकलता है, वहाँ लक्षणामूला व्यंजना होती है। कि यह जोड़ी बिल्कुल एक दूसरे के उपयुक्त है, यह शाब्दी व्यंजना का व्यापार है। इसी तरह जो शब्दशक्ति वक्ता, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, प्रकरण, देश, काल, चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है, वह आर्थी व्यंजना है। आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि को काव्य की आत्मा कहते हैं और व्यंजना को उसका प्राण मानते हैं- 'व्यंजकत्वैकमूलस्य ध्वनेः(ध्वन्यालोक, 1/18)। अब हम ध्वनि के विषय में विचार करेंगे।

क.बोध प्रश्न

- 1.ध्वनि शब्द का अर्थ बताइए।
 - 2.शब्द की लक्षणा शक्ति के विषय में बताइए।
- रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए -**
- 1.वैयाकरण ध्वनि के लिएशब्द का प्रयोग करते हैं।
 - 2.शब्दशक्तियों की बहुस्वीकृत संख्या..... है।
- सत्य/ असत्य बताइए-**
- 1.लक्षणा शक्ति को आरोपिता शक्ति कहा जाता है। (सत्य/असत्य)
 - 2.ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धन हैं।(सत्य/असत्य)

निम्न लिखित में सही विकल्प बताइए-

- 1.रूढि अथवा प्रयोजन के आधार पर किस शब्द शक्ति में अर्थ ग्रहण किया जाता है-
क.अभिधा ख.लक्षणा ग.तात्पर्या घ. व्यंजना।
 - 2.काव्यशास्त्र के इन ग्रन्थों को सुमेलित कीजिए -
सम्प्रदाय का नाम प्रवर्तक आचार्य का नाम
- | | |
|--------------------|-----------------------|
| 1.ध्वनि सम्प्रदाय | (अ)आचार्य क्षेमेन्द्र |
| 2.रस सम्प्रदाय | (ब)आनन्दवर्धन |
| 3.औचित्य सम्प्रदाय | (स)आचार्य वामन |
| 4.रीति सम्प्रदाय | (द)भरतमुनि |

4.5 ध्वनिसिद्धान्त का प्रवर्तन

ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए 'ध्वन्यालोक' नामक अनुपम गन्धर्व का प्रणयन करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन भारतीय काव्यशास्त्रियों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके ग्रन्थ का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि उन्हें 'ध्वनि' नामक इस अद्भुत

तत्व की स्थापना के लिए पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा था। दरअसल आनन्दवर्धन स्वयं को ध्वनिसिद्धान्त का प्रवर्तक नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि चिर अतीत में यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित था लेकिन कालक्रम से लुप्त हो गया। उन्होंने यह कहा कि आचार्यों ने पहले ही ध्वनि के विषय में कहा है। ध्वनिकार की ध्वनिविषयक मान्यताओं का अनेक आचार्यों ने विरोध किया। भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट आदि आचार्यों का इस सन्दर्भ में उल्लेख किया जा सकता है। ध्वनिसिद्धान्त ध्वन्यालोक की पहली कारिका में ही आनन्दवर्धन ने अपने विरोधियों के सन्दर्भ में उल्लेख किया है। उनका कहना है-

काव्यस्यात्माध्वनिर्बुधैर्यः समाप्नात्पूर्व-

स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्यैः।

केचिद् वाचां स्थितमविषये तं वमूचुस्तदीयां

तेन ब्रूमः सहृदय मनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥ (ध्वन्यालोक, 1/1)

(-काव्य की आत्मा ध्वनि है, ऐसा विद्वानों ने पहले भी कहा है लेकिन कुछ लोग 1. उस ध्वनि का अभाव कहते हैं, 2. कुछ उसे भाक्त (लक्षणा से सम्बद्ध) कहते हैं, 3. कुछ उसे वाणी का अविषय (अर्थात् जिसको शब्दों से नहीं कहा जा सकता है) मानते हैं, इसीलिए सहृदयों के मन की प्रसन्नता के लिए हम (ध्वनिवादी) उसके स्वरूप के विषय में बताते हैं।) यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि उन्होंने इस तत्व की प्रतिष्ठा में अद्भुत सफलता प्राप्त की और इससे भी अधिक प्रसन्नता की बात यह है कि इस प्रतिष्ठा को बनाने में उन्हें ध्वन्यालोक पर लोचन टीका प्रस्तुत करने वाले आचार्य अभिनवगुप्त, काव्यप्रकाशकार मम्मट, साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ, रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों का प्रबल और हार्दिक समर्थन भी मिला।

उपर्युक्त कारिका प्रस्तुत करने के बाद आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि का स्वरूप इस प्रकार बताया है-**यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृत्स्वार्थी , व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः। (ध्वन्यालोक, 1/13)**-जहाँ शब्द और अर्थ अपने उसी (अर्थात्) मूल अर्थ को छोड़कर किसी अन्य व्यंजित होने वाले अर्थ को ग्रहण करते हैं, उसे विद्वान् ध्वनि कहते हैं। आचार्य मम्मट ने ध्वनिकाव्य को उत्तम काव्य की संज्ञा देते हुए उसका लक्षण किया है-**इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।** -काव्यप्रकाश . आचार्य विश्वनाथ ने भी ध्वनिकाव्य को उत्तम काव्य माना है- **वाच्यातिशयिनी व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तम** - साहित्यदर्पण, पण्डितराज जगन्नाथ का भी मत है- **-शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यक्तस्तदाद्यम्-** रसगंगाधर .

स्पष्ट है कि आचार्य मम्मट, आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनि को उत्तम काव्य की कोटि में रखते हुए उसका जो स्वरूप बताया है, वह आनन्दवर्धन के ध्वनिलक्षण की ही प्रतिच्छाया है। तदनुसार जहाँ शब्द तथा/ अथवा अर्थ अपने आप को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वान् लोग 'ध्वनि' कहते हैं। अर्थात् काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता होने पर 'ध्वनि' होती है। आचार्य

आनन्दवर्धन ने इस कारिका में 'बुधैर्यः समाप्तात्पूर्वः' इस कथन से यह भी स्पष्ट किया है कि ध्वनि कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है, जैसा कि ध्वनिविरोधी कहते हैं। ध्वनि का स्वरूप बताते हुए आनन्दवर्धन ने 'सूरिभिः' शब्द का प्रयोग किया है और सूरिभिः का अर्थ 'विद्वान्' बताया है और विद्वानों में भी सर्वप्रथम स्थान का अधिकारी वैयाकरणों को माना है। आगे चलकर आचार्य मम्मट ने भी ध्वनि को पारिभाषित करते हुए यह माना है कि वैयाकरणों ने ध्वनि शब्द का व्यवहार किया है। दोनों आचार्य यह मानते हैं कि उन्होंने ध्वनि का व्यवहार वैयाकरणों में देखा है। और वैयाकरण श्रूयमाण वर्णों में तथा स्फोटरूप व्यंग्य के व्यंजक शब्द में ध्वनि का व्यवहार करते हैं।

आनन्दवर्धन के ध्वनिलक्षण की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने भी वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त के आधार पर ध्वनि के पाँच अर्थ किये हैं-

(क) ध्वनति इति ध्वनिः (वाचक शब्द)

(ख) ध्वनति इति ध्वनिः (वाच्यार्थ)

(ग) ध्वन्यते इति ध्वनिः (व्यंग्यार्थ)

(घ) ध्वननमिति इति ध्वनिः (व्यंजनाव्यापार) तथा

(ङ) काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः। उक्त प्रकार-
ध्वनिचतुष्टयमयत्वात्। (व्यंजनाव्यापार)

इस ध्वनितत्व की स्थापना के लिए आनन्दवर्धन ने पहले ध्वनिविषयक अभाववादियों, भाक्तवादियों और अलक्षणीयतावादियों- तीन विरोधियों के मतों को उद्धृत किया है। उनका कहना है कि अभाववादी मानते हैं कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। अनुप्रासादि अलंकार शब्द की चारुता में हेतु हैं, उपमादि अलंकार अर्थ की चारुता के कारण हैं। वर्णसंघटना के धर्म माधुर्यादि गुण भी देखने को मिलते हैं, उपनागरिका आदि वृत्तियाँ और वैदर्भी आदि रीतियाँ भी सुनी गई हैं। इन सबके अतिरिक्त ध्वनि नाम की कोई वस्तु नहीं है। यदि ध्वनि में काव्य की कल्पना कर भी ली जाए तो भी यह सिद्धान्त सभी विद्वानों को मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि विद्वान् अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति आदि को ही काव्य का तत्त्व मानते हैं और इन तत्त्वों से सम्पन्न शब्दार्थयुगल को काव्य मानते हैं, ध्वनि को नहीं (ध्वन्यालोक, 1/1 कारिका का व्याख्याभाग)। ध्वनि को रमणीयता का ही कारण मानने पर उसका अन्तर्भाव रमणीयता के उपर्युक्त हेतुओं- अलंकारों, गुणों इत्यादि में ही कर दिया जाना चाहिए। अलग से ध्वनि शब्द की चर्चा करने की जरूरत नहीं है।

स्पष्ट है कि अभाववादी ध्वनि नामक पृथक् तत्त्व को नहीं मानते, भाक्तवादी उसे मानकर उसका अन्तर्भाव लक्षणा में कर देते हैं और अलक्षणीयतावादी ध्वनि को मानते तो हैं, पर उसका लक्षण करने में स्वयं को असमर्थ मानते हैं। इन विरोधों का खण्डन करते हुए आनन्दवर्धन का कहना है कि-

1. वाच्यविशेष अथवा वाचक विशेष से अभिव्यक्त अर्थ ध्वनि है। अतएव ध्वनि वाच्यवाचक के चारुत्व हेतु अर्थात् अलंकारों से भिन्न सत्ता रखनेवाला तत्त्व है। ध्वनि में प्रतीमानार्थ प्रमुख है,

अलंकारों का सम्बन्ध वाच्यवाचक से है। अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता अतः अभाववादियों का विरोध अनुचित है।

2. ध्वनि और लक्षणा में अभेद नहीं हो सकता, क्योंकि लक्षणा मुख्यार्थ से भिन्न लेकिन रूढ़ि या प्रयोजन के कारण अन्यार्थ की अभिव्यक्ति करती है, जबकि ध्वनि में रूढ़ि या प्रयोजन की बाध्यता नहीं होती, वहाँ तो वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है। अतः भाक्तवादियों का विरोध भी गलत है।

3. भाक्तवादियों ने ध्वनि का लक्षण तो किया ही है और ध्वनिवादियों ने भी अनेक प्रकार से ध्वनि का लक्षण कर दिया है अतः अलक्षणीयतावादियों का विरोध स्वतः ही समाप्त हो जाता है। आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त विरोधों का खण्डन करते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर कहा कि सहृदयों द्वारा प्रशंसित जो अर्थ काव्य की आत्मा के रूप में पतिष्ठित है, उसके दो भेद हैं- वाच्य और प्रतीयमान।

योअर्थ : सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदाबुभौ स्मृतौ॥ (ध्वन्यालोक, 1/2)

वाच्य अर्थ उपमा आदि अलंकारों से प्रसिद्ध है और प्रतीयमान अर्थ सुन्दरी ललना के प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में सन्निहित रहता है-

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्तु वाणीषु महाकवीनाम्

यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥(ध्वन्यालोक, 1/4)

काव्य की आत्मा यही अर्थ है। इस प्रतीयमान अर्थ को और उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ शब्द विशेष को पहचानने का यत्न महाकवियों को करना चाहिए। जैसे आलोकार्थी दीपक के लिए यत्नवान् होता है, वैसे ही आदरवान् कवि कविप्रतीयमान अर्थ के लिए वाच्यार्थ का उपादान करता है। वाच्य, वाचक, व्यंग्यार्थ, व्यंजनाव्यापार और काव्य इन पाँचों को ध्वनि कहते हैं। उक्त्यन्तर से जो चारुत्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता, उसे प्रकाशित करने वाला व्यंजना व्यापार युक्त शब्द ही ध्वनि कहलाता है। ध्वनिसिद्धान्त यह मानता है कि काव्य में जो कुछ कह दिया गया है, महत्त्व उसका नहीं है, महत्त्व उसका है जो नहीं कहा गया, जो अनकहा रह गया, ध्वनिसिद्धान्त उस अनकहे की व्याख्या करता है।

ख. बोध प्रश्न-

1. ध्वनिविरोधी कौन हैं?
2. वाच्य और प्रतीयमान अर्थ में भेद बताइए।
3. अलंकार और ध्वनि का काव्य में क्या काम है?
4. ध्वनि के पांच अर्थ कौन कौन से हैं?

सत्य/असत्य बताइए-

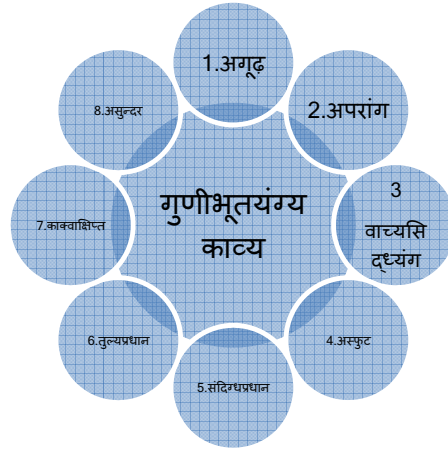
1. ध्वनि व्यंजना पर आधारित है- (सत्य/असत्य)
2. ध्वनि अभिधा और लक्षणा पर आधारित है। (सत्य/असत्य)

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए -

1. ध्वन्यालोक के रचनाकार है।

4.6 ध्वनिकाव्य के भेद

ध्वनि सिद्धान्त एक सार्वजनीन सिद्धान्त है और काव्य के मूल तत्त्व को आत्मसात् किये हुए है। इस सिद्धान्त के सन्दर्भ में संक्षेप में कहा जा सकता है कि काव्य की चरम सिद्धि रस है और उस रस का अनिवार्य वाहक है ध्वनि। आचार्यों ने ध्वनि के अनेक भेद किये हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से ध्वनि के तीन भेद हैं- रसादिध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। ध्वनि की प्रधानता-अप्रधानता की दृष्टि से काव्य के तीन भेद हैं-ध्वनिप्रधान काव्य(उत्तम काव्य), गुणीभूतव्यंग्य काव्य(मध्यम काव्य) और चित्रकाव्य (अवर काव्य)। जिस काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान होता है, वह ध्वनिप्रधान उत्तम काव्य है। जिस काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ गौण या कम चमत्कारक होता है, वह गुणीभूतव्यंग्य नामक मध्यम काव्य है और जिस काव्य में व्यंग्यार्थ नहीं होता, वह चित्रकाव्य नामक अवर या अधम काव्य है। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ पर आश्रित रहता है अतः ध्वनि भी अभिधा और लक्षणा पर आधारित है। इस तरह ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं- लक्षणामूला(अविवक्षितवाच्यध्वनि) तथा अभिधामूला (विवक्षितवाच्यध्वनि)। जहाँ वाच्यार्थ की विवक्षा या प्रयोजन नहीं होता, वहाँ लक्षणामूला ध्वनि है और जहाँ वाच्यार्थ भी प्रयोजनीय हो वहाँ अभिधामूला ध्वनि है। लक्षणामूलाध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमित (जिस ध्वनि में वाच्यार्थ अपना पूरा तिरोभाव न करके अपना अर्थ रखते हुए अन्य अर्थ में संक्रमण करता है) तथा अत्यन्त तिरस्कृत (जहाँ वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग हो जाता है) दो भेद हैं। अभिधामूला ध्वनि के भी संलक्ष्यक्रमध्वनि (जहाँ वाच्यार्थ का स्पष्ट बोध होने के बाद व्यंग्यार्थ प्रकट हो), तथा असंलक्ष्यक्रमध्वनि (जहाँ वाच्यार्थ ग्रहण करने का क्रम लक्षित नहीं होता)। आचार्य मम्मट ने ध्वनि के शुद्ध 51 भेद बताए हैं। ध्वनि के इन भेदोपभेदों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि रस, अलंकार और वस्तु- ये तीन वस्तुएँ जहाँ ध्वनित होकर व्यक्त होती हैं, वहाँ ध्वनि का विषय होता है। इन तीनों को ध्वनित करने वाला वाचक अर्थ अप्रधान होता है और ध्वन्यर्थ मुख्य होता है। पर कहीं कहीं ऐसा भी होता है कि ध्वनि प्रधान न होकर गौण होती है। ऐसे स्थान पर आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य का दूसरा भेद-गुणीभूतव्यंग्यकाव्य होता है। गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के आठ भेद हैं-



1.अगूढ(जिसमें व्यंग्य की प्रतीति सहजता से हो जाती है), 2.अपरांग(जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ एक दूसरे के अंग हों), 3.वाच्यसिद्धयंग (जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि में अंग बन जाए), 4.अस्फुट(जहाँ व्यंग्य गूढ हो),5.सन्दिग्धप्रधान(वाच्यार्थ प्रधान है या व्यंग्यार्थ-यह सन्देह हो),6.तुल्यप्रधान(वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का समान महत्व हो),7.काक्वाक्षिप्त(कण्ठध्वनि से व्यंग्यार्थ प्रकट हो) और 8.असुन्दर(जहाँ व्यंग्य में सौन्दर्य न हो)। एक तीसरे प्रकार के काव्य की भी कल्पना की गई है, जिसमें व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ प्रधान होता है, वह अवर या चित्रकाव्य है। इसके दो भेद हैं- शब्दचित्र और अर्थचित्र। प्रायः शब्दालंकार शब्दचित्र और अर्थालंकार अर्थचित्र के अन्तर्गत आ जाते हैं।

ग. अभ्यासार्थ प्रश्न

1. ध्वनि के कुल कितने भेद हैं ?
 2. ध्वनि के आधार पर काव्य के भेदों के विषय में बताइए।
सत्य/असत्य बताइए-
 1. अवर काव्य में ध्वनि की प्रधानता होती है। (सत्य/असत्य)
 2. गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के कुल आठ भेद हैं। (सत्य/असत्य)
- रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए -
1. ध्वनि के विषय वस्तु की दृष्टि सेभेद हैं।
 2. मम्मट के अनुसार ध्वनि के कुलभेद हैं।

4.7 हिन्दी साहित्यशास्त्रियों का ध्वनिचिन्तन

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने प्रायः सभी काव्यसिद्धान्तों के विषय में विचार किया है। हालांकि रीतिकाल में रस और अलंकार की प्रधानता रही है पर ध्वनिसिद्धान्त का भी सैद्धान्तिक विवेचन आचार्यों ने किया है। इन आचार्यों ने विशेषतः मम्मट के काव्यप्रकाश के आधार पर ध्वनिसिद्धान्त का निरूपण किया है। चिन्तामणि, कुलपति, भिखारीदास, आदि अनेक आचार्यों ने ध्वनिसिद्धान्त का निरूपण किया है। केशव और देव ध्वनिविरोधी हैं पर सेनापति ने अपने काव्य में -जामे धुनि है' कहा है तो कुलपति ने रसरहस्य में ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। भिखारीदास ने काव्यनिर्णय के छठे अध्याय में 74 छन्दों में ध्वनि का विवेचन किया। उन्होंने काव्य की आत्मा रस को माना है, पर ध्वनिवादियों की तरह रसध्वनि को महत्व दिया है। प्रतापसाहि की व्यंग्यार्थकौमुदी भी ध्वनि की प्रतिष्ठा करती है। कन्हैयालाल पोद्दार ने संस्कृत काव्यशास्त्र के विभिन्न विषयों को सरल हिन्दी में अवतरित करने का स्तुत्य प्रयास किया। रामदहिन मिश्र ने ध्वनि विषयक सैद्धान्तिक विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र के आधार पर किया और आधुनिक हिन्दी काव्य के उदाहरणों द्वारा उसे समसामयिक दृष्टि से व्याख्यात करने का यत्न किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रसमीमांसा' तथा डॉ. नगेन्द्र ने अपने शोधप्रबन्ध के प्रथम भाग 'रीतिकाव्य की भूमिका' में ध्वनि विषयक विवेचन किया है। डॉ. जगन्नाथ पाठक, डॉ रामसागर त्रिपाठी, भोलाशंकर व्यास आदि अनेक विद्वानों ने विस्तारपूर्वक ध्वनि विवेचन किया है।

4.8 पश्चिम के साहित्यशास्त्रियों का ध्वनिचिन्तन

पश्चिम में भी शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा बहुत पहले से होती रही है। वहाँ 'एल्यूजन', 'डबलसेन्स', आइरनी, एलीगरी, मेटाफर, आदि को व्यंग्यार्थ के एक रूप में देख सकते हैं। वाच्यार्थ से भिन्न सूक्ष्म अर्थ की चर्चा करते हुए पश्चिम में वाणी के चारुत्व के रूप में विट(Wit) की चर्चा की गई है। इसी तरह रिचर्ड्स की अर्थमीमांसापद्धति में भी ध्वनि के सूत्र मिलते हैं। ध्वनिवादी आचार्य मानते हैं कि कवि अपनी रचना द्वारा अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति भाषा के द्वारा संवेद्य बनाता है और पाठक उस रचना को पढ़ते हुए केवल अर्थबोध ही नहीं करता अपितु कवि जैसी रागात्मक अनुभूति से भी सम्पन्न होता है। इसके लिए कवि भाषा का विशिष्ट प्रयोग करता है। आज के मनोवैज्ञानिक भी यही मानते हैं और रिचर्ड्स भी भाषा के वैज्ञानिक और रागात्मक (Scientific and Imotive) दो रूपों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि वैज्ञानिक भाषा का प्रयोग किसी वस्तु या तथ्य का बोध कराने के लिए होता है, तो रागात्मक प्रयोग भाव जगाने के लिए। रिचर्ड्स यह मानते हैं कि उक्ति वह है जिसमें वक्ता के कथ्य का अर्थबोध ही अधिक महत्व का होता है। इसी तरह रिचर्ड्स अर्थ के -अभिधेयार्थ, भावनात्मक, पाठक के प्रति वक्ता की अभिवृत्ति और उद्देशात्मक -इन चार रूपों के प्रयोग की बात करते हैं और उनके द्वारा वर्णित सैन्स-अभिधेयार्थ का अभिप्राय वाच्यार्थ से और फीलिंग, टोन और इन्टेन्शन का अभिप्राय व्यंग्यार्थ से है। पश्चिम की नई

समीक्षा, संरचनावादी समीक्षा, उत्तरआधुनिकतावादी समीक्षा शब्द और अर्थ की जिस विलक्षणता की बात करते हैं, वह ध्वनिसिद्धान्त के पर्याप्त निकट है। ध्वनि में जिस 'अनकहे' के महत्व को स्वीकार किया गया है, उत्तरआधुनिकतावादी चिन्तकों के द्वारा वर्णित 'ट्रेस' और 'स्पेस' भी उसी अनकहे के महत्व को स्वीकार करता है। एम्प्सन के द्वारा उल्लिखित 'एम्बिग्युटी' भी ध्वन्यार्थ की प्रतीति कराती है। संरचनावादी समीक्षा में टेंशन और स्ट्रक्चर के द्वारा रचना की बनावट और बुनावट के सन्दर्भ में जो विचार किया गया है, उसमें भी ध्वन्यार्थ के तत्त्व मिलते हैं।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ध्वनि और कल्पना में भी परस्पर सम्बन्ध है। ध्वनि कल्पना के द्वारा ही सच्ची अनुभूति प्रदान कर सकती है और कल्पना ध्वनित होने पर ही व्यञ्जिक हो सकती है। डॉ. नगेन्द्र का मानना है कि कल्पना का एक मुख्य कार्य है रिक्त स्थानों को भरना, जगत् में जो वस्तुएं पूर्ण नहीं हैं, न्यूनता या दोष से युक्त हैं, हमारी कल्पना उन्हें भरने का यत्न करने लगती है। उक्ति वैचित्र्य के द्वारा हमारी कल्पना उन न्यूनताओं को भरती है और ध्वन्यार्थ की प्रतीति कराती है। स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों में आज भी जो सिद्धान्त सर्वाधिक प्रासंगिक है, वह ध्वनि सिद्धान्त ही है और इससे सिद्ध हो जाता है कि ध्वनि सिद्धान्त काव्यशास्त्र के क्षेत्र में एक सार्वजनीन और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में मान्य है।

4.9 सारांश

ध्वनिसिद्धान्त एक व्यापक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त से पहले के अलंकार और रीतिसिद्धान्त काव्य के एक पक्ष- उक्तिचारुता या पदरचना पर ही प्रकाश डालते हैं, पर ध्वनि की सत्ता उपसर्ग और प्रत्यय से लेकर महाकाव्य तक है। एक कविता की पंक्ति है- 'वह चितवन और कछु, जेहि बस होत सुजान' सुजान को मन्त्रमुग्ध करने वाली चितवन तो कुछ और ही है, जो सौन्दर्य के प्रसिद्ध उपादानों से अलग है, जिसे लावण्य के नाम से जाना जाता है, जिसे हम सामान्य बोलचाल में कहते हैं कि देखो यद्यपि वह सुन्दर नहीं है, पर उसमें कितना नमक है, जिसे साहित्य में हम प्रतीयमान अर्थ के रूप में जानते हैं और इस प्रतीयमान अर्थ को व्यञ्जित करने वाली शक्ति ही ध्वनि है। व्यञ्जना शब्दशक्ति ध्वनि का प्राण है।

आचार्यों की दृष्टि में रस और ध्वनि परस्पर सम्बद्ध हैं। रस का सम्बन्ध अनुभूति के साथ है, ध्वनि का कल्पना के साथ। हालाँकि रस की परिधि ध्वनि से अधिक विस्तृत है, पर रसात्मक बोध के लिए ध्वनि की महत्ता को भी नकारा नहीं जा सकता। इसलिए हम कह सकते हैं कि काव्य की चरम सिद्धि आस्वाद रूप रस है और ध्वनि उस रस का अनिवार्य वाहक है। इसीसे ध्वनिवादी आचार्य रसध्वनि को काव्यात्मा के रूप में स्वीकार करते हैं।

4.10 शब्दावली

भाक्तवादी-आचार्य लक्षणा को भक्ति भी कहते हैं। अतः भाक्तवादी से अभिप्राय लक्षणावादियों से है।

बोधव्य - पाठक, श्रोता, दर्शक-जो वक्ता की बात सुनते और समझते हैं।

काकु-कण्ठध्वनि। कण्ठध्वनि यानी 'टोन' से वाक्यादि का अर्थ निर्धारित होता है।

अन्यसन्निधि-वाक्य में प्रयुक्त शब्द के साथ वाक्य के अन्य शब्दों की संगति से अर्थबोध होता है।

वाच्य- शब्द का कोशगत, व्यवहार में प्रयुक्त होने वाला अर्थ।

4.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क. बोध प्रश्न

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए -

1. स्फोट
2. तीन

सत्य/ असत्य बताइए-

1. (सत्य)
2. (सत्य)

निम्न लिखित में सही विकल्प बताइए-

1. ख; लक्षणा
2. काव्यशास्त्र के इन ग्रन्थों को सुमेलित कीजिए

सम्प्रदाय का नाम	प्रवर्तक आचार्य का नाम
1. ध्वनि सम्प्रदाय	(अ) आनन्दवर्धन
2. रस सम्प्रदाय	(ब) भरतमुनि
3. औचित्य सम्प्रदाय	(स) आचार्य क्षेमेन्द्र
4. रीति सम्प्रदाय	(द) आचार्य वामन

बोध प्रश्न ख.

1. मुकुलभट्ट, प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट, केशव, देवा
2. वाच्य शब्द का मुख्य अर्थ, जिसे साक्षात्संकेतित अर्थ, वाच्यार्थ कहते हैं। प्रत्येक शब्द का एक अर्थ निर्धारित है, उसी अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। प्रतीयमानार्थ वह अर्थ है, जो शब्द का मुख्यार्थ नहीं है बल्कि प्रतीत होने वाला अर्थ है, जो व्यंजित होने वाला अर्थ है। जैसे - शाम हो गई का

वाच्यार्थ है दिन ढल गया है और प्रतीयमानार्थ हो सकता है- देर हो गई, घूमने जाना है, काम पूरा करना है, अब कुछ करना सम्भव नहीं है आदि आदि। यह प्रतीयमानार्थ व्यक्ति, समय, स्थान, कहने की शैली, शारीरिक भंगिमा आदि के आधार पर निर्धारित होता है।

सत्य/असत्य बताइए-

1. (सत्य)

2. (सत्य)

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए -

1. ध्वन्यालोक के रचनाकार ...आनन्दवर्धन है।

ग. बोध प्रश्न। विषयवस्तु की दृष्टि से ध्वनि के तीन भेद हैं-रसध्वनि, वस्तुध्वनि और

अलंकारध्वनि। ध्वनि की प्रधानता-अप्रधानता की दृष्टि से काव्य के तीन भेद हैं-ध्वनिप्रधान

काव्य(उत्तम काव्य), गुणीभूतव्यंग्य काव्य(मध्यम काव्य) और चित्रकाव्य (अवर काव्य)। 2. ध्वनि के आधार पर काव्य के भेदों के विषय में बताइए।

सत्य/असत्य बताइए-

1.(असत्य)

2.(सत्य)

4.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक,
- मम्मट, काव्यप्रकाश, व्याख्याकार डॉ. सत्यव्रत सिंह, (1955)चौखम्बा विद्याभवन, चौक, बनारस-1,
- अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली,(प्रथम संस्करण, 2009)राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,
- गुप्त, राकेश एवं चतुर्वेदी, ऋषिकुमार, साहित्यानुशीलन, (प्रथम संस्करण, 1972)सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद,
- सहाय, राजवंश हीरा, भारतीय-आलोचना-शास्त्र ,(2003)बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना,
- मिश्र, भगीरथ, काव्यशास्त्र (1966), विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
- शर्मा, राममूर्ति, ध्वनिसिद्धान्त(1980), अजन्ता पब्लिकेशन्स, जवाहरनगर, दिल्ली
- डॉ. नगेन्द्र , आस्था के चरण (1968),नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

4.13 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. काव्यालंकार,
2. काव्यादर्श
3. ध्वन्यालोक
4. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति
5. काव्यप्रकाश

4.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. शब्दशक्तियों के विषय में एक निबन्ध लिखिए।
2. क्या ध्वनि को काव्य की आत्मा माना जा सकता है? तथा ध्वनि के स्वरूप के विषय में बताइए।

इकाई 5 भारतीय साहित्य सिद्धान्त - औचित्य

- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 उद्देश्य
- 5.3 भारतीय काव्यशास्त्र में औचित्य की पूर्व परम्परा
- 5.4 क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त
 - 5.4.1 परिभाषा एवं स्वरूप
 - 5.4.2 औचित्य के भेद
 - 5.4.3 पाश्चात्य काव्यशास्त्र और औचित्य
 - 5.4.4 वक्रोक्ति का महत्व
- 5.5 सारांश
- 5.6 शब्दावली
- 5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 5.8 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 5.9 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई हिन्दी स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अंतर्गत सम्मिलित है . इस इकाई के पूर्व आप विस्तृत रूप से भारतीय काव्यशास्त्र का क्रमबद्ध अध्ययन कर चुके हैं . आप जान चुके हैं कि काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में अनेक तत्वों का विश्लेषण किया गया है .

प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे कि जिस प्रकार मानव-जीवन में औचित्य का महत्व है, उसी प्रकार काव्य के रचना-विधान में भी औचित्य एक महत्वपूर्ण तत्व है। काव्य और काव्यांग के बीच के अनुरूप विधान को औचित्य कहा गया है। काव्य और काव्यांग की प्रत्येक दृष्टि से पारस्परिक अनुरूपता, सादृश्यता और उन सबके उचित होने का भाव औचित्य कहलाता है।

इस इकाई में आप पढ़ेंगे कि भारतीय काव्यशास्त्र में औचित्य के चिन्तन की पुष्ट परम्परा प्रारम्भ से ही विद्यमान रही है, जिसे आचार्य क्षेमेन्द्र ने ग्यारहवीं शताब्दी में व्यवस्थित कर सिद्धान्त का स्वरूप प्रदान किया। आप शब्द, पद, अलंकार, वाक्य, लिंग, रस, प्रबन्ध, विशेषण , उपसर्ग, गुण आदि से परिचित ही होंगे। इनके अनुचित प्रयोग से काव्य का सौष्ठव नष्ट होता है। आप विस्तार से जानकारी प्राप्त करेंगे कि किस प्रकार इनके उचित प्रयोग से काव्य की गरिमा एवं सुन्दरता दोनों में वृद्धि होती है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जानेंगे कि:

- औचित्य क्या है ? तथा इसका काव्यांगों से किस प्रकार का सम्बन्ध है ?
- भारतीय काव्यशास्त्र में प्रारम्भ से ही औचित्य विषयक चिन्तन की एक पुष्ट परम्परा रही है;
- औचित्य के कितने प्रमुख भेद हैं?
- औचित्य से ही काव्य का लालित्य बढ़ता है तथा उसके प्रभाव में वृद्धि होती है।

5.3 भारतीय काव्यशास्त्र में औचित्य की पूर्व परम्परा

इस भाग में हम आचार्य क्षेमेन्द्र के पूर्व के आचार्यों भरत, भामह, दण्डी, रुद्रट, आनन्दवर्द्धन आदि के औचित्य विषयक विचारों के बारे में पढ़ेंगे।

यद्यपि औचित्य की स्थापना आचार्य क्षेमेन्द्र ने की है तथापि उनसे पूर्व भारतीय काव्यशास्त्र में औचित्य के चिन्तन की एक पुष्ट परम्परा विद्यमान है। 'नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य भरतमुनि

ने औचित्य का नाम न लेते हुए नाट्यांगों के मध्य अनुकूलता एवं अनुरूपता पर बल दिया है, जिसमें आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य के बीज निहित है:

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेशो ,
 वेशानुरूपश्च गतिप्रचारः।
 गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यम्
 पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥ (नाट्यशास्त्र-13/64)

अर्थात् वय के अनुरूप वेश , वेश के अनुरूप गति, गति के अनुरूप पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय का कार्य होना चाहिए। इस प्रकार आचार्य भरत के औचित्य विषयक चिन्तन में स्वाभाविकता की झलक है। इनका स्पष्ट कथन है कि प्रतिकूलवेश कदापि उसी प्रकार शोभाकारक नहीं हो सकता जैसे ग्रीवा में मेखला शोभाकारक न होकर उपहास का कारण बनती है -

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
 मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥ (नाट्यशास्त्र-21/71)

इस प्रकार भरत मुनि ने नाटक में औचित्य के निर्वाह को आवश्यक माना है।

आचार्य भरत के पश्चात् आचार्य भामह का नाम महत्वपूर्ण है, जिन्होंने अलंकार सिद्धान्त के अन्तर्गत दोष विवेचन करते हुए परोक्ष रूप से औचित्य को ही प्रतिष्ठित किया है। उनका कहना है कि विशेष संयोजन के परिणामस्वरूप दोषपूर्ण उक्ति भी उसी प्रकार शोभा से संयुक्त हो जाती है जैसे माला के मध्य पलाश। उचित आश्रय से असाधु वस्तु भी उसी प्रकार सुन्दर हो उठती है जैसे रमणी के नेत्रों में पड़ा हुआ काजल। भामह के अनुसार -

सन्निवेशविशेषाद् दुरुक्तमपि शोभते।
 नील पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव॥
 किञ्चित् आप्रयसौन्दर्यात् धत्ते शोभायसाध्वपि।
 कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीयमीवाञ्जम्॥ (काव्यालंकार)

आचार्यप्रवर ने औचित्य की जगह, नाट्य, युक्तता आदि पर्यायों का प्रयोग किया है। गुणों के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि प्रसाद तथा माधुर्य गुणों से युक्त उक्ति में अधिक समासों के प्रयोग नहीं होने चाहिए इसके विपरीत ओजगुण के लिए समासों का विधान आवश्यक होता है। भामह के बाद आचार्य दण्डी ने भी दोष विवेचन में औचित्य को ही आधार बनाया है। उनका विचार है कि देश, काल, लोक आदि के प्रतिकूल बातें भी कवि की कुशलता से औचित्य का आश्रय पाकर काव्य गुण के रूप में परिवर्तित हो जाती है। औचित्य शब्द का काव्य में सबसे पहले प्रयोग कन्नौज के राजा यशोवर्मन ने किया है। इन्होंने अपने नाटक 'रामाभ्युदय' में कहा है -

औचित्यं वचसा प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्र पात्रोचिता,
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च, कथामार्गेचातिक्रमः।

अर्थात् नाटक में वचनों का औचित्य होना चाहिए, पात्रों के अनुकूल रस की पुष्टि होनी चाहिए तथा कथा की योजना में कोई अतिक्रम नहीं होना चाहिए। काव्यशास्त्रीय परम्परा में आनन्दवर्द्धन के पूर्व रूद्रट पहले आलंकारिक हैं जिन्होंने औचित्य शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया है। यमक का विवेचन करने के बाद वे कहते हैं कि औचित्य तत्व का जानकार कवि ही रसपोषक सुन्दर यमक का सन्निवेश कर सकता है। रीति और रसों का सम्बन्ध स्थापित करते हुए उन्होंने कहा कि शृंगार, करुण, भयानक और अद्भुत में वैदर्भी और पांचाली रीति के प्रयोग उचित हैं, रौद्र में गौड़ी या लाटी का, शेष रसों में औचित्य का विचार करते हुए रीतियों का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार रूद्रट का औचित्य विवेचन महत्वपूर्ण है। भारतीय साहित्यशास्त्र में, क्षेमेन्द्र से पूर्व आचार्य आनन्दवर्द्धन ने औचित्य की विधिवत् मीमांसा की है। उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की है तथा ध्वनित रस (रसध्वनि) को काव्य की आत्मा कहा है। उन्होने औचित्य शब्द का प्रयोग करते हुए उसके छः प्रकार निश्चित किए हैं- रसौचित्य, अलंकारौचित्य, गुणौचित्य, संघटनौचित्य एवं रीत्यौचित्य। इनके संक्षिप्त परिचय से अवगत होना आवश्यक है।

रसौचित्य

इसका सम्बन्ध रस से है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रसभंग का कारण अनौचित्य को ही माना है -

अनौचित्याद् ऋतेनान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

रस के औचित्य के लिए ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने जो नियम निर्धारित किए हैं, उनमें महत्वपूर्ण हैं - शब्द और उनके अर्थ का औचित्यपूर्ण नियोजन, व्याकरण की दृष्टि से शब्दों के शुद्ध प्रयोग, प्रबन्धकाव्यों में रस के अनुकूल सन्धि, घटना आदि के प्रयोग, अवसर के अनुकूल रसों के उद्दीपन, प्रशमन की योजना तथा विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसंधान तथा रसानुरूप अलंकार योजना। इस प्रकार आचार्य के मतानुसार रस के विभिन्न अवयवों एवं विरोधी रसों का समन्वय उचित रूप से होना चाहिए, तभी रस की निष्पत्ति सम्भव हो सकती है।

अलंकारौचित्य

अलंकार के उचित सन्निवेश के सम्बन्ध में आचार्य आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि काव्य में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से होना चाहिए। प्रयत्नसाध्य अलंकार काव्य में अस्वाभाविकता को जन्म देते हैं। अलंकारों की योजना भावों की पुष्टि करने के लिए होनी चाहिए। उनका महत्त्व मुख्य न होकर गौण ही है अतः यमक, श्लेष आदि अलंकारों की योजना चमत्कार के लिए न होकर रस के पोषण के लिए होनी चाहिए।

गुणौचित्य

आनन्दवर्धन के अनुसार गुणों का साक्षात् सम्बन्ध रसों से है। रस धर्मी है तो गुण धर्म हैं। अतः काव्य में गुणों का प्रयोग रस के अनुकूल होना चाहिए। उदाहरणार्थ, श्रृंगार रस में माधुर्य, वीर रस में ओज एवं शान्त रस में प्रसाद गुण की योजना रस को पुष्ट करने वाली होगी। गुणों की अभिव्यक्ति विशेष वर्णों द्वारा होती है। अतः गुणों को प्रकट करने हेतु ऐसे वर्णों का प्रयोग होना चाहिए जो सर्वथा रस के अनुकूल हों। उदाहरणार्थ, श्रृंगार रस की निष्पत्ति के लिए कोमल एवं सुकुमार वर्णों तथा सानुनासिक संयुक्त वर्णों का प्रयोग किया जाता है। रौद्र रस की अभिव्यंजना परुष वर्णों द्वारा उपयुक्त मानी गई है।

संघटनौचित्य

विशिष्ट पद योजना ही संघटना है। संघटना का आधार गुण है जो रस के अनुकूल होती है। आनन्दवर्द्धन ने संघटना तीन प्रकार की मानी है -

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता।। ध्वन्यालोक- 3/5

असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा नामक तीनों संघटनाएं गुणाश्रित रहकर रसाभिव्यक्ति करती हैं। संघटना में रस का औचित्य तो होना ही चाहिए, साथ ही इसे वक्ता (काव्य अथवा नाटक के पात्र) और वाच्य (प्रतिपाद्य विषय) के अनुकूल भी होना चाहिए।

प्रबन्धौचित्य

आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध-ध्वनि के प्रसंग में प्रबन्धौचित्य का विवेचन किया है। उन्होंने काव्य तथा नाटक के इतिवृत्तों में औचित्य के निर्वाह को आवश्यक माना है। इतिवृत्त दो प्रकार का होता है- प्रख्यात तथा कल्पना प्रसूत। आचार्य का कहना है कि प्रख्यात तथा कल्पित वृत्तों में समानुपात होना चाहिए। कथा संगठन के समय प्रख्यात के नीरस भाग को छोड़ देना चाहिए। उन्हीं घटनाओं को काव्य में स्थान मिलना चाहिए जो औचित्यपूर्ण हों तथा रसाभिव्यंजना में सहायक हों। पात्रों का चरित्रांकन उनकी प्रकृति के अनुकूल हो तथा प्रासंगिक घटनाओं का विस्तार अंगी रस की दृष्टि से ही किया जाए।

रीत्यौचित्य

आनन्दवर्धन ने रीति और वृत्ति के औचित्य पर विचार किया है। उनके अनुसार नाटक या काव्यादि में कौशिकी तथा उपनागरिका आदि वृत्तियों को रस के अनुकूल प्रयुक्त करने का विवेचन किया है।

अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के ग्रन्थ ध्वन्यालोक पर टीका लिखकर उनके मत को ही पुष्ट किया है। उन्होंने भी माना है कि रसौचित्य तभी सम्भव होगा जब उसके अंगभूत विभाव-अनुभाव आदि का औचित्य होगा। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारतीय साहित्यशास्त्र में आचार्य क्षेमेन्द्र से पहले औचित्य विषयक गहन चिन्तन-मनन हो चुका था। आचार्य कुन्तक, महिम भट्ट आदि ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में औचित्य को आवश्यक बताया है।

बोध प्रश्न -

1. निम्नलिखित में से कौन आचार्य औचित्य सिद्धान्त का संस्थापक है?

- | | |
|---------------------|------------------------|
| (क) आचार्य कुन्तक | (ख) आचार्य क्षेमेन्द्र |
| (ग) आचार्य महिमभट्ट | (घ) आचार्य वामन |

2. 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ के रचनाकार कौन है?

- | | |
|----------------|-------------------|
| (क) अभिनवगुप्त | (ख) जयशंकर प्रसाद |
| (ग) आनन्दवर्धन | (घ) विश्वनाथ |

3. निम्नलिखित में से कौन कथन सत्य है और कौन कथन असत्य है -

(अ) आचार्य भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्यांगों के मध्य अनुरूपता

एवं अनुकूलता पर बल नहीं दिया है।

(आ) भामह ने दोष विवेचन के अन्तर्गत परोक्ष रूप से औचित्य की प्रतिष्ठा

की है।

(ग) काव्यशास्त्रीय परम्परा में औचित्य शब्द का प्रयोग करने वाले प्रथम

आचार्य भरत है।

(घ) ध्वनि सिद्धान्त के संस्थापक होते हुए भी आनन्दवर्धन ने औचित्य की

विधिवत् विवेचना की है।

4. आनन्दवर्धन द्वारा औचित्य के प्रकारों का नामोल्लेख करते हुए उनके द्वारा

विवेचित रसोचित्य की विवेचना कीजिए। आपका उत्तर लगभग दस पंक्तियों का होना चाहिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5.4 क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त

अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के औचित्य सम्बन्धी विचारों से प्रेरणा प्राप्त कर क्षेमेन्द्र ने भारतीय साहित्यशास्त्र में 'औचित्य' नामक एक स्वतन्त्र सिद्धान्त स्थापित किया। इस भाग में हम क्षेमेन्द्र के औचित्य विषयक विचारों का अध्ययन करेंगे।

5.4.1 परिभाषा एवं स्वरूप

काव्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में औचित्य का अर्थ होगा - लोक एवं शास्त्र की दृष्टि से योग्य एवं उपयुक्त।

आचार्य क्षेमेन्द्र के मतानुसार -

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥ (औचित्यविचारचर्चा)

अर्थात् आचार्यों ने कहा है कि जो जिसके अनुरूप है, सदृश है - वह उसके लिए उचित है और इसी उचित का भाव औचित्य है। 'औचित्य विचार चर्चा' में उन्होंने औचित्य विषयक गहन चिन्तन करते हुए उसे काव्य का जीवित (प्राण) तत्व माना है। वे कहते हैं कि काव्य में प्रयुक्त अलंकार एवं गुण तत्व आदि सब व्यर्थ हैं, यदि उनमें औचित्य का निर्वाह न हुआ हो -

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव सदा गुणाः।

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥ (औचित्यविचारचर्चा)

क्षेमेन्द्र काव्य में सौन्दर्य के विधायक सभी तत्वों में औचित्य का होना आवश्यक बताते हैं। औचित्य के अभाव में न तो गुण ही काव्य के आभूषण हो सकते हैं और न ही अलंकार। क्षेमेन्द्र का कथन है -

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ।
 औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणागुणाः॥
 कण्ठे मेखलया नितम्ब फलके तारेण हारेण वा,
 पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
 शौर्येण प्रणतै, रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्।
 औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नोगुणाः॥

अर्थात् उचित स्थान पर विन्यस्त होने पर ही अलंकार अलंकार और गुण गुण होते हैं। गले में मेखला, कटि में हार, हाथों में नूपुर, चरणों में केयूर पहनने पर, शरणागत पर शौर्य दिखाने तथा शत्रु के प्रति करुणा-प्रदर्शन से किसका हास्य नहीं होता है? औचित्य के अभाव में न तो अलंकार ही रुचिकर होते हैं और न ही गुण। इस प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र ने उचित के भाव को औचित्य कहते हुए काव्य के सभी शोभादायक तत्वों में इस औचित्य का निर्वाह आवश्यक बताया है।

5.4.2 औचित्य के भेद

आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य की व्याप्ति पद से लेकर प्रबन्ध तक है। औचित्य के भेदों का निर्धारण करते हुए उन्होंने काव्य के सूक्ष्म अवयव से लेकर उसके विशालतम रूप को ध्यान में रखा है। भेदों पर प्रकाश डालते हुए उनका कथन है -

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे।
 क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे॥
 उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
 तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सार संग्रहे॥
 प्रतिभायांऽमवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषिं।
 काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्॥

अर्थात् पद वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आषीर्वाद तथा काव्य के अन्य विविध अंग औचित्य के भेद हैं।

उपर्युक्त भेदों को सुगमता की दृष्टि से मोटे तौर पर चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है:-

(क) भाषा विज्ञान तथा व्याकरण विषयक: पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात।

(ख) काव्यशास्त्रीय तत्व:- प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, प्रतिभा, सारसंग्रह, तत्त्व, आषीर्वाद, अन्य काव्यांग।

(ग) चरित्र सम्बन्धी: व्रत, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, विचार, नाम।

(घ) परिस्थिति सम्बन्धी:- काल, देश, कुल, अवस्था।

आज के सन्दर्भ में उपर्युक्त अनेक भेद व्यर्थ हो चुके हैं। हिन्दी काव्य में से सभी तत्व आज सार्थक नहीं कहे जा सकते हैं। यहाँ औचित्य के कुछ प्रमुख भेदों का परिचय दिया जा रहा है -

(1) पदौचित्य -

जहाँ किसी पद के उचित प्रयोग से काव्य में सौन्दर्य की अभिवृद्धि हो, वहाँ पदौचित्य होता है। संस्कृत के वैयाकरणिक सुप् और तिङ् प्रत्ययों के योग से बने शब्दों को पद कहते हैं। हिन्दी में पद के भेद हैं - संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, क्रिया विशेषण आदि। क्षेमेन्द्र ने पदौचित्य की महत्ता का निरूपण करते हुए लिखा है -

तिलकं बिभ्रती सूक्तिर्भात्येकमुचितं पदम्।

चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चन्दनम्॥

अर्थात् एक ही उचित पद को धारण करती हुई सूक्ति कस्तूरी धारण की हुई चन्द्रानना तथा चन्दन-चर्चित श्यामा के समान सुषोभित होती है। उदारहणार्थ-

नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे, खेली होली।

प्रिय-कर-कठिन-उरोज-परस कस कसक मसक गयी चोली,

एक-वसन रह गयी मन्द हँस अधर दसन अनबोली

कली-सी कांटे की तोली। (गीतिका, निराला)

यहाँ पदों के प्रयोग में विशेष औचित्य है। कठिन शब्द जहाँ हाथ की कठिनता को प्रकट कर रहा है, वहीं उरोज के वैशिष्ट्य का भी निरूपण कर रहा है।

(2) अलंकारौचित्य

जहाँ अलंकार के प्रयोग द्वारा कोई वस्तु, भाव या विचार विशेष प्रभाव से सम्पन्न या चमत्कार-पूर्ण हो जाता है, वहाँ अलंकारौचित्य होता है। क्षेमेन्द्र ने अलंकारौचित्य के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है कि अर्थगत औचित्य से परिपूर्ण अलंकार योजना से उक्ति उसी प्रकार सुषोभित हो जाती है जैसे उत्तुंग पयोधर पर स्थित तरल हार से मृगलोचना रमणी -

अर्थोचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीन स्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा॥ (औचित्यविचारचर्चा)

अलंकारौचित्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है -

उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग।
विकसे संत सरोज सब, हरसे लोचन भृंगा॥ (रामचरितमानस, तुलसीदास)

यहाँ उपमेय एवं उपमान में पूर्ण साम्यता दिखाकर एकरूपता व्यक्त की गई है।

(3) वाक्यौचित्य

काव्य में जब किसी वाक्य के उचित प्रयोग से विशेष चमत्कार उत्पन्न हो, तो वाक्यौचित्य होता है। वाक्यौचित्य के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का विचार है -

औचित्यरचितं वाक्यं सततं सम्मतं सताम्।
त्यागोदग्रमिवैश्वर्यं शीलोज्ज्वलमिवश्रुतम्॥

अर्थात् औचित्य से निर्मित वाक्य त्याग से उन्नत ऐश्वर्य के समान तथा शील से उज्ज्वल प्रसिद्धि के समान विद्वानों में निरन्तर प्रशंसनीय होता है। वाक्यौचित्य का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

फागु की भीर अभीरन में गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाई अबीर की झोरी।
छीनि पितम्बर कम्मर दै सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाइ कही मुसकाइ लला फिरि आइयो खेलन होरी॥

इस छन्द में अन्तिम वाक्य औचित्यपूर्ण है। इसकी व्यंजना है कि अब आप होली खेालने का नाम नहीं लेंगे।

(4) लिंगौचित्य

जहाँ लिंग के उचित प्रयोग से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है, वहाँ लिंगौचित्य होता है। क्षेमेन्द्र का मत है कि राजचिह्न से युक्त शरीर के समान उचित लिंग प्रयोग से काव्योक्ति भी चमक उठती है। उदाहरणार्थ 'आँसू' की पंक्तियाँ प्रस्तुत है -

गौरव था नीचे आये, प्रियतम मिलने को मेरे।
मैं इठला उठा अकिंचन, देखें ज्यों स्वप्न सवरे॥

यहाँ नायिका के लिए पुल्लिंग का प्रयोग होने से काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि हुई है।

(5) रसौचित्य

रसौचित्य का तात्पर्य है - काव्य में रस का औचित्यपूर्ण प्रयोग। किसी रस के प्रयोग के कारण यदि काव्य में रमणीयता एवं प्रभावोत्पादकता आती है, तो वहाँ रसौचित्य होता है। पद्माकर का एक सवैया दर्शनीय है -

आ अनुराग की फाग लखौ जँह रागती राग किसोर किसोरी।
 त्यों पद्माकर धालि धली फिरि लाल ही लाल गुलाल किसोरी।
 जैसी को तैसी रही पिचकारी काहू न केसरि रंग में बोरी।
 गोरिन के रंग भीजिगो साँउरो साँउरे के रंग भीजि गो गोरी।।

यहाँ कृष्ण एवं गोपियों के मध्य फाग खेलने का चित्रांकन हुआ है। पिचकारियाँ केसर के रंग में डुबोई भी नहीं गई हैं, वास्तविक फाग हुआ ही नहीं है। फिर भी कृष्ण का अन्तरतम गोपियों के रंग से तथा गोपियों के अन्तरतम कृष्ण के रंग से रंग गये हैं। इस अनुराग के फाग में आत्मीयता का आधिक्य होने से रसौचित्य है।

(6) प्रबन्धौचित्य

जब किसी काव्य या नाटक में प्रबन्ध के अंगों -कथा, चरित्र, प्रकृति, भाषा आदि में औचित्य का निर्वाह कर उसे भव्य एवं आह्लादकारी बनाया जाता है, तो वहाँ प्रबन्धौचित्य होता है। रामचरितमानस, पद्मावत, कामायनी, साकेत, राम की शक्तिपूजा आदि में इसे देखा जा सकता है।

(7) क्रियाऔचित्य

जहाँ क्रियाओं के प्रयोग में औचित्य का निर्वाह कर काव्य को मनोहारी बनाया जाता है, तो वहाँ क्रिया-औचित्य होता है। उदाहरणार्थ - मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ।

भुज लता फँसाकर नर-तरु से झूले से झोंके खाती हूँ। (कामायनी)

यहाँ 'तुलना' क्रिया के रम्य प्रयोग से क्रिया-औचित्य है।

(8) विशेषणौचित्य

विशेषण के उचित प्रयोग से काव्य के गुण एवं सौन्दर्य में वृद्धि होती है। विशेषण अभिधेय अर्थ के अनुरूप होना चाहिए। विशेषणौचित्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है -

छूट-छूट अलस फैल जाने दो पीठ पर

कल्पना से कोमल ऋजु-कुटिल प्रसार-कामी केश-गुच्छ।

इस उदाहरण में 'केश-गुच्छ' के कई रमणीय विशेषणों (कोमल, ऋजु, कुटिल, प्रसारकामी) ने कविता की चारुता में वृद्धि की है। प्रसार-कामी विशेषण सर्वथा उपयुक्त है। बाल यद्यपि लम्बे है तो भी उनकी प्रसार की कामना अभी और अधिक है।

(9) उपसर्गौचित्य

जहाँ उचित उपसर्गों के प्रयोग के कारण काव्य में रमणीयता आती है, तो वहाँ उपसर्गौचित्य होता है। जैसे-

कहते आते थे यही अभी नरदेही,
माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।
इस उदाहरण में 'कु' उपसर्ग का सुन्दर प्रयोग किया गया है।

(10) गुणौचित्य

अर्थ एवं भावों के अनुरूप माधुर्य, ओज आदि गुणों का प्रयोग काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि करता है। राम की शक्ति पूजा' में हनुमान के उड्डयन प्रसंग में ओज गुण का सुन्दर समावेश है-

हो श्वसित पवन उनचास पिता पक्ष से तुमुल एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल
शत घूर्णावर्त तरंग भंग उठते पहाड़ जल राशि-राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़।

(11) स्वभावौचित्य

कृत्रिमता काव्य की सरसता में व्यवधान पहुँचाती है तो स्वाभाविकता काव्य को सरस एवं प्रभावकारी बनाती है। 'उर्वशी' से एक उदाहरण प्रस्तुत है-

इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है,
सिंह से बाँहें मिलाकर खेल सकता है,
फूल के आगे वही असहाय हो जाता,
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता।
बिद्ध हो जाता सहज बंकिम नयन के वाण से
जीत लेती रूपसी नारी उसे मुसकान से।

यहाँ पुरुष के स्वभाव का सहज चित्रण किया गया है। श्रेष्ठ वीर भी अपनी पत्नी को अप्रसन्न करना नहीं चाहता है। चरित्रगत सहजता से कविता औचित्यवान एवं प्रभावशाली बन पड़ी है।

यहाँ औचित्य के उन प्रमुख भेदों का अध्ययन हमने किया है जो हिन्दी कविता में उपयोगी है। कम उपयोगी अथवा अनुपयोगी औचित्य-भेदों का वर्णन विस्तार-भय से छोड़ दिया गया है। आचार्य क्षेमेन्द्र के वर्गीकरण के अतिरिक्त भी हम उन भेदों को औचित्य में समाहित कर सकते हैं, जिनके निर्वाह से काव्य प्रभावशाली बनता है, जैसे- कल्पना, बिम्ब, प्रतीक, मिथक आदि।

5.4.3 पाश्चात्य साहित्य शास्त्र और औचित्य

पाश्चात्य आलोचना-जगत में भी औचित्य पर पर्याप्त विचार हुआ है। यूनान के प्रसिद्ध विद्वान अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थों 'पोइटिक्स' और 'रेटारिक' में औचित्य की विषय विवेचना की है। 'पोइटिक्स' में औचित्य के चार भेदों का वर्णन है- घटनौचित्य, रूपकौचित्य, विशेषणौचित्य और विषयौचित्य। अरस्तू के अनुसार साहित्य में वर्णित घटना वास्तविक जगत से सम्बंधित होनी चाहिए तथा स्वाभाविक होनी चाहिए। प्रासंगिक घटना का मुख्य घटना से भी उचित संबंध होना चाहिए। रूपकौचित्य के विषय में उनका कहना है कि गद्य को प्रभावशाली बनाने के लिए रूपक का प्रयोग अपेक्षित होता है। वस्तु के उत्कर्ष को द्योतित करने के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया जाए, वे उत्कृष्ट गुणों से युक्त होने चाहिए। इसी प्रकार वस्तु का अपकर्ष दिखाने के लिए विशेषण हीन गुणों से युक्त होने चाहिए। अरस्तू मानते हैं कि उपमान और उपमेय में गुण, जाति, धर्म आदि का साम्य आवश्यक होता है। प्रकरण के अर्थ को पुष्ट करने के लिए उपयुक्त विशेषण आवश्यक हैं तथा विषय के अनुरूप भाषा का प्रयोग भी अपेक्षित होता है। 'रेटारिक' में अरस्तू ने मुख्य रूप से शैली सम्बन्धी गुणों एवं तत्त्वों के औचित्य पर प्रकाश डाला है। लौजाइनस ने भी काव्य में औदात्य की प्रतिष्ठा के लिए औचित्य को महत्वपूर्ण माना है। वे उदात्त के लिए भाव की तीव्रता को उपयुक्त मानते हैं तो अलंकारों के समुचित प्रयोग को भी जरूरी मानते हैं। उनका विचार है कि अलंकार का प्रयोग तब सार्थक होता है जब यह पता ही न चले कि इनका प्रयोग तभी उचित होता है जब अभिव्यक्ति की मनोहरता में उनका योगदान अनिवार्य हो।

प्रसिद्ध समीक्षक होरेस ने से भी साहित्य में औचित्य की उपयोगिता सिद्ध की है। अपने ग्रंथ 'आर्स पोएतिका' के आरम्भ में वे लिखते हैं यदि कोई चित्रकार मनुष्य के सिर में घोड़े की गर्दन जोड़ दे, सब प्रकार के जन्तुओं के अंगों को एकत्र कर उनमें किस्म-किस्म के पंख लगा दे और ऊपरी हिस्से में भट्टी मछली बना दे तो मेरे मित्रों! क्या इन्हें देखकर आप अपनी हँसी रोक पाएंगे। होरेसने के मन में औचित्य काव्यरचना का प्रधान गुण है। विषय, भाव, भाषा, छन्द, सर्वत्र वे औचित्य के आग्रही हैं।

5.4.4 औचित्य की आवश्यकता एवं महत्ता

औचित्य की महत्ता इस बात से सिद्ध हो जाती है कि उसकी आवश्यकता मात्र काव्य में ने होकर जीवन के सभी अंगों में होती है। भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य को सौन्दर्यमण्डित करने वाले अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि के चिन्तन की सुदृढ़ परम्परा विद्यमान है। वस्तुतः सभी काव्यांगों के प्रयोगों में औचित्य आवश्यक है क्योंकि उसके अभाव में भूषण भी दूषण बन जाते हैं।

औचित्य का निर्वाह न होने पर कविता हास्यस्पद हो जाती है। 'कुमारस्मभव' में शंकर एवं पार्वती के श्रंगारिक चित्रण में औचित्य का निर्वाह न होने पर उसे विद्वानों ने निन्दित किया है। छन्दों, अलंकारों एवं भाषा के प्रयोग में अनौचित्य होने के कारण 'रामचन्द्रिका' के कवि केशवदास को 'कठिन काव्य का प्रेत' एवं 'हृदयहीन' होने की उपाधि मिली है। निश्चित रूप से औचित्य की प्रतिष्ठा से एक बहुत

बड़े अभाव की पूर्ति हुई। इससे अलंकारवादियों, रीतिवादियों एवं वक्रोक्तिवादियों की अत्यंत चमत्कारवादी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगा तथा काव्य में स्वाभाविकता को स्थान मिला।

अतः समझना चाहिए कि औचित्य वह तत्त्व है जो काव्य में सौन्दर्य का सन्निवेश करता है। क्षेमेन्द्र ने आलोचकों को यह बताया कि यदि वे किसी भी कृति का मूल्यांकन करना चाहे तो उसके विभिन्न मार्मिक अवयवों में औचित्य की समीक्षा करें। वे देखें कि गुण, अलंकार अपने स्थान पर उचित हैं या नहीं। अंग और अंगी का संतुलन है या नहीं?

बोध प्रश्न 2

5. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए -

- (1) क्षेमेन्द्र ने औचित्य को.....के रूप में प्रतिष्ठित किया है।
- (2) क्षेमेन्द्र ने औचित्य के उदाहरण सहित.....भेद निधारित किए हैं।
- (3) लिंग के उचित प्रयोग से काव्य मेंहोता है।
- (4) प्रबन्धौचित्य में काव्य या नाट्य में प्रबन्ध के अंगोंमें औचित्य का निर्वाह किया जाता है।

6. कॉलम 'क' के वाक्यांश का कॉलम 'ख' के वाक्यांश से सही मिलान कीजिए।

'क'

'ख'

- | | |
|---|---|
| (1) आनन्दवर्धन ने | (क) पोइटिक्स में औचित्य के चार भेदों का विवेचन किया है। |
| (2) अरस्तू ने | (ख) काव्य की आत्मा को ध्वनित रस कहा है। |
| (3) उचित अलंकारों के प्रयोग से काव्य में सौन्दर्य बढ़ता है। | (ग) काव्य जीवित कहते हैं। |
| (4) कुन्तक और क्षेमेन्द्र काव्य में काव्यात्मा न कहकर | (घ) उसे अलंकारौचित्य की संज्ञा दी है। |

5.5 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा कि काव्य और काव्यांगों में जब समरूपता एवं सामंजस्य होता है तो वह ललित एवं चित्ताकर्षक होता है। उचित होने का यही भाव ही औचित्य है। भारतीय एवं पाश्चात्य-दोनों ही साहित्यशास्त्र में औचित्य की चर्चा किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। क्षेमेन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों पर गम्भीरता से विचार किया और औचित्य नामक सिद्धान्त की स्थापना की। औचित्य पर बल देकर आचार्य प्रवर ने काव्य को जीवन-मूल्यों के निकट ला दिया। औचित्य जीवन को भी सुन्दर और सामंजस्यपूर्ण बनाता है। सामाजिक मर्यादा की प्रतिष्ठा का आधार औचित्य ही है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने काव्य को सामाजिक मूल्य एवं मर्यादा के सन्दर्भ में देखने की नई दृष्टि दी है।

5.6 शब्दावली

काव्यांग: रस, अलंकार, रीति, शब्दशक्ति आदि काव्य के तत्त्व

सौष्ठव: सौन्दर्य

प्रतिकूल: विपरीत

आलंकारिक: अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी आचार्य

मीमांसा: गम्भीर मनन या विचार

परुष: कठोर

इतिवृत्त: कथावस्तु या घटना

प्रख्यात: प्रसिद्ध

वैयाकरणिक: व्याकरण की रचना करने वाला विद्वान

अपरिहार्य: आवश्यक, अत्याज्य

5.7 अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न के 1 उत्तर

(1) ख

(2) ग

3. (1) असत्य (2) सत्य (3) असत्य

(4) सत्य (5) असत्य (6) सत्य

बोध प्रश्न 2

5. (1) काव्य का जीवित (प्राण) (2) 27

(3) लिंगौचित्य (4) कथा, चरित्र, प्रकृति, भाषा

6. (1) ख

(2) क

(3) घ

(4) ग

5.8 उपयोगी पाठ्य सामग्री

(1) भारतीय काव्य विमर्श : डॉ०राममूर्ति त्रिपाठी; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली -110002

(2) भारतीय काव्यशास्त्र: डॉ०विश्वभर नाथ उपाध्याय; वाणी प्रकाशन नई दिल्ली।

(3) काव्यशास्त्र: डॉ० भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी।

5.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. ' औचित्य ' से आप क्या समझते है ? सविस्तार स्पष्ट कीजिए . औचित्य सम्प्रदाय की पूर्व एवं उत्तरवर्ती परम्परा का समीक्षात्मक विश्लेषण कीजिए

2 आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित औचित्य सिद्धांत कि सविस्तार विवेचना कीजिए तथा औचित्य के भेद तथा महत्त्व को भी समझाइये.

इकाई-6 भारतीय काव्य शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय: रीति सम्प्रदाय

- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 उद्देश्य
- 6.3 रीति का अभिप्राय
 - 6.3.1 रीति
 - 6.3.2 वृत्ति
 - 6.3.3 प्रवृत्ति
 - 6.3.4 मार्ग
- 6.4 भारतीय काव्यशास्त्र में रीति का स्वरूप
- 6.5 आचार्य वामन और रीति सिद्धान्त
 - 6.5.1 काव्यगुण
 - 6.5.2 शब्दगुण
 - 6.5.3 अर्थगुण
 - 6.5.4 रीतियाँ
- 6.6 काव्यात्मा और रीतिसिद्धान्त
- 6.7 रीति और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र
- 6.8 सारांश
- 6.9 शब्दावली
- 6.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 6.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 6.12 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 6.13 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

भारतीय साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित इस इकाई से पूर्व की इकाईयों के अध्ययन के बाद आप यह बता सकते हैं कि साहित्य क्या है, साहित्य कैसे रचा जाता है, साहित्य क्यों लिखा, पढ़ा, सुना जाता है, रस क्या है ? और अलंकारों के विषय में हमारी शास्त्रीय मान्यताएं क्या हैं?

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप, काव्य के हेतु और काव्य के प्रयोजनों के विषय में चर्चा करने के साथ ही आचार्यों ने इस विषय में गम्भीर चिन्तन किया है कि काव्य में वह कौन सा तत्त्व है, जो काव्य की समस्त वस्तुसत्ता और प्रक्रिया में व्याप्त है, जिसके अन्दर काव्य के सभी तत्त्व सफलतापूर्वक समाविष्ट हो जाते हैं, जिसके उच्चारण से काव्य की सभी विशेषताओं का परिचय मिल जाता है और जिसके अभाव में काव्य में जीवन्तता नहीं होती है। इस सन्दर्भ में आत्मा शब्द का प्रयोग किया जाने लगा और रीति सिद्धान्त की तो नींव ही काव्यात्मा के प्रसंग में रखी गई। प्रस्तुत इकाई में रीतिसिद्धान्त के विषय में विस्तार से विवेचन प्रस्तुत है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप रीति तथा रीतिसिद्धान्त के विषय में भारतीय चिन्तकों की अवस्थापनाओं के विषय में जान सकेंगे और रीति के विषय में पश्चिम की शैली तथा शैलीवैज्ञानिक आदि अवधारणाओं का विश्लेषण कर सकेंगे।

6.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप...

- * बता सकेंगे कि रीति क्या है?
- * समझा सकेंगे कि रीति के विषय में भारतीय तथा पश्चिम के विचारकों का अभिमत समझ सकेंगे।
- * रीतिसिद्धान्त के विषय में जानते हुए समझा सकेंगे कि क्या रीति काव्य की आत्मा है?

6.3 रीति का अभिप्राय

रीति सिद्धान्त भारतीय साहित्यशास्त्र का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है, जिसके अनुसार रीति 'काव्य की आत्मा' या मूलतत्त्व है। आचार्य वामन ने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' नामक अपनी रचना में रीति को काव्य का जीवनाधायक तत्व मानकर रीतिसिद्धान्त की स्थापना की। इस सिद्धान्त को जानने से पहले रीति शब्द के विषय में जानना जरूरी है।

रीति शब्द का कोशगत अर्थ है- 'गमन प्रणाली'- अर्थात् जिससे जाया जाय या गतिशील हुआ जाय, वह रीति है। रीयते गम्यतेऽनेन इति रीतिः। मार्ग, पन्थ, पद्धति, प्रणाली, शैली, ढंग, प्रकार, तरीका आदि इसके प्रयोगमूलक अर्थ हैं। अंग्रेजी का 'स्टाइल' शब्द भी रीति के अर्थ में

प्रयुक्त किया जाता है। स्टाइल का कोशगत अर्थ है-तरीका, काम करने का ढंग, अभिव्यक्ति का एक प्रकार, आचरण, प्रणाली, ढब, तर्ज, रीति, प्रथा, रिवाज, फैशन, बनावट, डिजाइन, वाक्यरचना का वह ढंग जो लेखक की भाषा सम्बन्धी निजी विशेषताओं का सूचक होता है।

ऋग्वेद में रीति शब्द धारा-महावरीति: शवसासारत् पृथक् (ऋ.1/28/14), गति - वातेवाजुर्यानघेवरीति:(ऋ.2/39/5)के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आचार्य भरत रीति को प्रवृत्ति, भामह, दण्डी, कुन्तक आदि- मार्ग, मम्मट तथा पण्डितराज जगन्नाथ वृत्ति आनन्दवर्धन रीति को संघटना कहते हैं। राजशेखर रीति, प्रवृत्ति और वृत्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हुए वेषविन्यासक्रम को प्रवृत्ति, विलासविन्यासक्रम को वृत्ति और वचनविन्यासक्रम को रीति कहते हैं (भारतीय साहित्यशास्त्र कोश)।

आइए, रीति के विषय में स्पष्टतः जानने के लिए काव्य की शैली के सन्दर्भ में आचार्यों द्वारा वर्णित प्रवृत्ति, वृत्ति, मार्ग आदि के विषय में जानें।

6.3.1 रीति

आचार्य वामन ने रीति शब्द का प्रयोग विशिष्ट पदरचना के अर्थ में किया है- विशिष्टपदरचनारीति: (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 3/2/15)। उनकी दृष्टि में रीति काव्य का सर्वोच्च तत्व है। वामन ने शब्द गुम्फ को रीति का बहिरंग तत्व और गुण, रस, अलंकार तथा दोषाभाव को उसका अन्तरंग तत्व माना है। इसीलिए रीति को विशिष्ट पदरचना और पदरचना में गुणों की अनिवार्यता को स्वीकार किया और रीति का विभाजन देशभेद के आधार पर किया है। जैसे पदरचना के वर्गीकरण का प्रयास आरम्भ से ही आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूपों में किया है। पदरचना के अतिरिक्त विभिन्न प्रदेशों के आचार-विचार तथा रहन-सहन के वर्गीकरण का प्रयास भी मिलता है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में प्रवृत्ति के नाम से यह वर्गीकरण प्राप्त होता है। उन्होंने आवन्ती, दाक्षिणात्य, पांचाली और औड-मागधी - ये चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ मानी थीं और इनके द्वारा यह निर्देश किया था कि इन-इन प्रदेशों के लोग किस प्रकार का आचार-व्यवहार करते हैं।

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने नाट्यवृत्तियों का निर्देश नाट्य की माता के रूप में किया है। ये नाट्यवृत्तियाँ विविधप्रकार की नाट्यशैलियाँ ही हैं। आगे चलकर इसी आधार पर काव्य-वृत्तियों का आविष्कार हुआ। काव्यवृत्तियों के वर्गीकरण का आधार शैली ही है। काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भामह के समय में काव्यप्रकारों का वर्गीकरण प्रदेशों के आधार पर किया जाता था। उनके समय में वैदर्भ और गौड़ दो प्रकार के काव्य प्रचलित थे। वैदर्भ को गौड़ की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता था। भामह ने इस प्रकार का भेद नहीं माना और स्पष्ट कहा कि वैदर्भी काव्य स्पष्ट, लघु और कोमल होते हुए भी यदि पुष्टार्थ और वक्रोक्ति से युक्त नहीं है तो वह मात्र श्रुतिमधुर होगा। इसके विपरीत अलंकारयुक्त ग्राम्यता रहित अर्थवान्, न्याय्य और जटिलतारहित गौडीय काव्य भी श्रेष्ठ होगा।

दण्डी ने वैदर्भ और गौड़ को मार्ग नाम दिया है और गौड़ी की अपेक्षा वैदर्भी को श्रेष्ठ माना है।

आचार्य कुन्तक ने काव्यमार्गों का उल्लेख किया है, किन्तु उनका वर्गीकरण प्रदेशों के आधार पर नहीं है। उनके अनुसार केवल तीन मार्ग हैं- सुकुमार, विचित्र और मध्यमा। उनका मानना है कि देशभेद के आधार पर मार्गभेद उचित नहीं। उसका आधार कवियों का स्वभावभेद ही होना चाहिए। यद्यपि कवियों का स्वभाव अलग-अलग होता है, इसलिए मार्ग भी अनन्त हो सकते हैं, लेकिन उनकी गणना असम्भव होने से तीन प्रकार के मार्ग ही मानना श्रेयस्कर है।

यहाँ यह बात साफ है कि काव्यरचना की शैली का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया जाता रहा है। देशभेद के आधार पर, कवि स्वभाव के आधार पर। रचनाकार अपने परिवेश, अपने संस्कारों से सदैव प्रभावित होता है, उसकी भाषा पर उसके देशकाल का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ता है और इसी आधार पर उसकी शैली में भी वैशिष्ट्य होता है और इसीलिए हम उसकी भाषा शैली से उसके स्थानादि से परिचित हो जाते हैं। इस वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने के लिए ही संस्कृत के आचार्यों ने रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, मार्ग, संघटना आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

6.3.2 वृत्ति

वृत्ति शब्द का सामान्य अर्थ जीविका का व्यापार है। पर काव्यशास्त्र में यह विशिष्ट अर्थ का वाचक है। वहाँ यह तीन विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होती है- 1. शब्दशक्तिके रूप में, 2. अनुप्रास अलंकार के उपनागरिका, परुषा तथा कोमला नामक प्रकारों के लिए और 3. नाट्यवृत्तियों के लिए। नाटक की वृत्तियों की कल्पना का मूल आधार वाचिक तथा आंगिक अभिनय है। समाज में प्राणियों के भाव या चेष्टाओं का अनुकरण काव्य में किया जाता है। इसीलिए भरतमुनि ने वृत्तियों को समस्त काव्यों की माता माना है- 'सर्वेषामिति काव्यानां काव्यस्य मातृका इति'। उन्होंने नायकादि की मन, वाणी और शरीर की विभिन्न प्रकार की चेष्टाओं को ही वृत्ति कहा है। वृत्तियाँ मुख्य रूप से चार हैं- भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी। ये वृत्तियाँ नाट्यरचना में उपयोगी होती थीं (नाट्यशास्त्र, 6/24-25)। दरअसल कवि का अभिप्रेत नाटक के माध्यम से रसोन्मीलन करना होता है और इस कार्य की साधिका वृत्तियाँ होती हैं। श्रंगार और हास्य रस में कैशिकी, वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में सात्वती, करुण और अद्भुत रसों में भारती और भयानक और वीभत्स रसों में आरभटी का प्रयोग किया जाता है (भारतीय साहित्यशास्त्र कोश)। इसीलिए इन वृत्तियों को संघटना के धर्म विशेष माधुर्य, ओज आदि गुणों से अभिन्न कहा गया अतः इनकी स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो गई। आगे चलकर प्रतिहारेन्दुराज ने कहा कि भामह द्वारा अनुप्रास नामक भेद के रूप में उपनागरिका तथा ग्राम्या नामक दो वृत्तियों की उद्भावना की गई थी (भामहो हि ग्राम्योपनागरिका वृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रास व्याख्यातवान्- उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज द्वारा 1/2 की लघुवृत्ति)। आचार्य रुद्र ने पाँच वृत्तियाँ मानी-मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता तथा भद्रा। किन्तु ये वृत्तियाँ मुख्यतः अनुप्रास से ही सम्बन्धित हैं। इन सभी वृत्तियों में रुद्र ने विविध प्रकार के अक्षरों का विधान बताया है। मधुरा वैदर्भी रीति के या उपनागरिका वृत्ति के सदृश मानी जाएगी, भद्रा कोमला या ग्राम्या के सदृश और शेष तीनों वृत्तियाँ परुषा वृत्ति के समकक्ष मानी जाएंगी। इससे स्पष्ट है कि वृत्तियाँ दो

प्रकार की हैं-1. नाट्यसम्बन्धी और 2. अनुप्राससम्बन्धी। प्रथम प्रकार की भारती आदि चार नाट्यवृत्तियाँ रसानुकूल अर्थ का सन्निवेश करती हैं और द्वितीय प्रकार की परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या आदि रसानुरूप शब्दयोजना में सहायक होती हैं। वामन द्वारा वर्णित रीति वृत्ति ही है। हम कह सकते हैं कि रीति और वृत्ति में विशेष अन्तर नहीं है। वृत्तियों में अर्थयोजना पर अधिक महत्व दिया जाता है और रीतियों में शब्दयोजना पर। जिस प्रकार शब्द से अर्थ और अर्थ से शब्द पृथक् नहीं किये जा सकते, उसी प्रकार रीति और वृत्ति भी संयुक्त हैं।

6.3.3 प्रवृत्ति

प्रवृत्ति का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि ने किया। भरत के अनुसार नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार का बखान करने वाली प्रवृत्ति है। इस प्रकार प्रवृत्ति केवल भाषा से ही सम्बन्धित न होकर वेश तथा आचार से भी सम्बन्धित है, जबकि रीति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही है। प्रवृत्ति आचार-विचार से सम्बन्ध रखती है और रीति बोलने तथा लिखने से सम्बन्धित है। इस तरह प्रवृत्ति का आधार बाह्य है और रीति का आन्तरिक। प्रवृत्ति का आधार भौगोलिक है, रीति कविस्वभाव पर आधारित है। इसीलिए राजशेखर ने प्रवृत्ति को वेशविन्यास से सम्बन्धित- 'वेशविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः' कहा और रीति को वचन विन्यास से सम्बन्धित - 'वचनविन्यासक्रमो रीतिः' माना। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के तीसरे अध्याय में काव्यपुरुष की उत्पत्ति के प्रसंग में प्रवृत्ति, वृत्ति और रीतियों से सम्बन्धित एक रोचक कथा दी है। उनके अनुसार ब्रह्मलोक में किसी विषय पर ऋषियों और देवताओं में विवाद हो जाने पर ब्रह्मा ने निर्णयार्थ सरस्वती को ब्रह्मलोक भेज दिया। फिर सरस्वती को खोजने के लिए सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष चारों दिशाओं में गया। सर्वप्रथम वह पूर्वदेश में अर्थात् गोडदेश में गया, वहाँ गौड़ मागधी प्रवृत्ति, भारती वृत्ति और गौड़ीया रीति का प्रयोग काव्यरचना में होता है। फिर वह पांचाल देश में गया, जहाँ मध्यमा प्रवृत्ति, सात्वती या आरभटी वृत्ति और पांचाली रीति काव्य रचना में विशेषरूप से प्रयुक्त होती है। पांचाल देश से वह अवन्तिदेश में पहुँचा, जहाँ आवन्ती प्रवृत्ति, कैशिकी वृत्ति प्रयुक्त होती है, इसके बाद दक्षिण दिशा में जाने पर काव्यपुरुष ने पाया कि वहाँ दक्षिणात्या प्रवृत्ति, कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति में काव्यरचना होती है। काव्यपुरुष को साहित्यवधू पूर्व दिशाओं में उतना आकृष्ट नहीं कर पायी, जितना धीरे-धीरे पांचाल देश में और उससे कुछ अधिक और अन्त में दक्षिण दिशा में काव्यपुरुष साहित्यवधू के मोहपाश में आसक्त हो गया और उसने जिस वाणी का प्रयोग किया, वह वैदर्भी रीति ही है।

राजशेखर के रूपक के इस प्रसंग में वामन का यह मत पुष्ट होता है कि रीतियों का नामकरण उन उन देशों में इसी प्रकार की रचना की प्रधानता से हुआ। इसका आशय यह नहीं है कि जिस प्रकार विशिष्ट द्रव्य देश विशेष में उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार ये रीतियाँ भी देश विशेष में ही प्रयुक्त होती हैं। ये रीतियाँ किसी भी स्थान में प्रयुक्त हो सकती हैं, हाँ इनके नामकरण का आधार

यह है कि जो जो काव्यगुण जिस स्थान की कविता में पाये जाते हैं, उन्हीं के आधार पर रीतियों का नामकरण कर दिया गया।

6.3.4 मार्ग

आचार्य कुन्तक का कहना है कि रीति का सम्बन्ध साक्षात् कवि से है, देश विशेष से नहीं। इसलिए उन्होंने रीति, वृत्ति या प्रवृत्ति के स्थान पर मार्ग शब्द का व्यवहार किया। उनके अनुसार काव्य में सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मध्यम मार्ग- ये तीन मार्ग होते हैं। इन तीनों मार्गों की व्याख्या कुन्तक ने इस प्रकार की है- कवि की अम्लान प्रतिभा से उद्भिन्न, नवीन शब्द और अर्थ से मनोहर, अयत्नविहीन स्वल्प अलंकारों से युक्त पदार्थ के स्वभाव की रक्षा के लिए आहार्यकौशल की उपेक्षा करने वाला, रसादि परमार्थज्ञ, मनःसंवाद सुन्दर सुकुमार मार्ग है। इस मार्ग से कविगण उसी प्रकार जाते हैं, जैसे फूलों से खिले वन में होकर भ्रमर। कहने का आशय यह है कि सुकुमार मार्ग वह मार्ग है, जो कवि की प्रतिभाशक्ति से सम्पन्न होने के कारण नये नये शब्दों और अर्थों से युक्त होता है, जिसमें अलंकारों का प्रयोग अनायास किया जाता है, प्रयत्नपूर्वक अलंकारों का प्रयोग नहीं किया जाता। यह मार्ग सहृदय के मन को मोहने वाला है। इसके विपरीत जहाँ कवि एक ही अलंकार से सन्तुष्ट न होकर मणियों के जड़ाव के समान एक के बाद एक अलंकार जोड़ते जाते हैं, वहाँ विचित्र मार्ग होता है। और जहाँ पुराने कवियों द्वारा वर्णित वस्तु भी केवल उक्तिवैचित्र्य मात्र से सौन्दर्य को प्राप्त कराई जाती है, वहाँ मध्यम मार्ग होता है। मध्यम मार्ग में सुकुमार और विचित्र दोनों मार्गों की सम्पत्ति समान रूप से होती है। इन तीनों मार्गों में सौभाग्य और औचित्य नामक दोनों गुण पद, वाक्य और प्रबन्ध तीनों में स्पष्ट और व्यापक रूप से रहते हैं।

कुन्तक ने वामन के द्वारा देशाश्रित रूप में विभाजित रीतियों के स्थान पर काव्याश्रित मार्गनिर्देश करके एक वैज्ञानिक विवेचन का स्तुत्य प्रयास किया है। उन्होंने एक तो देशों के आधार पर रीति या मार्ग के वर्गीकरण का विरोध किया है और दूसरे इस प्रकार वर्गीकृत की गई रीतियों में जो विभेद किया गया है कि वैदर्भी रीति सबसे श्रेष्ठ है और गौड़ी सबसे कमतर है- का भी विरोध किया है। उनका कहना है कि वैदर्भी रीति को श्रेष्ठ मानने पर अन्य रीतियाँ व्यर्थ हो जायेंगी और ऐसा कौन मनुष्य होगा जो उत्तम वस्तु को छोड़कर अधम या मध्यम को ग्रहण करेगा, क्योंकि काव्यरचना कोई दरिद्र का दान नहीं है।

स्पष्ट ही कुन्तक का वर्गीकरण वामन की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। उनके अनुसार तीन प्रकार की काव्यशैलियाँ हो सकती हैं। एक में वस्तु में सहज सौन्दर्य का उन्मेष होता है तो दूसरे में अलंकारों द्वारा सामान्य वस्तु को भी खराद पर चढ़ा कर चमकीला बनाया जाता है और तीसरी में सहज एवं यत्नसाध्य दोनों प्रकार के सौंदर्य का समन्वय होता है। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार सहज, अलंकृत और सहजालंकृत ये तीन प्रकार की शैलियाँ हो सकती हैं। निश्चय ही वामन इतनी स्पष्टता के साथ वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों के स्वरूप का उद्घाटन ही कर सके हैं, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि वामन ने अपने पूर्ववर्ती भरत, भामह और दण्डी की

शैलीविभाजन की परम्परा को अधिक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया और आगे आने वाले कुन्तक जैसे आचार्यों के लिए मार्ग प्रशस्त किया, जिस पर चलकर वे अपने मार्गों की स्थापना कर सके।

क.बोध प्रश्न

- 1.रीति शब्द का कोशगत अर्थ बताइए।
- 2.रचना शैली के सन्दर्भ प्रयोग किये गये अन्य कौन कौन से शब्द हैं, संक्षेप में बताइए।
रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए -

- 1.कुन्तक रीति के लिएशब्द का प्रयोग करते हैं।
- 2.वामन के अनुसार रीतियों की संख्या..... है।

सत्य/ असत्य बताइए-

- 1.आचार्य भरतमुनि ने रीति के स्थान पर प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। (सत्य/असत्य)
- 2.रीति को काव्यात्मा के रूप में भामह ने प्रतिष्ठित किया। (सत्य/असत्य)

निम्न लिखित में सही विकल्प बताइए-

- 1.विशिष्ट पदरचना रीति है, यह कथन है-
क.आचार्य भरत ख.आचार्य वामन ग.आचार्य कुन्तक घ. आचार्य दण्डी
- 2.काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के रचनाकार हैं-
क.आचार्य भरत ख.आचार्य दण्डी ग. आचार्य मम्मट घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं।

3.निम्नांकित प्रवृत्तियों का सही क्रम बताइए-

- क.पांचाली 1. पूर्व
ख.आवन्ती 2. पश्चिम
ग.दाक्षिणात्य 3. दक्षिण
घ.गौड़ मागधी 4.उत्तर

6.4 भारतीय काव्यशास्त्र में रीति का स्वरूप

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हम यह समझ चुके हैं कि वामन के द्वारा रीतिसिद्धान्त की स्थापना करने से पहले भारतीय काव्यशास्त्र में रीति विषयक चिन्तन प्रवृत्ति, मार्ग, वृत्ति आदि के रूप में हो चुका था। वामन की रीति विषयक मान्यताओं को समझने से पहले वामन के पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं पर दृष्टि डालना जरूरी है।

भारतीय काव्यशास्त्र के आदि ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में रीति का उल्लेख स्पष्ट रूप से तो नहीं है, किन्तु उसमें चार प्रवृत्तियों का उल्लेख अवश्य मिलता है, जिसमें रीति का पूर्वाभास खोजा जा सकता है। भरत के अनुसार नाट्यप्रयोगों के लिए आवन्ती, दाक्षिणात्य, पांचाली तथा गौड़मागधी -

ये चार प्रवृत्तियाँ हैं। आवन्ती पश्चिम से, दक्षिणात्य दक्षिण से, पांचाली उत्तर से और गौड़ मागधी पूर्व से सम्बन्धित हैं। प्रवृत्ति की परिभाषा देते हुए भरत ने कहा है कि पृथ्वी के नाना देशों के वेश, भाषा, आचार और वार्ता का जो कथन करती है, उसे प्रवृत्ति कहते हैं - 'पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्ताः प्रवृत्तिः'। इस प्रकार भरतोक्त प्रवृत्ति के अन्तर्गत अनेक देशों के आचार, विचार, रहन-सहन इत्यादि का ज्ञान आ जाता है। इसके साथ ही भरत ने गुण, दोष, लक्षण आदि के विवेचन में उन सभी तत्त्वों को अन्तर्हित कर लिया है, जो आगे चलकर रीति के आधारभूत तत्त्व सिद्ध हुए। यद्यपि वामन के द्वारा वर्णित रीति केवल भाषा से सम्बन्ध रखती है, फिर भी ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि रीति की परिकल्पना प्रवृत्ति के आधार पर ही की गई होगी। अर्थात् हो सकता है कि भरत के नाट्यशास्त्र में प्रवृत्तियों का उल्लेख देखकर परवर्ती विद्वानों के मन में यह विचार आया हो कि काव्यभाषा और शैली का विवेचन ही प्रदेशगत आधार पर किया जा सकता है। यद्यपि कुन्तक ने यह कहकर कि यह मातुलेय भगिनि से विवाह की जैसी प्रथा नहीं है, जो देशाचार के रूप में स्वीकार की जा सके' देशभेद के आधार पर रीतियों के वर्गीकरण को अस्वीकार किया है, किन्तु हम देशभेद के आधार पर किये गए वर्गीकरण के महत्व को नकार नहीं सकते हैं।

आज भी हम अंग्रेजी कविता की विशेषताएं, बंगला साहित्य की विशेषताएं आदि कहकर देशभेद को स्वीकार करते हैं। बाणभट्ट ने हर्षचरित के प्राक्कथन में देशभेद पर आधारित रीतियों की विशेषता बताई। उनका कहना है कि उत्तर के लोग श्लेषमयी रचना करते हैं, पश्चिम के लोग साधारण अर्थ तक ही अपने को सीमित रखते हैं, दक्षिणात्यों की शैली उत्प्रेक्षा प्रधान है और गौड़(बंगाली) लोग आडम्बरपूर्ण शैली को पसन्द करते हैं किन्तु बाण इनमें से किसी एक को पसन्द करने के पक्षपाती नहीं हैं, उनको सभी गुणों का समन्वय अच्छा लगता है और ऐसी शैली को वे दुर्लभ कहकर कवि की कसौटी मानने का संकेत देते हैं।(हर्षचरितम् 1/7-8)

भामह के काव्यलंकार में रीतियों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, किन्तु उन्होंने रीति शब्द का प्रयोग न करके काव्य शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने काव्यभेदों के अन्तर्गत वैदर्भ और गौड़ की चर्चा की और कहा कि अन्यों के मत से वैदर्भ और गौड़ में अन्तर है, किन्तु हमारे मत में वैदर्भ ही गौडीय है। दोनों को अलग-अलग मानना गड्ढलिकाप्रवाह है। भामह ने इस प्रकार श्रेष्ठ काव्य को ही महत्ता प्रदान ही है। उनका निर्भ्रान्त मत है कि अलंकारयुक्त, अग्राम्या, अर्थवान्, न्याय्य, अनाकुल गौडीय मार्ग भी श्रेष्ठ है और इन गुणों से रहित वैदर्भ मार्ग भी श्रेष्ठ नहीं है। भामह के सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है कि उन्होंने गुणों की स्वतन्त्र रूप से विवेचना ही है। उनकी दृष्टि में गुणों का सम्बन्ध वैदर्भ और गौड़ काव्यों से नहीं, अपितु सत्काव्य मात्र से है।

रीति का सबसे व्यवस्थित विवेचन दण्डी से मिलता है। यद्यपि रीति शब्द का प्रयोग उन्होंने भी नहीं किया है। दण्डी के अनुसार परस्पर अत्यन्त सूक्ष्म भेद वाले वाणी के अनेक

मार्ग हैं। इनमें से वैदर्भी और गोड़ीय मार्गों का अन्तर स्पष्ट है। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज, कान्ति और समाधि-ये दशगुण वैदर्भमार्ग के प्राण हैं। गोड़ मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय लक्षित होता है। (काव्यादर्श, 1/40-42)।

रीति विषयक इस ऐतिहासिक क्रम का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति के विकास की चार अवस्थाएं दिखाई पड़ती हैं। सबसे आरम्भ में रीति का सम्बन्ध भौगोलिक आधार पर किया गया। आचार्य भरतमुनि, बाणभट्ट आदि के समय में रीतियों का आधार भौगोलिक परिक्षेत्र ही है। इसके उपरान्त रीतिनिर्धारण की भौगोलिक सीमाओं की अपेक्षा काव्य विषय और अन्य काव्यगुणों के आधार पर रीतियों का निर्धारण किया जाने लगा। तीसरी अवस्था में कुन्तक आदि के समय में काव्य की शैलियों का निर्धारण कविस्वभाव के आधार पर हुआ और वामन, आनन्दवर्धन, रुद्रट आदि के समय तक आते-आते रीति का मूलाधार समास, गुण, रस आदि ठहराए गए। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा। किन्तु वामन ने इसे आत्मतत्त्व के रूप में जो प्रतिष्ठा दी, वह आनन्दवर्धन आदि को स्वीकार्य नहीं हुई और उन्होंने तथा अन्य रस-ध्वनिवादियों ने रीति को रस का उपकारक मानकर रसाभिव्यक्ति के साधन के रूप में स्वीकार किया गया।

ख. बोध प्रश्न

1. संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति के चार आधार कौन कौन से हैं, बताइए।
2. देशभेद के आधार पर रीतियों का विभाजन करना उचित है या कवि स्वभाव के आधार पर।

6.5 आचार्य वामन और रीति सिद्धान्त

आचार्य वामन का स्थान काव्यशास्त्र के क्षेत्र में केवल रीति सम्प्रदाय की दृष्टि से ही नहीं, अपितु अन्यान्य सम्प्रदायों की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्पूर्ण है, क्योंकि सर्वप्रथम वामन ने ही काव्यात्मा के अनुसन्धान का सूत्रपात किया और भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य सिद्धान्त और सम्प्रदायों का अनुसन्धान हुआ। रीति शब्द की परिभाषा और स्वरूप की व्याख्या करने के कारण ही वामन को रीति सम्प्रदाय का संस्थापक माना जाता है। यद्यपि इससे पूर्व भी भामह और दण्डी ने रीति की चर्चा अवश्य की है। पर रीति को काव्य की आत्मा के रूप में वामन ने ही प्रतिष्ठित किया। रीति के सन्दर्भ में वामन का कहना है कि -

रीतिरात्मा काव्यस्य (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/2/6)- काव्य की आत्मा रीति है।

विशिष्ट पदरचना रीति: (का.सू.वृ., 1/2/7)- वह रीति विशिष्ट पदरचना है।

विशेषो गुणात्मा (का.सू.वृ., 1/2/8)-विशिष्ट का अर्थ गुणों की सम्पन्नता से है।

काव्यशोभायाः कर्तारौ धर्मा गुणाः (का.सू.वृ., 3/11)-गुण काव्य में शोभा को उत्पन्न करने वाले हैं।

इन गुणों को वामन ने शब्द गुण और अर्थगुण के रूप में विभक्त किया है। अतः वामन के मत में शब्द तथा अर्थ के चमत्कार या सौन्दर्य से युक्त पदरचना ही रीति है। इसीलिए गुण काव्य में नित्य हैं। अलंकार अनित्य। अतएव नित्य गुणों को ही वामन रीति का प्रधान तत्त्व स्वीकार करते हैं।

वामन का मानना है कि कवि का उपास्य तत्त्व है- रमणीयता। और रमणीयता को ध्यान में रखकर वह काव्यरचना करता है। यह रमणीयता शब्द में भी है और अर्थ में भी। वामन के अनुसार शब्दगुण शब्द की रमणीयता को प्रकट करते हैं और अर्थगुण अर्थ की रमणीयता को। इन्हें शब्द चमत्कार और अर्थ चमत्कार भी कहा जा सकता है।

स्पष्ट है कि रीतियों का आधार गुण हैं अतः रीति को जानने से पहले गुणों के विषय में जानना आवश्यक है।

6.5.1 काव्यगुण-

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यगुणों पर काव्यशास्त्रीय चिन्तन के आरम्भ से ही विचार किया जाने लगा था। सामान्यतः गुण का अर्थ है- विशेषता, श्रेष्ठता, दोषाभाव, उत्तमता स्वभाव, आकर्षक तथा शोभाकारक धर्मा काव्य के सन्दर्भ में गुण काव्यसौन्दर्य के आवश्यक उपादान हैं। वामन अलंकारों और गुणों को पृथक् पृथक् मानते हुए गुणों को काव्यशोभा को करने वाले उत्पादक धर्म और अलंकारों को काव्यशोभा को बढ़ाने वाले तत्त्व कहकर यह मानते हैं कि अलंकारों के बिना काम चल जाएगा क्योंकि अलंकार काव्य के अनित्य धर्म हैं, किन्तु गुणों के बिना काव्य में शोभाधान नहीं हो सकता-

'काव्यशोभायाः कर्तारौ धर्माः गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। ये खलु शब्दार्थयोः धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते चौजः प्रसादयः ओजः प्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति। पूर्वे नित्याः। पूर्वेगुणाः नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्ते। (का.सू.वृ. 3/1/1-3)। वामन ने गुणों को रस का धर्म नहीं, शब्दार्थ का धर्म मानते हुए काव्य में उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की। हालाँकि बाद में ध्वनिवादी आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा मानकर गुणों को रस का अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म माना। मम्मट ने काव्यप्रकाश में गुण को इस रूप में पारिभाषित किया-

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादयः इवात्मनः।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयोः गुणाः॥(काव्यप्रकाश, 8/66)

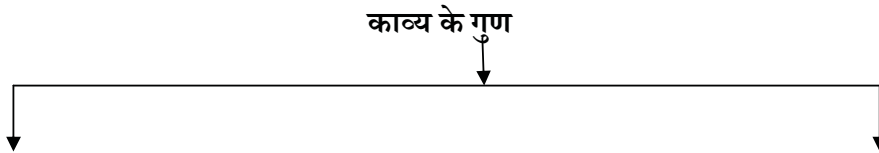
जैसे शौर्य आदि आत्मा के धर्म हैं, इसी तरह गुण काव्य के अंगी रस के धर्म हैं और काव्य के उत्कर्षाधायक ये धर्म सदैव रस में रहते हैं। आचार्य भरतमुनि से लेकर आधुनिक काल तक गुण विषयक अनेक उद्भावनाएं हुई हैं और यह बात सर्वस्वीकार्य है कि काव्यगुण काव्यसौन्दर्य के आवश्यक उपादान हैं और काव्य के नित्य धर्म हैं। यह हम पहले ही जान चुके हैं कि वामन की रीति का आधार ये गुण ही हैं। इन रीतियों को समझने के लिए काव्यगुणों के भेदों पर विचार करना भी आवश्यक है। इस विषय में आचार्यों में मतभेद है। आचार्य भरतमुनि ने काव्यगुणों की संख्या दस निर्धारित की। ये दस गुण हैं- श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति और उदारता।

'श्लेषः प्रसादः समता समाधि माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।

अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च कायार्थगुणाः दशैते॥ -

नाट्यशास्त्र, 17/69

आचार्य मम्मट द्वारा वर्णित इन दस गुणों को वामन ने शब्द ओर अर्थ के आधार पर बीस भेद कर दिये। भामह, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ पण्डितराज जगन्नाथ ने इन दस गुणों का अन्तर्भाव प्रसाद, माधुर्य और ओज- इन तीन गुणों में कर दिया। दूसरी ओर अग्निपुराणकार ने काव्यगुणों के शब्दगत (श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, उदारता, सत्य, यौगिकी), अर्थगत (माधुर्य (संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढि, सामयिकता) तथा शब्दार्थगत (प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, उदारता, पाक तथा राग) - अर्थात् उन्नीस काव्यगुणों की चर्चा की है। कुन्तक औचित्य तथा सौभाग्य नामक दो साधारण गुणों और माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नामक चार विशेष गुणों का उल्लेख करते हैं। भोज के अनुसार गुण 24 हैं और इनके बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक रूप से विभाजन करने पर काव्यगुणों की संख्या 72 ठहरती है। गुणों की संख्या के विषय में इस वैभिन्य से यह सिद्ध होता है कि काव्यशास्त्रियों ने गुणों के विषय में अत्यन्त विस्तार से विचार किया है। भरतोक्त दस गुण ओर ध्वनिवादियों के द्वारा वर्णित तीन-प्रसाद, ओज ओर माधुर्य की विशेष चर्चा हुई अतः वामन द्वारा वर्णित बीस गुणों का यहाँ परिचय दिया जा सकता है। वामन द्वारा वर्णित गुणों के प्रकार ये हैं:



शब्दगुण	अर्थगुण
1.ओज	1.ओज
2.प्रसाद	2.प्रसाद
3.श्लेष	3.श्लेष
4.समता	4.समता
5.समाधि	5.समाधि
6.माधुर्य	6.माधुर्य
7.सौकुमार्य	7.सौकुमार्य
8.उदारता	8.उदारता
9.अर्थव्यक्ति	9.अर्थव्यक्ति
10.कान्ति	10.कान्ति

6.5.2 शब्दगुण

वे गुण, जो शब्दों पर आधारित हों, शब्दगुण हैं। दस शब्दगुणों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है- रचना की गाढ़बन्धता ओज है। इसमें संयुक्त, रेफबहुल वर्णों का प्राधान्य रहता है। जहाँ ओज के साथ शिथिलता मिली हो, वहाँ प्रसाद गुण होता है। श्लेष गुण वहाँ होता है, जहाँ अनेक पद एकदूसरे से जुड़े प्रतीत हों। जिस शैली में काव्यरचना आरम्भ की जाय, अन्त तक उसका निर्वाह हो, वहाँ समता है। उतार-चढ़ाव के ठीक ठीक नियमों का पालन होने पर समाधि गुण होता है। जहाँ समास रहित पदों का प्रयोग हो, वहाँ माधुर्य और जहाँ अक्षर-विन्यासादि में परुषता का अभाव हो, वहाँ सौकुमार्य गुण होता है। अर्थ स्पष्ट हो और उसकी तुरन्त प्रतीति हो, तो अर्थव्यक्ति और रचनाशैली की नवीनता होने पर कान्ति नामक शब्दगुण होता है।

6.5.3 अर्थगुण

वे गुण, जो अर्थ से सम्बन्धित हों, अर्थगुण हैं। अर्थप्रौढ़ि ओजगुण है। यानी कवि को यह मालूम होना चाहिए कि बात को कहाँ विस्तार से कहना है और कहाँ संक्षेप में, यह कला ही अर्थप्रौढ़ि है। अर्थ की निर्मलता को प्रसाद गुण कहा जाता है। विशिष्ट प्रकार की संघटना यानी क्रम, कुटिलता, प्रसिद्ध वर्णन की शैली और युक्त विन्यास के योग में श्लेष तथा अवैषम्य समता अर्थात् सुगमता नामक अर्थगुण है। नवीन अर्थ के अवलोकन की शक्ति समाधि है। उक्तिवैचित्र्य माधुर्य और कठोरता का अभाव सौकुमार्य है। अग्राम्यत्व या वाग्वैदग्ध्य में उदारता है और पदार्थों का स्पष्ट वर्णन अर्थव्यक्ति है। भरतोक्त श्रृंगारादि रसों का जहाँ पूर्ण परिपाक हो, वहाँ कान्ति गुण कहलाता है। इन शब्द और अर्थगुणों तथा रीति का अविभाज्य सम्बन्ध भारतीय काव्यशास्त्र में माना गया है। काव्य में गुणों की महत्ता अक्षुण्ण है। वे काव्य में अनिवार्यतः शोभा का आधान करने वाले हैं, शब्दार्थ की शोभा के हेतु हैं, रस के उत्कर्षाधायक हैं अतः काव्य की उत्कृष्टता के भी हेतु हैं।

6.5.4 रीतियाँ

- काव्यगुणों के आधार पर वामन ने तीन रीतियाँ मानी हैं-वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली

इन रीतियों में से वैदर्भी को वामन समग्रगुणा और सब गुणों में श्रेष्ठ मानते हैं। गौड़ी में ओज और कान्ति- दो गुण होते हैं ओर पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य। वामन का मानना है कि समग्रगुणा वैदर्भी रीति की प्रशंसा कवियों के द्वारा की गई है। प्रशंसा का कारण यह है कि इस रीति में काव्यदोषों का अभाव और वीणा के स्वर के सदृश श्रवण मनोहरता होती है-

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।

विपंचीस्वरसौभाग्या वैदर्भीरीतिरिष्यते॥ (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/2/11)

वैदर्भी रीति में सुकुमार वर्णयोजना होती है। ट, ठ, ड, ढ जैसे कठोर वर्णों का प्रयोग वैदर्भी रीति में वर्जित है। श्रृंगार, करुण, आदि कोमल रसों के लिए यह रीति सर्वथा उपयुक्त है। यथा-

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सम राम हृदय गुनि।

तुलसीदास की इन पंक्तियों में समासरहित पदयोजना है, कोमल पदावली का प्रयोग है, कठोर वर्णों का प्रयोग नहीं किया गया है, अतः यहाँ वैदर्भी रीति है। गौड़ी रीति में ओज और कान्ति ये दो ही गुण पाये जाते हैं। वामन के अनुसार इस रीति में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का अभाव होने के कारण समासबहुलता होती है और कठोर वर्णों का प्रयोग होता है (का.सू.वृ., 1/2/12)। जैसे-

आज का तीक्ष्ण-शर-विधृत शिप्रकर वेग प्रखर।

शतशेल सम्स्वरण शील नील नभ गर्जित स्वर॥ -निराला, राम की शक्तिपूजा

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि गौड़ी रीति का प्रयोग वीर, रौद्र, भयानक आदि रसों की अभिव्यक्ति के लिए उत्तम है। इसमें माधुर्य गुण का पूर्णतः अभाव होता है। पांचाली रीति में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का विधान रहता है। छोटे छोटे समास होते हैं। (का.सू.वृ., 1/2/13)। यह मध्यम स्तर की रीति मानी गई है। उदाहरणतः-

विजन वन वल्लरी पर

सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न

अमल कोमल तरुणी जूही की कली। -निराला, जूही की कली

वामन के अनुसार इन तीन रीतियों में काव्य उसी प्रकार समाविष्ट हो जाता है जैसे रेखाओं भीतर चित्र प्रतिष्ठित होता है- 'एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव, चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति' (का.सू.वृ., 1/2/13)। वामन के अनुसार वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली- इन तीनों रीतियों में से सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण कवियों को वैदर्भी रीति में ही रचना करनी चाहिए। अन्य रीतियों में कुछ ही गुण पाये जाते हैं, अतः इन रीतियों से युक्त काव्य आह्लादकारी नहीं होता, जितना वैदर्भी के प्रयोग से आनन्दित होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार गौड़ी और पांचाली रीतियों का प्रयोग वैदर्भी रीति तक पहुँचने में सहायक होता है। वामन इस मत का दृढ़ता से खण्डन करते हुए कहते हैं -

जिस प्रकार सन की सुतली बॉटने वाला अभ्यासी तसर या रेशम के सूत को बुनने में दक्षता प्राप्त नहीं कर सकता है, उसी प्रकार ये दोनों रीतियाँ वैदर्भी रीति के प्रयोग में सहायक नहीं हो सकती हैं, क्योंकि अतत्त्व का अभ्यासी व्यक्ति तत्त्व को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। वामन के मत में वैदर्भी के माध्यम से सामान्य अर्थ भी सुस्वाद्य हो जाता है और अर्थगुण सम्पदा से युक्त वैदर्भी रीति के प्रयोग में तो अतिविशिष्टता आ ही जाती है। वामन के रीति विषयक विचारों का विश्लेषण करने पर हम कह सकते हैं कि वामन की दृष्टि कवि को काव्यरचना का मर्म समझाने की रही है, जिसके तहत वे रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं। कहने का आशय यह है कि काव्यशिल्प के विषय में जानकर ही कवि श्रेष्ठ रचना कर सकता है। उसकी कथनपद्धति ही काव्य में रस का समावेश कर सकती है, अतः रीति के विषय में जानना अत्यावश्यक है। इस सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि वामन ने काव्यांग विवेचन करते हुए लोक, विद्या और प्रकीर्ण के विषय में जो चर्चा की है, उसके द्वारा वे यह स्पष्ट करते हैं कि विविध विषयों का ज्ञान पाकर जब रचनाकार विभिन्न शास्त्रों का अभ्यास कर लेता है और गुरुजनों की सेवा में रहकर काव्य रचना के लिए अभ्यास कर लेता है, तब रीति की सहायता से या यों कहें कि 'कवित विवेक' से काव्यरचना में समर्थ होता है। अतः रीति काव्य का अनिवार्य तत्त्व है।

ग.बोध प्रश्न

1. रीति और गुण में अन्तर बताइए।
2. रीतियाँ कितने प्रकार की हैं, वामनोक्त रीतियों के विषय में बताइए।

सत्य/असत्य बताइए-

1. रीतिसिद्धान्त के प्रवर्तक वामन हैं।
- (क) सत्य (ख) असत्य

2 निम्नलिखित में से असत्य कथन छोटिए-

- क. नियत वर्ण व्यापार को वृत्ति कहा जाता है।
 ख. वैदर्भी रीति का मूल आधार ओज गुण होता है।
 ग. पांचाली रीति में माधुर्य और सौकुमार्य गुण होते हैं।
 घ. कवियों को वैदर्भी रीति में रचना करनी चाहिए।

3. गौडी रीति सम्पन्न है-

- क. सभी शब्द और अर्थ गुणों से ख. ओज और कान्ति गुण से
 ग. प्रसाद, माधुर्य और ओज गुण से घ. सौकुमार्य गुण से।

4. गुणों का सम्बन्ध है-

- क. रीति से ख. अलंकार से ग. रस से घ. उपर्युक्त तीनों से।

6.6 काव्यात्मा और रीतिसिद्धान्त

काव्य के अनिवार्य सारतत्त्व के अनुसंधान के लिए आचार्य आरम्भ से ही यत्नशील रहे थे, किन्तु काव्यात्मा की स्फुट रूप से प्रतिष्ठा आचार्य वामन ने की और रीति को काव्य की आत्मा कहा। वामन के उपरान्त रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, राजशेखर आदि आचार्यों ने रीति सिद्धान्त के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास ने रस की दृष्टि से भरत की चार वृत्तियों का निरूपण किया। चिन्तामणि ने कविकल्पतरु में रीति को काव्यपुरुष का स्वभाव ओर वृत्ति को उसका व्यवहार कहा। कुलपतिमिश्र ने रसरहस्य में गुणों और वृत्तियों का उल्लेख किया है। आधुनिक युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, बाबू गुलाबराय, डॉ. नगेन्द्र आदि ने रीति के सन्दर्भ में विचार किये हैं। पर रीति को बाद के आचार्यों ने काव्य की आत्मा नहीं माना और यह कहा कि रीति काव्य का अनिवार्य तत्व तो है, लेकिन वह काव्य का साधन है, साध्य तो रस ही हो सकता है।

6.7 रीति और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

पश्चिम में विषयानुरूप शैली के प्रयोग के सन्दर्भ में समय समय पर विद्वानों ने विचार किये हैं। अरस्तू ने स्तुति, करुणा, प्रोत्साहन आदि भावों के आधार पर शैली में परिवर्तन का निर्देश किया है। डेमेट्रियस ने शैली के सन्दर्भ में लिखा है कि कुछ ऐसे विषय होते हैं, जिनमें ओजस्विनी शैली अधिक उपयुक्त होती है। लांजाइनस महान शैली को आत्मा की प्रतिध्वनि मानते हैं। शॉपेनहावर स्पष्टता, सुन्दरता और शक्ति सम्पन्न शैली को काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं।

ध्यातव्य है कि पश्चिम में रिचर्डस की अर्थमीमांसा पद्धति, नयी समीक्षा, शैलीविज्ञान और उत्तर आधुनिक विचारधारा में शैली के सन्दर्भ में विस्तार से चर्चा निरन्तर होती रही है। पश्चिम की नव्य आलोचना का सिद्धान्त सूत्र है -'Poetry is a language in different form' वामन के सूत्र -विशिष्ट पदरचनारीति: के पर्याप्त सन्निकट है। शैलीविज्ञान और रीतिविज्ञान में समानता को परिलक्षित करते हुए ही विद्यानिवास मिश्र ने शैलीविज्ञान विषयक अपनी रचना का नाम ही रीतिविज्ञान रखा है।

6.8 सारांश

रीति सिद्धान्त का इतिहास वामन के द्वारा रीति को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने से बहुत पहले से आरम्भ होता है। यद्यपि वामन बाद के आचार्यों ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया ओर उसे काव्य के साधन के रूप में ही स्वीकृति दी, लेकिन काव्य के सन्दर्भ में रचना वैशिष्ट्य के विषय में प्राचीन काल से अब तक विचार होता आया है, इससे रीति की महत्ता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

6.9 शब्दावली

शब्दगुम्फ -शब्दों का समूह

गड़डलिकाप्रवाह -भेड़चाल

समग्रगुणा- वामन के द्वारा वर्णित दस शब्दगुण तथा दस अर्थगुणों से सम्पन्ना।

अतत्त्व का अभ्यासी- जिसका काज उसी को साजे।

7.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.बोध प्रश्न के उत्तर

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए -

- 1.कुन्तक रीति के लिए ...मार्ग.....शब्द का प्रयोग करते हैं।
- 2.वामन के अनुसार रीतियों की संख्या..बीस..... है।

सत्य/ असत्य बताइए-

1. (सत्य)
2. (असत्य)

निम्न लिखित में सही विकल्प बताइए-

- 1.ख.आचार्य वामन
2. घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं।
- 3.निम्नांकित प्रवृत्तियों का सही क्रम बताइए-
क.पांचाली 1. मध्यदेश
ख.आवन्ती 2. पश्चिम
ग.दाक्षिणात्य 3. दक्षिण
घ.गौड़ मागधी 4.पूर्व

ख. बोध प्रश्न के उत्तर

1.संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति के चार आधार 1.भौगोलिक,2.काव्यविषय, 3.कविस्वभाव और4.समास, गुण, रस आदि

ग.बोध प्रश्न के उत्तर सत्य/असत्य बताइए-

- 1.(क)सत्य

2. ख.वैदर्भी रीति का मूल आधार ओज गुण होता है।
3. ख.ओज और कान्ति गुण से
4. क.रीति से

6.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- मम्मट, काव्यप्रकाश, व्याख्याकार डॉ. सत्यव्रत सिंह, (1955)चौखम्बा विद्याभवन, चौक, बनारस-1,
- अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली,(प्रथम संस्करण, 2009)राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,
- गुप्त, राकेश एवं चतुर्वेदी, ऋषिकुमार, साहित्यानुशीलन, (प्रथम संस्करण, 1972)सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद,
- सहाय, राजवंश हीरा, भारतीय-आलोचना-शास्त्र ,(2003)बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना,
- मिश्र, भगीरथ, काव्यशास्त्र (1966), विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
- जैदी,शैलेश,शर्मा,गोपालबाबू, उपाध्याय, पशुपतिनाथ, अमिताभ,वेदप्रकाश (सम्पादक मण्डल), भारतीय काव्यचिन्तन (प्रथम संस्करण,2001), ग्रन्थायन, अलीगढ़.
- वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति,
- टण्डन, नीरजा, शैलीविज्ञान, (1996),ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-7

6.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

- 1.काव्यालंकार,
2. काव्यादर्श
- 3.ध्वन्यालोक
- 4.काव्यालंकारसूत्रवृत्ति
- 5.काव्यप्रकाश

6.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. क्या रीति को काव्य की आत्मा माना जा सकता है? विस्तृत विवेचन कीजिए

-
2. रीतिसिद्धान्त के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डालिए तथा बीस गुणों के विषय में विस्तार से बताइए।

इकाई-7 भारतीय साहित्य सिद्धान्त-वक्रोक्ति

- 7.1 प्रस्तावना
- 7.2 उद्देश्य
- 7.3 वक्रोक्ति: परम्परा एवं स्वरूप
- 7.4 वक्रोक्ति के भेद
 - 7.4.1 वर्णविन्यास वक्रता
 - 7.4.2 पदपूर्वार्ध वक्रता
 - 7.4.3 पदपरार्ध वक्रता
 - 7.4.4 वाक्य वक्रता
 - 7.4.5 प्रकरण वक्रता
 - 7.4.6 प्रबन्ध वक्रता
- 7.5 वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद
- 7.6 वक्रोक्ति और शैलीविज्ञान
- 7.7 सारांश
- 7.8 शब्दावली
- 7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 7.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 7.11 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

सम्पूर्ण वाङ्मय में, काव्य को अपनी ललित पदावली, मनोहर शैली तथा भावाभिव्यंजक मार्मिक अभिव्यंजना पद्धति के वैशिष्ट्य के आधार पर महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। स्पष्ट है कि व्यवहार एवं काव्य की भाषा में अन्तर होता है। काव्य की उक्ति अधिक मार्मिक एवं उसकी पद-रचना अधिक सुसज्जित होती है। काव्य-मीमांसक आचार्यों ने काव्य के इस चारुत्व एवं मार्मिकता का आधार अलग-अलग बताया है। कविता की इसी चारुता, मनोज्ञता एवं आह्लादकता की खोज के लिए अलंकार, रीति, ध्वनि, रस, औचित्य आदि सिद्धान्तों का उद्भव हुआ। वक्रोक्ति भी इन्हीं सिद्धान्तों में से एक है जिसके उद्भावक आचार्य कुन्तक हैं।

वक्रोक्ति दो शब्दों से मिलकर बना है- वक्र तथा उक्ति। वक्रता का शाब्दिक अर्थ है- टेढ़ापन, विचित्र, असामान्य आदि। इस प्रकार वक्रोक्ति का अर्थ हुआ- वह उक्ति, जो लोकोत्तर हो, विचित्र हो एवं चमत्कारपूर्ण हो।

इस इकाई में आप पढ़ेंगे कि कुन्तक से पूर्व के आचार्यों ने भी काव्य की रमणीयता का आधार वक्रोक्ति को माना है। कुन्तक ने प्रतिपादित किया है कि काव्य का सौन्दर्य उक्ति की विषिष्टता में ही है। अपनी प्रतिभा के बल पर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी सिद्धान्तों को वक्रोक्ति में समाविष्ट कर दिया है। इस इकाई में वक्रोक्ति के भेदोपभेदों की जानकारी तो होगी ही, आप यह भी जानेंगे कि अभिव्यंजनावाद और शैलीविज्ञान जैसे सिद्धान्त भी किस प्रकार वक्रोक्ति से सम्बन्धित हैं।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जानेंगे कि -

1. वक्रोक्ति क्या है और इसका स्वरूप क्या है?
2. भारतीय काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति की परम्परा पुरानी है।
3. वक्रोक्ति के भेदोपभेदों का अध्ययन करते हुए आप जानेंगे कि लोकोत्तर आह्लादकारी वैचित्र्य या चारुता ही काव्य का सर्वस्व है।
4. काव्य-सिद्धान्तों का चिन्तन करने वाले सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में वक्रोक्ति का महत्व स्थापित किया है।
- 5.

7.3 वक्रोक्ति: परम्परा एवं स्वरूप

यद्यपि वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना आचार्य कुन्तक द्वारा दसवीं शताब्दी में की गई तथापि इससे पूर्व भी वक्रोक्ति का प्रयोग काव्य एवं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में होता रहा है। कादम्बरी एवं हर्षचरित सदृश अनेक साहित्यिक ग्रन्थों में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। अलंकार सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य भामह हैं जिन्होंने छठी शताब्दी में अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में वक्रोक्ति का विधिवत् विवेचन किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को ही सभी अलंकारों का मूल माना है। उनकी मान्यता है कि वक्रोक्ति के बिना कोई अलंकार हो ही नहीं सकता है:-

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना॥

इस प्रकार भामह ने वक्रोक्ति को अलंकार की आत्मा के रूप में ग्रहण किया है।

भामह के पश्चात् अलंकारवादी आचार्य दण्डी ने अपनी रचना 'काव्यादर्श' में काव्य को दो भागों में विभाजित किया है- स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति। वे श्लेष को वक्रोक्ति का शोभादायक गुण मानते हुए भी रस से युक्त मानते हैं-

श्लेषः सर्वासु पुष्पाति प्रायोवक्रोक्तिशु श्रियम्।

द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिष्वेति वाङ्मयम्॥

दण्डी के बाद आचार्य वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' में वक्रोक्ति को सादृश्य के आधार पर केवल लक्षणामूलक अलंकार ही कहा है - 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'। वामन के परवर्ती रुद्रट ने वक्रोक्ति को और भी संकुचित कर दिया और वह शब्दालंकार मात्र रह गई।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का चिन्तन किसी न किसी रूप में विद्यमान था।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को अत्यन्त व्यापक स्वरूप प्रदान किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत परिभाषा निम्नवत है -

उभावेतावलंकार्यो तयोः पुनरलंकृति।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी मणितिरुच्यते॥

(वक्रोक्ति जीवितम्)

अर्थात् यह दोनों - शब्द और अर्थ अलंकार्य होते हैं। वैदग्ध्य भंगीभणिति ही वक्रोक्ति है। उन्होने वैदग्ध्य का अर्थ विदग्धता अथवा कविकर्म कौशल किया है। भंगी, शोभा, विच्छित्ति, वक्रता, सौन्दर्य ये सभी शब्द काव्यशास्त्र में प्रायः समान अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। भणिति का अर्थ उक्ति अथवा कथन है। अतः कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति एक ऐसी कथन-भंगिमा है जो लोक व्यवहार में प्रयुक्त तथा शास्त्र आदि में उपनिबद्ध सामान्य प्रणाली से भिन्न हो, प्रतिभाशाली कवि के कौशल से पूर्ण हो तथा काव्यमर्मज्ञों के हृदय को आह्लादित करने में समर्थ हो। काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कुन्तक कहते हैं कि सहृदय को आह्लादित करने वाले एवं मन को आकर्षित करने वाले कवि व्यापार से युक्त वाक्य-विन्यास में सुन्दर ढंग से व्यवस्थित एवं साहित्यमय शब्द और अर्थ को काव्य कहा जाता है -

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाहादकारिणि॥

इस प्रकार वक्रोक्ति के स्वरूप के विषय में कहा जा सकता है -

1. वक्रोक्ति एक कथन-प्रणाली है। यह अलंकार्य न होकर अलंकार है।
2. वक्रोक्ति सामान्य कथन प्रणाली एवं लोकषास्त्र में प्रयुक्त कथनप्रणाली दोनों से भिन्न होती है।
3. यह वक्रोक्ति सहृदयजनों को आह्लादित करने में समर्थ होती है।
4. प्रतिभा के बल पर ही कवि वक्रोक्ति का निर्माण करने में समर्थ होता है।
5. वक्रोक्ति काव्य का प्राण तत्व है।

बोध प्रश्न -1

(1) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए -

(क) आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ.....में वक्रोक्ति का विधिवत विवेचन किया है।

(ख) आचार्य दण्डी ने काव्य को दो भागोंमें विभक्त किया है।

(ग) आचार्य वामन नेकहकर वक्रोक्ति के स्वरूप को संकुचित कर दिया है।

(घ) वैदग्ध्यभंगी भणिति हीहै।

7.4 वक्रोक्ति के भेद

इस भाग में आप वक्रोक्ति के भेदोपभेदों की जानकारी प्राप्त करते हुए जानेंगे कि वक्रोक्ति में निहित कविविदग्धता एवं चमत्कार कविता में वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक व्याप्त है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद किए हैं- वर्णविन्यास, वक्रता, पद-पूर्वार्ध वक्रता, पद-परार्धवक्रता, वाक्य वक्रता, प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध वक्रता। यहाँ इनका अलग-अलग विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

7.4.1 वर्णविन्यास वक्रता

जहाँ एक या दो या अनेक वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से बार-बार प्रयुक्त होते हैं, वहाँ वर्ण-विन्यास वक्रता होती है-

एकौ द्वौ बहवो वर्णाः मध्यमानाः पुनः पुनः।

स्वल्पान्तर विधा सोक्ता वर्णविन्यास वक्रतो॥ (वक्रोक्तिजीवितम्)

यहाँ वर्ण से तात्पर्य व्यंजन वर्णों से है। इसके अतिरिक्त शब्दालंकार- अनुप्रास, यमक, विभिन्न वृत्तियों एवं शब्दगुणों का समावेश है। कुन्तक ने यह भी स्पष्ट किया है कि वर्णयोजना विषयानुकूल होनी चाहिए तथा वर्णों में कृत्रिमता न होकर सहजता होनी चाहिए। एक उदाहरण प्रस्तुत है-

इस करुणा कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती,

क्यों हाहाकार स्वरो में वेदना असीम गरजती?

यहाँ स्वल्प अन्तर के साथ 'क' वर्ण की आवृत्ति होने से वर्णविन्यास वक्रता है।

7.4.2 पदपूर्वार्ध वक्रता

पद के आरम्भ (प्रकृति या मूल धातु) में उत्पन्न वक्रता को पदपूर्वार्ध वक्रता कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं जिनका विवेचन प्रस्तुत है -

रूढ़िवैचित्र्य वक्रता

जब कवि अपनी प्रतिभा से किसी शब्द के रूढ़ अर्थ को परिवर्तित कर उक्ति में लालित्य ला देता है, तो वहाँ रूढ़िवैचित्र्य वक्रता होती है। ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत विवेचित लक्षणामूला ध्वनि के दोनों भेद-अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत इसके अन्तर्गत लिए जाते हैं। उदाहरणार्थ -

सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।

जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥

यहाँ 'राम' का रूढ़ अर्थ 'दशरथ' के पुत्र हैं, परन्तु यहाँ इस शब्द में वीरता, दृढ़प्रतिज्ञा एवं उत्साह का भाव संक्रमित हो गया है। अतः रूढ़िवैचित्र्यवक्रता है।

पर्याय वक्रता

एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले अनेक पर्यायवाची शब्दों में से कवि जब किसी एक का चयन कर उक्ति में लालित्य उत्पन्न करता है, तो वहाँ पर्याय वक्रता होती है। जैसे -

रो रोकर सिसक-सिसक कर कहता मै करुण कहानी

तुम सुमन नोचते फिरते करते जानी अनजानी। (आंसू)

उपर्युक्त उदाहरण में 'सुमन' पद में पर्याय वक्रता है। सुमन का अर्थ फूल है परन्तु उसका वाच्यार्थ मन है। इसके स्थान पर यदि इसका अन्य पर्यायवाची (कुसुम, पुष्प आदि) रख दिया जाए, तो इसका सौन्दर्य नष्ट हो जाएगा।

उपचार वक्रता

उपचार का अर्थ है - भिन्न पदार्थों में सादृश्य के कारण उत्पन्न होने वाली समानता। इस वक्रता में मूर्त उपमेय के लिए अमूर्त उपमान और अमूर्त उपमेय के लिए मूर्त उपमान का प्रयोग किया जाता है। इसमें अचेतन में चेतना का आरोप भी किया जाता है। रूपक, मानवीकरण अलंकार इसी में आते हैं। उदाहरणार्थ -

हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों?

प्रसाद जी के गीत की इस पंक्ति में सौन्दर्य पर चेतना का आरोप किया गया है। लज्जा से भरना, मौन बने रहना एवं बतलाना मानव-धर्म है। यहाँ अचेतन पर चेतना के आरोप से उपचार वक्रता है।

विशेषण वक्रता

आचार्य कुन्तक का कहना है -

विशेषणस्य महात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा।

यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषणवक्रता॥

अर्थात् जहाँ विशेषण के प्रभाव से क्रिया या कारक का सौन्दर्य उल्लसित होता है, वहाँ विशेषण वक्रता होती है। उदाहरणार्थ - शीतल ज्वाला जलती थी ईंधन होता दृग जल का

यह व्यर्थ सॉस चल-चल कर करती है काम अनिल का।

यहाँ प्रसाद जी ने ज्वाला के विशेषण के रूप में शीतल का प्रयोग कर अर्थ की रमणीयता में वृद्धि की है।

संवृति-वक्रता

संवृति का अर्थ है- छिपाना या गोपना। जब वैचित्र्य कथन के उद्देश्य से सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का गोपन या संवरण किया जाता है, तो वहाँ संवृति वक्रता होती है -

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समाना।

वह चितवनि औरै कछू, जेहि बस होत सुजाना।

वृत्ति वक्रता

इस वक्रता में, वृत्ति का तात्पर्य उपनागरिका, परुषा आदि वृत्तियों से न होकर समास, तद्धित, सुब्धातु आदि व्याकरणिक वृत्तियों से है। इसमें समास, तद्धित, या कृदन्त के चमत्कारिक प्रयोग से सौन्दर्य उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ -

आज का तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर वेग-प्रखर
शतसेल संवरण शील, नील नभ गज्जित-स्वर,
प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह-भेद-कौशल-समूह,
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह-क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह
विच्छुरित-वहि-राजीवनयन-हत लक्ष्य-वाण
लोहितलोचन-रावण-मदमोचन-महीयान

समासयुक्त शैली होने के कारण यहाँ वृत्ति वक्रता है।

लिंग वैचित्र्य वक्रता

जहाँ पर विषिष्ट लिंग के प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न हो, तो वहाँ लिंग वैचित्र्य होती है। उदाहरणार्थ -

शशि मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाये।

जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये।

‘आँसू’ के इस छन्द में प्रसाद जी ने नायिका के लिए पुल्लिंग क्रिया का प्रयोग किया है, अतः लिंगवैचित्र्य वक्रता है।

क्रियावैचित्र्य वक्रता

जब कविता में क्रिया का चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया जाता है, तो वहाँ क्रियावैचित्र्य वक्रता होती है। उदाहरणार्थ-

तिर रही अतृप्ति जलधि में नीलम की नाव निराली।

यहाँ प्रसाद जी ने 'तिरना' क्रिया का चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया है। अतः क्रिया वैचित्र्य वक्रता है।

7.4.3 पदपरार्थ वक्रता

पद के परार्थ भाग में प्रत्यय एवं विभक्तियों आदि की गणना की जाती है। इसके अन्तर्गत कालवैचित्र्यवक्रता, कारकवक्रता, संख्या वक्रता, पुरुष वक्रता, प्रत्ययवक्रता आदि की सोदाहरण चर्चा आचार्य कुन्तक ने की है। इनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

कालवैचित्र्य वक्रता

जहाँ कवि वर्तमान के धरातल पर अतीत के चित्र अंकित करता है या औचित्य के अनुरूप काल के प्रयोग में चमत्कार होता है, वहाँ कालवैचित्र्य वक्रता होती है। यथा-

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सो करी बहु बातन ता रसना सो चरित्र गुन्यो करैं।
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहों अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

कारक वक्रता

जब किसी अभिप्राय विशेष की अभिव्यंजना के लिए कवि कारक के प्रयोग में विपर्यय कर देता है, तो वहाँ कारक वक्रता होती है, जैसे -

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रषान्त को रहा चीरा।

यहाँ 'तीर' का प्रयोग करण कारक के रूप में न होकर कर्ता कारक के रूप में होने से कारक वक्रता है।

पुरुष वक्रता

जहाँ पुरुषों के विपर्यय से काव्य को अलंकृत किया जाता है, वहाँ पुरुष वक्रता होती है। उदाहरणार्थ -

करके ध्यान आज इस जन निश्चय वे मुसकाये। फूल उठे हैं कमल, अधर से ये बन्धूक सुहाये।

यहाँ स्वयं के लिए उर्मिला ने उत्तम पुरुष का प्रयोग न करके प्रथम पुरुष 'इस जन' का प्रयोग किया है। अतः यहाँ पुरुष वक्रता है।

संख्या वक्रता

इसे वचन वक्रता भी कहा जाता है। जहाँ एक वचन के स्थान पर बहुवचन और बहुवचन के स्थान पर एकवचन के प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न किया जाए तो वहाँ संख्या वक्रता होती है। जैसे -

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में प्रियतम को प्राणो के पण में,
हर्मी भेज देती है रण में क्षात्र धर्म के नाते।

यहाँ एकवचन 'मैं' के स्थान पर बहुवचन 'हर्मी' के प्रयोग से संख्या वक्रता है।

उपग्रह वक्रता

उपग्रह का अर्थ धातु होता है। संस्कृत में परस्मैपद एवं आत्मनेपद नामक दोनों धातुओं का प्रयोग होता है परन्तु हिन्दी में सामान्यतया परस्मैपदी धातुओं का ही प्रयोग होता है। फिर भी कभी-कभी काव्य-षोभा की वृद्धि के लिए आत्मनेपदी धातुओं का चमत्कारी प्रयोग होता है। ऐसा कर्मवाच्य में होता है। नीचे की पंक्तियों में प्रसाद जी ने 'तुलना' क्रिया का दोनों रूपों में सुन्दर प्रयोग किया है-

मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ।
भुज लता फँसा कर नर तरु से झूले से झोंके खाती हूँ।

प्रत्यय वक्रता

इस वक्रता में प्रत्यय के प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न होता है। जैसे -

पिय सों कहेहु सँदेसड़ा हे भौरा! हे कागा।
सो धनि विरहै जरि मुई तेहिक धुँआ हम लागा।

यहाँ 'सँदेसड़ा' में प्रत्यय के कारण प्रत्यय वक्रता है।

उपसर्ग वक्रता

जहाँ उपसर्ग के सुन्दर प्रयोग द्वारा काव्य में सौन्दर्य का विधान किया जाता है, वहाँ उपसर्ग वक्रता होती है। उदाहरणार्थ -

एक दिवस अति मुदित उदधि के बीचि-बिचुम्बित तीरे।

सुख की भौति मिला प्राणी से आकर धीरे-धीरे।

निपात वक्रता

निपात अव्यय होते हैं। जहाँ निपातों के कारण कविता को चमत्कार सम्पन्न किया जाता है, वहाँ निपात वक्रता होती है। उदाहरणार्थ -

उसके आशय की थाह मिलेगी किसको

जनकर जननी ही जान न पाई जिसको।

इसमें 'ही' के प्रयोग के कारण निपात वक्रता है।

7.4.4 वाक्य वक्रता

वाक्य-वक्रता को वाच्य-वक्रता और वस्तु-वक्रता भी कहा जाता है। इस वक्रता का आधार सम्पूर्ण वाक्य होता है। जहाँ वस्तु का उत्कर्षयुक्त तथा स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन होता है, वहाँ वाक्य-वक्रता होती है। यह वाक्य-वक्रता दो प्रकार की होती है - सहजा एवं आहार्या। आचार्य कुन्तक का कथन है -

सैषा सहजार्यभेदभिन्ना वर्णनीयस्य वस्तुनो द्विप्रकारस्य वक्रता।

(1) सहजा वक्रता

सहजा वक्रता में वस्तु का स्वाभाविक अथवा प्राकृत वर्णन किया जाता है। यह वर्णन कभी स्वभाव-प्रधान होता है तो कभी रसपूर्ण। इसमें अलंकारों का प्रयोग प्रायः नहीं होता है। यदि अलंकार आ भी जाते हैं तो वे काव्य की सहजता में बाधा नहीं उत्पन्न करते हैं। यथा-

मैया मोंहि दाउ बहुत खिझायो।

मों सौ कहत मोल को लीन्हों, तू जसुमति कब जायो।

(2) आहार्या वक्रता

शिक्षा एवं अभ्यास के द्वारा अर्जित कौशल से कवि जब काव्य में रमणीय चित्रांकन करता है, तो वहाँ आहार्या वक्रता होती है। इसमें उपमा, रूपक, मानवीकरण आदि अलंकारों के रम्य प्रयोग द्वारा कविता को सौन्दर्य एवं अर्थगौरव से संयुक्त किया जाता है। 'कामायनी' के आशा सर्ग से यह उदाहरण प्रस्तुत है -

सिन्धु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी-सी।

प्रलय निशा की हलचल स्मृति-सी मान किये सी ऐंठी-सी।

इन पंक्तियों में प्रलयकालीन समुद्र में तैरती हुई पृथ्वी का सुन्दर बिम्ब प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार कोई नवविवाहिता वधू विगत रात्रि में पति द्वारा किए गये रति सम्बन्धी निर्दय व्यवहार का स्मरण करते हुए, संकोचपूर्वक इठलाकर बैठी हुई होती है। वैसे ही जल से थोड़ा ऊपर उठी हुई पृथ्वी मानवती नायिका के समान आभासित हो रही है। यहाँ उपमा, रूपक, समासोक्ति एवं मानवीकरण आदि के कारण काव्य चमत्कृत एवं प्रभावशाली हो गया है।

7.4.5 प्रकरण-वक्रता

प्रकरण-वक्रता से आचार्य कुन्तक का अभिप्राय वर्णित प्रसिद्ध ऐतिहासिक अथवा पौराणिक इतिवृत्तों में कविकल्पना से प्रसूत अनेक मार्मिक और मौलिक प्रसंगों की उद्भावना से है। कुन्तक ने प्रकरण वक्रता के निम्नलिखित भेद किए हैं-

(1) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना (2) अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान प्रकरण का रसोचित परिष्कार (3) प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक भाव (4) एक ही स्थिति का बार-बार नवनवायमान उपस्थापन (5) काव्य को रमणीय बनाने के लिए कथावैचित्र्य सर्जक जलक्रीड़ा आदि प्रसंगों का उद्भावन (6) गर्भांक योजना (7) सन्धि विनिवेश आदि।

‘कामायनी’ में लज्जा सर्ग अपनी समग्रता में एक भावमय योजना है। निराला के ‘तुलसीदास’ में नवजागरण की शक्तिवादी मान्यता के अनुरूप कल्मष को दूर करने के लिए रत्नावली के रूप में सरस्वती की उद्भावना की गई है, जो अविद्यमान की उद्भावना है। कवियों द्वारा प्रबन्ध काव्य में विस्तार हेतु नगर, समुद्र, ऋतुवर्णन, जलक्रीड़ा आदि का मनोग्राही, मार्मिक एवं रसानुभूति से परिपूर्ण चित्रण करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि कवि अपनी प्रातिभ क्षमता और प्रातिभ स्वतन्त्रता से प्रबन्ध में बाँकपन लाने के लिए प्रकरण-वक्रता की योजना करता है।

7.4.6 प्रबन्ध वक्रता

प्रबन्ध प्रकरणों का समुच्चय है। वह खंडकाव्य और महाकाव्य हो सकता है तथा नाटक भी। यह वक्रोक्ति का एक व्यापक रूप है। इसके प्रमुख भेद हैं -

- (1) प्रबन्धरस परिवर्तन वक्रता
- (2) समापन वक्रता
- (3) कथा विच्छेद वक्रता

(4) आनुषंगिक फल वक्रता

(5) नामकरण वक्रता

प्रातिभ कवि प्रबन्ध-वक्रता द्वारा काव्य को प्रभावशाली बनाने में समर्थ होते हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम, रामचरितमानस, साकेत, प्रियप्रवास, कामायनी आदि प्रबंध वक्रता सम्पन्न श्रेष्ठ रचनायें हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को अत्यन्त व्यापक स्वरूप प्रदान किया है जिसमें काव्य के सभी प्रचलित सिद्धान्त समाहित हो गये हैं।

बोध प्रश्न 2

(3) कुन्तक ने वक्रोक्ति के भेद किए हैं -

(क) 5 (ख) 4 (ग) 9 (घ) 6

(4) उपचार वक्रता उपभेद हैं -

(क) वर्णविन्यास वक्रता का (ख) पदपूर्वार्ध वक्रता का
(ग) प्रकरण वक्रता का (घ) प्रबन्ध वक्रता का

(5) सुमेल कीजिए

वक्रोक्ति के भेद	वक्रोक्ति के उपभेद
(क) पदपूर्वार्ध वक्रता	(1) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना
(ख) पदपरार्ध वक्रता	(2) आहार्या वक्रता
(ग) वाक्य वक्रता	(3) पर्याय वक्रता
(घ) प्रकरण वक्रता	(4) प्रत्यय वक्रता

(6) जब कविता में समासों के प्रयोग से वक्रता उत्पन्न की जाती है तो वहाँ होती है-

(क) रूढ़िवैचित्र्य वक्रता (ख) वृत्ति वक्रता
(ग) क्रियावैचित्र्य वक्रता (घ) सामासिक वक्रता

7.5 वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद

हिन्दी में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रन्थ चिन्तामणि-भाग 2 में किया है। उनका कथन है-‘योरप का यह ‘अभिव्यंजनावाद‘ हमारे यहाँ के पुराने ‘वक्रोक्तिवाद‘- वक्रोक्ति: काव्यजीवितम् - का ही नया रूप या विलायती उत्थान है।‘ शुक्ल जी के इस कथन के बाद हिन्दी में वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद की तुलना की परम्परा चल पड़ी। क्रोचे का अभिव्यंजना सिद्धान्त सहजानुभूति अभिव्यंजना पर आधारित है, जो उनके अनुसार चेतना की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया है। सहजानुभूति को उन्होंने इण्ट्यूशन (अन्तःप्रज्ञा) कहा है। कलाकार जगत में जो कुछ देखता है, उसके यथार्थ का बोध सहजानुभूति के रूप में उसके मन में उभरता है। यह एक अपूर्व प्रतीति होती है। क्रोचे के विचारानुसार यह सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है और मानस के अन्दर सहजानुभूति प्रभावों की अभिव्यंजना ही कला है। संक्षेप में हम कह सकते हैं-

- अन्तःप्रज्ञा और अभिव्यंजना में भेद नहीं है।
- प्रत्येक अन्तःप्रज्ञा कला है।
- कला का सृजन केवल आन्तरिक है।
- कला रूप में है वस्तु में नहीं।
- कला अखण्ड है।

वस्तुतः इन दोनों सिद्धान्तों में साम्य कम, वैषम्य अधिक है। हम इसे निम्नलिखित रूप में समझ सकते हैं -

- (1) ‘अभिव्यंजनावाद‘ सभी कलाओं को दृष्टि में रखकर स्थापनाएं करता है, जबकि ‘वक्रोक्तिवाद‘ मात्र काव्य-कला को ही दृष्टि में रखकर निर्णय देता है।
- (2) अभिव्यंजनावाद कला की रचना-प्रक्रिया का विवेचन करता है, जबकि वक्रोक्तिवाद काव्य में ‘आस्वाद‘ पक्ष की व्याख्या भी करता है।
- (3) वक्रोक्तिवाद वस्तु और रूप दोनों का महत्व स्वीकार करता है जबकि अभिव्यंजनावाद केवल रूप की ही सत्ता मानता है।
- (4) अभिव्यंजनावाद में कला का कोई उद्देश्य नहीं माना गया है, जबकि वक्रोक्ति सिद्धान्त में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की सिद्धि को काव्य का उद्देश्य माना गया है।

(5) अभिव्यंजनावाद में कला स्वतः स्फूर्त अन्तःप्रज्ञा की देन है।

(6) क्रोचे कला का वर्गीकरण नहीं मानते हैं जबकि कुन्तक का समग्र विवेचन, चाहे वह वक्रोक्ति का हो, गुणों का हो- विभाजन और वर्गीकरण पर ही आधारित है।

इस प्रकार अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति सिद्धान्त में वैषम्य अधिक है। साम्य मात्र एक या दो बातों में है। प्रथम कुन्तक और क्रोचे दोनों ही उक्ति (अभिव्यंजना) महत्व देते हैं। दूसरे, दोनों ही अलंकार की बाह्यता का खण्डन करते हैं। वे मानते हैं कि अलंकार ऊपर से आरोपित वस्तु नहीं है। अतः अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान नहीं कहा जा सकता है।

7.6 वक्रोक्ति और शैलीविज्ञान

शैलीविज्ञान आधुनिक आलोचना का एक सशक्त प्रतिमान है। इस भाग में हम शैलीविज्ञान एवं वक्रोक्ति सिद्धान्त के सम्बन्ध से परिचित होंगे।

शैली भाषा का विषिष्ट चयन-संयोजन है। काव्य में शैली के इस विषिष्ट चयन-संयोजन का अध्ययन ही शैली विज्ञान कहलाता है। विचलन, चयन, विपथन, ध्वनि, पद, वाक्य एवं अर्थ के स्तर पर होता है। ऊपर प्रत्यय वक्रता के उदाहरण के रूप में जायसी का निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया गया है: पिय सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौरा! हे काग! यहाँ 'ड़ा' प्रत्यय के व्यवहार से प्रत्यय वक्रता है। यह 'ड़' प्रत्यय नागमती की विरह-व्यथा को, जिससे उसका हृदय विदीर्ण हो रहा है, साभिप्राय रूप में प्रकट कर देता है। सामान्य शब्द संदेश है, जिसका विचलित रूप 'संदेशड़ा' है। अतः यहाँ शैलीविज्ञान की दृष्टि से विचलन है। इसी प्रकार लिंग वैचित्र्य वक्रता में आंसू की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं-

शशि मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाये

जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये।

यहाँ नारी को सम्बोधित किया है जिसके लिए 'आए' क्रिया का प्रयोग है जो कि पुल्लिंग है। यह लिंगवैचित्र्य वक्रता रूप स्तरीय विचलन पर आधारित है। शैलीविज्ञान में चयन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वर्ण्य विषय के अनुकूल शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग को चयन कहते हैं। जिस कवि की चयन शक्ति जितनी ही विवेकपूर्ण तथा भाव, प्रकरण एवं प्रसंग के अनुकूल होगी, उसकी शैली उतनी ही प्रौढ़ होगी। आचार्य कुन्तक ने भी शब्द-चयन के विषय में कहा है -

शब्दो विवक्षिताथैकवाचकोऽन्मेषु सत्स्वपि।

अर्थ: सहृदयाह्लादकारिस्वयन्द सुन्दरः॥

निराला का गीत है -

सुमन भर न लिए,

सखि वसन्त गया-

यहाँ सुमन केवल सामान्य पुष्प का अर्थ नहीं होता है। वह रंगों की चमक से युक्त तो है ही, गंध से भी भरा हुआ है। सुमन का अर्थ है- सुन्दर मन वाला। फूल का तन ही सुन्दर नहीं है, मन भी सुन्दर है अर्थात् फूल गन्धयुक्त है। अतः यहाँ पर्यायवक्रता के साथ-साथ शैली विज्ञान की 'चयन' प्रक्रिया भी सक्रिय है।

'समान्तरता' भी शैली विज्ञान का एक महत्वपूर्ण प्रतिमान है। समान्तरता का आषय है - किसी रचना में समान या विरोधी भाषिक इकाईयों का समान्तर प्रयोग। यह आवृत्ति ध्वनि, शब्द, रूप या वाक्यादि की हो सकती है। कुन्तक की वर्णविन्यास वक्रता का भी पूरा मण्डान आवृत्ति पर ही टिका है। पन्त की निम्नलिखित कविता में वर्णविन्यास वक्रता एवं समान्तरता के गुणों को एक साथ परिलक्षित किया जा सकता है -

मृदु मंद मंद मंथर मंथर

लघु तरणि हंसिनी-सी सुन्दर

तिर रही खोल पालों के पर।

शैलीविज्ञान का एक तत्व है - विपथन। विचलन सदैव नियमों से होता है जबकि विपथन सिद्धान्तों या ढाँचों से होता है। प्रकरण वक्रता का एक भेद है- उत्पाद्य लावण्य वक्रता। इसे अविद्यमान की कल्पना कहा गया है। यह वक्रता वहाँ होती है जहाँ एकदम नवीन प्रसंग को कथा में गुंफित किया गया हो। 'राम की शक्तिपूजा' में निरालाजी हनुमान को महाकाश में पहुंचाते हैं -

शत घूर्णावर्त तरंग-भंग, उठते पहाड़,

जल-राशि -राशि -जल पर चढ़ता खाता पछाड़,

तोड़ता बंध-प्रति-संध, धरा हो स्फीत वक्ष

दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्षा।

शैलीवैज्ञानिक दृष्टि से यहाँ प्रोक्ति स्तर का विपथन सक्रिय है, क्योंकि पूर्ववर्ती कथाओं में यह प्रसंग प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार शैली विज्ञान के सभी प्रतिमान- विचलन, विपथन, समान्तरता एवं विरलता आदि किसी न किसी रूप में वक्रोक्ति-सिद्धान्त के भेदों-प्रभेदों में बिखरे रूप में मिल जाते हैं।

बोध प्रश्न 3

(7) 'अभिव्यंजनावाद' वक्रोक्ति का विलायती उत्थान है - यह किस समीक्षक ने कहा है-

(क) बाबू गुलाबराय

(ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(ग) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

(घ) आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी

(8) 'अभिव्यंजनावाद एवं वक्रोक्तिवाद सिद्धान्त' का साम्य-वैषम्य लगभग 10 पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

(9) 'शैली विज्ञान एवं वक्रोक्ति सिद्धान्त' पर अपने विचार लगभग 100 शब्दों में व्यक्त कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

7.7 सारांश

चतुर तथा चमत्कारपूर्ण रचना वक्रोक्ति है- वैदग्ध्यभंगीभणिति। विदग्धता में रमणीयता का भाव निहित है। इस प्रकार रमणीय उक्ति अथवा वक्रोक्ति को काव्य की संज्ञा देने के पश्चात आचार्य कुन्तक ने उसे काव्य का 'जीवित' बताया- वक्रोक्ति काव्यजीवितम्। वर्ण सम्बन्धी सूक्ष्म एवं बाह्य सौन्दर्य से लेकर प्रकरण और प्रबन्धवक्रता तक का विवेचन इस सिद्धान्त में है। कविता के चमत्कार के सूक्ष्म एवं व्यवस्थित विश्लेषण के लिए वक्रोक्ति सिद्धान्त सूक्ष्म, व्यापक एवं सर्वांगीण निकष का काम कर सकता है। यह दुर्भाग्य का विषय है कि परवर्ती आचार्यों ने उसे मात्र शब्दालंकार-काकुवक्रोक्ति एवं श्लेष वक्रोक्ति तक सीमित कर दिया।

7.8 शब्दावली

चारुता	-	सुन्दरता
वाङ्मय	-	साहित्य
जल्पित	-	कहा हुआ
संवरण	-	छिपाना
उद्भावना	-	कल्पना
कल्मष	-	पाप का अंधकार
प्रातिभ	-	प्रतिभा सम्पन्न

7.9 अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

- (1) (क) काव्यालंकार (ख) स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति
(ग) सादृष्याल्लक्षणा वक्रोक्ति: (घ) वक्रोक्ति
- (2) शब्दार्थों सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाहृदकारिणी।
- (3) (ग)

बोध प्रश्न 2

(4) पदपूर्वार्ध वक्रता

(5) क-3, ख-4, ग-2, घ-1

(6) ख

बोध प्रश्न 3

(7) ख

7.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र - डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

2. रीति काव्य की भूमिका - डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

3. भारतीय काव्य विमर्ष- डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. वक्रोक्ति से आप क्या समझते हैं ? भारतीय काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में वक्रोक्ति सिद्धांत का विस्तृतविवेचन कीजिए
2. वक्रोक्ति का आशय स्पष्ट करते हुए उसके भेदों का विश्लेषण कीजिए तथा अभिव्यंजनावाद एवं वक्रोक्ति सिद्धांत का संक्षिप्त तुलना कीजिए

इकाई 8 पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की परंपरा

- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 उद्देश्य
- 8.3 पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का प्रथम चरण
 - 8.3.1 आरंभिक रूप
 - 8.3.2 होमर के परवर्ती समीक्षक
 - 8.3.3 यूरोपीय समीक्षा के आदि प्रवर्तक प्लेटो
 - 8.3.4 अरस्तू
 - 8.3.5 लौंजायनस
 - 8.3.6 प्रमुख लैटिन समीक्षक
- 8.4 पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का मध्य युग
 - 8.4.1 अंधकार युग
 - 8.4.2 मध्ययुग/पुनर्जागरण युग
 - 8.4.3 सत्रहवीं शताब्दी की यूरोपीय समीक्षा
- 8.5 आधुनिक युग
 - 8.5.1 अठारहवीं शताब्दी की यूरोपीय समीक्षा
 - 8.5.2 उन्नीसवीं सदी की यूरोपीय समीक्षा
 - 8.5.3 बीसवीं सदी की यूरोपीय समीक्षा
- 8.6 सारांश
- 8.7 शब्दावली
- 8.8 अभ्यासों के उत्तर
- 8.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 8.10 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

जैसा कि आप जानते हैं; काव्यशास्त्र के अंतर्गत काव्य अथवा साहित्य के विभिन्न तत्त्वों से लेकर उसके उद्देश्य एवं प्रभाव तक सभी पक्षों पर विचार किया जाता है। विचार-विश्लेषण और समीक्षा के दृष्टिकोणों में प्रत्येक देश, भाषा और काल के अनुसार अंतर भी आता रहता है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से की जाती आलोचनाओं से ही साहित्य का स्वरूप निर्धारित एवं विकसित होता है।

सौंदर्य का दार्शनिक विवेचन ही पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आधार बना। सौंदर्य क्या है? उसके मूल तत्व कौन-कौन से हैं? उसका प्रभाव क्या है? सौंदर्य वस्तुपरक है या व्यक्तिपरक? आदि प्रश्नों पर पाश्चात्य सौंदर्य-दर्शन या ऐस्थेटिक्स में गहराई से विचार किया गया। दर्शन से जुड़े होने के कारण परम सत्य, गोचर सत्य और अनुकृत सत्य पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय इतिहास के विचार सूत्र बने रहे- चाहे वह यूनानी इतिहास हो, चाहे रोमन, फ्रेंच, जर्मन, स्पेनी या रूसी काव्य चिंतन हो; सभी में विभिन्न चिंतकों द्वारा काव्य या कला को प्रकृति की अनुकृति माना गया।

कुछ ने कला को यथावत् अनुकृति माना, कुछ ने कला और काव्य को प्रकृति की पुनःसर्जना के रूप में स्वीकार किया। किसी ने कला के समाजोपयोगी नैतिक पक्ष को महत्वपूर्ण माना, तो किसी ने उसके आनंददायी कलात्मक पक्ष को। इन्हीं सब विचार-मंथनों से पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का विकास हुआ।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ कर आप जानेंगे कि:

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का प्रारंभ कब, किन परिस्थितियों में और किनके द्वारा हुआ।

इतिहास के विभिन्न युगों में साहित्य के विकास में साहित्यशास्त्र की क्या भूमिका रही।

मध्यकाल में नवजागरण के पश्चात् किस प्रकार यूरोपीय साहित्यशास्त्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए।

पश्चिमी देशों के आधुनिक चिंतकों और दार्शनिकों ने किस प्रकार वहाँ के साहित्य और समालोचना को प्रभावित किया।

बीसवीं शताब्दी में यूरोप में किन-किन सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ; जिनके प्रभाव से साहित्य में विविध वाद जन्मे तथा समालोचना की विभिन्न शैलियाँ विकसित हुईं।

8.3 पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का प्रथम चरण:

प्राचीन युग (ई0पू0 पाँचवी शताब्दी से पाँचवी सदी ईसवी तक)

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास को निम्नलिखित चार कालखंडों में विभाजित किया गया है:

प्रथम - प्राचीन युग; ई0पू0 पाँचवी शताब्दी से ईसा की पाँचवी शताब्दी तक।

द्वितीय - अंधकार युग; पाँचवी सदी से पन्द्रहवीं सदी ईसवी तक।

तृतीय - मध्ययुग; 15वीं से 19वीं सदी ई0 तक, इसके दो खंड हैं:

(अ) नवजागरण काल (15वी शताब्दी) तथा

(आ) नव्य शास्त्रीय युग (16वीं से 18वीं शताब्दी)

चतुर्थ - आधुनिक युग (18वीं से 20वीं सदी तक)

(अ) स्वच्छंदतावादी युग (19वीं शताब्दी)

(आ) बीसवीं शताब्दी की विभिन्न समीक्षा धाराएं

8.3.1 प्रारंभिक रूप: यूनानी समीक्षक

(ई0पू0 पाँचवी शताब्दी से ईसा की पाँचवी शताब्दी तक)

पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रारंभ ईसा से लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी पूर्व यूनान (ग्रीस) में हुआ माना जाता है। काव्य-विषयक प्रथम विश्लेषण यूनानी चिंतक प्लेटो (ई0पू0 428-347) के संवादों में ही मिलता है।

यूरोपीय साहित्य का प्राचीनतम रूप यूनान के विश्व प्रसिद्ध कवि होमर के काव्य में मिलता है। होमर ने ग्रीक भाषा में साहित्य रचना की थी। उनका समय ईसा पूर्व सातवीं-आठवीं शताब्दी माना जाता है। होमर के उपरांत वहाँ का दूसरा प्रसिद्ध कवि हेसिऑड था। इन दोनों के काव्य में हमें तत्कालीन साहित्यिक मान्यताओं का आरंभिक रूप मिल जाता है। होमर काव्य का लक्ष्य आनंद प्रदान करना मानता था। उसका कहना था कि काव्य का मूल प्रयोजन 'चमत्कार द्वारा आनंद प्रदान करना है।' वह कलात्मक भ्रम से ही चमत्कार और आनंद का प्रादुर्भाव मानता था। इसके विपरीत हेसिऑड काव्य का प्रयोजन शिक्षा देना या दैवी संदेश का वहन करना घोषित करता है। इस प्रकार यूरोप के ये दोनों प्राचीनतम कवि उस ऐतिहासिक विवाद को जन्म दे गए जो आज भी काव्यशास्त्रीय-चर्चा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण विषय बना हुआ है।

यूरोप का आरंभिक काव्य, जीवन और समाज से घनिष्ठ रूप से संबद्ध था। होमर और हेसिऑड दोनों ही कला की अधिष्ठात्री देवी म्यूज़ से यह प्रार्थना करते हैं कि वह उन्हें वस्तुगत सत्य को प्रकट करने की प्रेरणा और शक्ति प्रदान करे। इस युग में काव्य रचना का उद्देश्य मनुष्य जीवन को सभ्य और उदात्त बनाना माना जाता था। इसी कारण काव्य का मूल्यांकन सामाजिक उपयोगिता के आधार पर ही होता था। होमर ने अपने काव्यग्रंथों 'इलियड' और 'ओडेसी' में प्राचीन कथाओं के आधार पर देवताओं की अनैतिक और ईर्ष्यालु प्रवृत्ति का खुलकर चित्रण किया था।

8.3.2 होमर के परवर्ती समीक्षक

सामान्यतः प्लेटो (पाँचवीं सदी ईसा पूर्व) को पाश्चात्य काव्यशास्त्र का जनक माना जाता है। परंतु होमर और प्लेटो के मध्यवर्ती युग में भी यूनान (ग्रीस) में कुछ विद्वान हुए; जिन्होंने काव्य की व्याख्या की थी। इन विद्वानों में पिंजर, गार्जियस तथा अरिस्टोफेनिस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पिंडर काव्य-सृजन में प्रेरणा की अपेक्षा प्रतिभा को अधिक महत्वपूर्ण मानता था; जबकि गार्जियस एक प्रकार से होमर के कलात्मक भ्रम वाले सिद्धांत का समर्थक था। आगे चलकर अरस्तू द्वारा किए गए त्रासदी संबंधी विवेचन पर गार्जियस का गहरा प्रभाव माना जाता है। गार्जियस की मान्यता थी कि त्रासदी श्रोताओं पर गहरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालती है। यूनान के नगरों में जनतंत्र की स्थापना के बाद वहाँ वक्तृ कला का महत्व बढ़ने लगा था। इसी कारण 'क्या बात कही जा रही है?' की अपेक्षा 'बात कैसे कही जा रही है' - का महत्व बढ़ गया था। बात को प्रभावशाली ढंग से कहकर जनता को प्रभावित करना भाषण कला का प्रधान लक्ष्य था। साहित्य में भी इस प्रवृत्ति का प्रभाव परिलक्षित होने लगा था। काव्य का लक्ष्य आनंद और शिक्षा देना माना जाता था। प्लेटो पूर्व यूरोपीय काव्य समीक्षा के मतों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है -

1. काव्य का मूल तत्त्व प्रेरणा है और कवि एक विशिष्ट प्राणी।
2. काव्य का प्रयोजन आनंद प्रदान करना और शिक्षा देना- दोनों स्वीकार्य थे।
3. काव्य का विषय प्राचीन वीरों की कथा कहने तक ही निर्धारित था।
4. कवि -हृदय का निर्मल और संवेदनशील होना अनिवार्य माना जाता था।

8.3.3 यूरोपीय समीक्षा का आदि प्रवर्तक प्लेटो (429 ई० पू० 347)

प्लेटो के गुरु सुकरात (469 ई० पू० से 389 ई० पू०) एक संत महात्मा, दार्शनिक, चिंतक और तार्किक व्यक्ति थे। काव्यशास्त्र के विषय में उनके विचार प्राप्त नहीं होते, परंतु उनका चिंतन उनके पटु शिष्य प्लेटो के माध्यम से सामने आया; जो एक आदर्शवादी विचारक, राजनीतिक तथा दार्शनिक था। प्लेटो के आदर्श राज्य की कल्पना सुप्रसिद्ध है।

प्लेटो

उनका ग्रन्थ 'रिपब्लिक' राजनीतिक चिंतन और आदर्श राज्य का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। उनके अधिकांश ग्रंथ संवादों के रूप में हैं। इन संवादों में राजनीति आदि अन्य विषयों की चर्चा के मध्य प्लेटो के कला तथा काव्य संबंधी मत प्रकट हुए हैं।

प्लेटो के काव्यशास्त्रीय विचारों को संक्षेप में हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं-

1. कवि दैवी प्रेरणा से अथवा आवेश में आकर काव्य की रचना करता है। उसकी वाणी ईश्वर की वाणी है। परंतु उसके वर्णन सच्चे और तर्क पर आधृत नहीं होते। अधिकांशतः वह मानव-वासनाओं को उभार कर लोगों को अनैतिक बनाता है।
2. कवि का वर्णन काल्पनिक और अज्ञानजन्य होता है; जो समाज को गलत दिशा देता है। अतः वह त्याज्य है। उसने कवियों को आदर्श राज्य से बहिष्कृत करने का सुझाव दिया।
3. प्लेटो के विचार से वस्तु के तीन रूप होते हैं- 1. आदर्श, 2. वास्तविक और 3. अनुकृता। प्रकृति और सृष्टि भी ईश्वर के किसी आदर्श के आधार पर रची गई अपूर्व सृष्टि है। कला और काव्य उसकी भी अनुकृति होने से सत्य से तिगुने दूर हैं।
4. कविता और कला में वस्तु के साथ-साथ रूप भी महत्वपूर्ण होता है। काव्य में लय और छंद का भी विशेष महत्व है। प्लेटो की काव्यशास्त्रीय दृष्टि समाज परक एवं नैतिक है।

8.3.4 अरस्तू (384-322 ई0पू0)

प्लेटो के बाद उनके शिष्य अरस्तू ने अपने विरेचन सिद्धांत की स्थापना कर प्लेटो के आक्षेपों का उत्तर देते हुए कहा-

1. साहित्य प्रकृति का अनुकरण मात्र न होकर एक नवीन सृष्टि होता है।
2. साहित्य सत्य से दूर न होकर एक अधिक व्यापक और संभाव्य सत्य का अंकन करता है।
3. साहित्य वासनाओं को उभारकर उनका संवर्धन और संप्रोषण नहीं करता; बल्कि उनका विरेचन या शुद्धिकरण करता है। इसलिए साहित्य समाज के लिए कल्याणप्रद होता है। अतः वह त्याज्य न होकर स्पृहणीय है।

अरस्तू ने अपने दो प्रसिद्ध सिद्धांतों- 1. अनुकृति सिद्धांत तथा 2. विरेचन सिद्धांत की स्थापना करके विस्तृत काव्यशास्त्रीय विवेचन किया। काव्यशास्त्र पर उनके दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं, परंतु वे भी खंडित रूप में।

1. काव्यशास्त्र, 2. अलंकारशास्त्र। अरस्तू ने काव्य के पाँच मुख्य रूप माने थे- महाकाव्य, त्रासदी, कामदी, रौद्र स्रोत्र और गीतिकाव्य। इनमें से वे महाकाव्य को श्रेष्ठ मानते थे। वे सुखांत नाटकों की अपेक्षा दुखांत नाटकों को श्रेष्ठ मानते थे। वस्तुतः अरस्तू ने काव्य संबंधी इतना विस्तृत, गंभीर और मौलिक विवेचन किया है कि उसे प्राचीन काव्यशास्त्र का मेरुदंड एवं सर्वाधिक प्रभावशाली समीक्षक माना जाता है। होमर और हेसिऑड आदि की काव्य रचनाएं संकेत देती हैं कि प्लेटो से काफी पहले से ग्रीस में काव्य-रचनाएं हो रही थीं, उनमें से अनेक रचनाएं लोकप्रिय थीं तथा उन पर तत्कालीन काव्यप्रेमियों एवं बुद्धिजीवियों में चर्चाएं भी होती थीं; विशेषकर होमर की 'इलियड एंड ओडीसी' पर। तत्कालीन ग्रीक दार्शनिकों, चिंतकों और कवियों ने अपने दर्शनशास्त्र, भाषणशास्त्र, नाटक, काव्य तथा इतिहास विषयक ग्रंथों में साहित्य के आदर्शों और आलोचना सिद्धांतों के साथ काव्य की उत्पत्ति, रचना-पद्धति और उद्देश्य इत्यादि के विषय में भी अपने निर्णय दिए हैं, लेकिन काव्य तथा अन्य कलाओं पर व्यवस्थित चिंतन और टिप्पणियाँ प्लेटो से ही आरंभ होती हैं। अनेक विद्वान यह भी मानते हैं कि यूरोपीय शास्त्रीय समीक्षा का विधिवत् प्रारंभ अरस्तू से ही होता है, क्योंकि उसके बाद के अन्य यूनानी चिंतकों ने एक प्रकार से उसी के मत को आगे बढ़ाया। परवर्ती समीक्षक शताब्दियों तक उनके अनुकृति एवं विरेचन के सिद्धांतों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ करते रहे।

8.3.5 लोन्यायनस

यूनानी समीक्षा के तीसरे और अंतिम विचारक लोन्यायनस का आविर्भाव प्रथम या द्वितीय शताब्दी ई० में हुआ। उसने काव्य का चरम लक्ष्य पाठक या श्रोता को 'अपूर्व समाधि' में निमग्न कर देना माना। उसे यूरोप का पहला स्वच्छंदतावादी (सौंदर्यवादी) समीक्षक माना जाता है। वह उदात्तता को काव्य और कला का सबसे महान् और प्रधान गुण मानता था। उसके अनुसार औदात्य या भव्यता एक भव्य आत्मा का गुण है। चित्तवृत्ति की भव्यता महान काव्य को जन्म देती है। यह प्रकृति प्रदत्त प्रतिभा होती है और कला से अनुपूरित होकर महान काव्य का सृजन करती है। काव्य अपनी इसी उदात्तता के कारण पाठक या श्रोता के हृदय का स्पर्श करता है। उसने काव्य की उत्कृष्टता के लिए पाँच गुण आवश्यक माने थे- 1. वस्तुबोध या विचार की भव्यता, 2. भाव की उत्कृष्टता, 3. अलंकारों का अधिक प्रयोग, 4. शब्द शिल्प की उदारता और 5. शब्द व्यवस्था की उत्कृष्टता। इस प्रकार वह काव्य के भाव पक्ष और कला पक्ष के परस्पर संबद्ध, संतुलित और व्यवस्थित होने पर बल देता है। आगे चलकर अठारहवीं शताब्दी का यूरोपीय स्वच्छंदतावादी काव्य लॉन्यायनस के इन सिद्धांतों से अत्यधिक प्रभावित रहा था। उसे स्वच्छंदतावाद और अभिव्यंजनावाद का मूल प्रवर्तक माना जाता है। यूनानी (ग्रीक) समीक्षाशास्त्र के आधार स्तंभ उपर्युक्त तीन आचार्य प्लेटो, अरस्तू और लोन्यायनस ही माने जाते हैं। इनके काव्यशास्त्रीय सिद्धांत लगभग दो हजार वर्षों तक यूरोपीय साहित्य और समीक्षा को प्रभावित करते रहे हैं। आज के अनेक साहित्यिक वादों और समीक्षा सिद्धांतों का मूल उत्स इन्हीं के सिद्धांतों में समाहित है।

8.3.6 लैटिन समीक्षक

प्राचीन काल में यूरोप में दो ही भाषाएं प्रचलित थीं- ग्रीक और लैटिन। ग्रीक यूनान की तथा लैटिन रोम साम्राज्य की भाषा थी। यूरोपीय राजनीति से जब यूनान का प्रभुत्व समाप्त हो गया और रोम नई राजनीति का केंद्र बन गया तो साहित्य में इटली की भाषा लैटिन का प्रभुत्व बढ़ना प्रारंभ हो गया। तथा यूरोपीय साहित्य और कला का चिंतन केंद्र यूनान से हटकर रोम बन गया। परिणाम स्वरूप लैटिन भाषा की भी अभिवृद्धि हुई। लैटिन काव्यशास्त्र यूनानी काव्यशास्त्र से प्रभावित रहा।

लैटिन समीक्षकों में तीन प्रमुख विचारक

(1) सिसिरो, (2) होरेस तथा (3) क्विन्टीलियन माने जाते हैं।

सिसिरो- सिसिरो ने अपनी रचनाओं में साहित्य के सैद्धांतिक पक्ष पर अधिक बल देते हुए साहित्य-तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन किया। वे यूनानी समीक्षकों से प्रभावित थे।

होरेस- होरेस का समय ईसा पूर्व पहली शताब्दी माना जाता है। संपूर्ण यूरोप की समीक्षा के इतिहास में होरेस का ऐतिहासिक महत्व माना गया है। उन्होंने अरस्तू के काव्य सिद्धांतों का समर्थन किया। 'आर्ट्स-पोइटिका' उनकी समीक्षा संबंधी प्रसिद्ध कृति है। साथ ही उन्होंने काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, कला साहित्य, साहित्यिक औचित्य, काव्य शिल्प, बुद्धि तत्व समीक्षा आदि का भी विशद विवेचन किया। अंग्रेजी तथा लैटिन के परवर्ती समीक्षाशास्त्र पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा।

क्विन्टीलियन- लैटिन भाषा और साहित्य का तीसरा प्रसिद्ध समीक्षक क्विन्टीलियन अपने समय का प्रसिद्ध अलंकारवादी आचार्य और शैली विशेषज्ञ था। उसने रूढ़िवादी विचारधारा और शास्त्रीयता का विरोध करते हुए इस बात पर बल दिया था कि साहित्य समकालीन सामाजिक समस्याओं की उपेक्षा कर जीवित नहीं रह सकता। उसने कला और शैली, शब्द चयन, शब्द संघटना, अलंकरण, मूर्ति विधान, उपमा, वस्तु और शैली, शैली की विशिष्टता, शैली का औचित्य, भाषा शक्ति, शैली-भेद और लोकरुचि आदि तत्त्वों का विशद विवेचन किया।

बोध प्रश्न

1. निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

यूरोपीय साहित्य का प्राचीनतम रूप.....के प्रसिद्ध कवि.....के काव्य में मिलता है।

यूरोपीय साहित्यशास्त्र का प्रथम चिंतक.....था।

यूनानी समीक्षा के तीसरे और अंतिम विचारक.....थे।

यूनानी प्रभुत्व समाप्त होने के बाद साहित्य का केंद्र.....बना और -----भाषा का प्रभुत्व बढ़ा।

2. लौंजायनस ने काव्य की उत्कृष्टता के लिए कौन-से पाँच गुण आवश्यक माने?

.....

8.4 पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का मध्ययुग

यूरोपीय काव्यशास्त्र की प्रारंभिक स्थिति पर विचार करने के पश्चात् हम देखेंगे कि मध्यकाल में उसकी क्या स्थिति रही।

8.4.1 अंधकार युग

ग्रीक-रोमन साम्राज्य के पतन के बाद पाँचवी सदी ई0 से लेकर लगभग 15वीं सदी ई0 तक यूरोप में अराजकता की स्थिति छाई रही , साथ ही साहित्य के क्षेत्र में भी पूर्ण विराम लग गया। ऐसा प्रतीत होता है कि इस बीच यूरोप में काव्य-सृजन की गति मंद पड़ गई थी और काव्यशास्त्र के चिंतन के प्रति उदासीनता छा गई थी। इस बीच काव्यशास्त्रीय दृष्टि से कुछ भी घटित न होने के कारण इसे अंधकार युग कहा जाता है।

8.4.2 मध्ययुग/पुनर्जागरण का आरंभ

पाश्चात्य साहित्य के 15वीं और 16वीं शताब्दी के काल को पुनर्जागरण काल भी कहा जाता है। पन्द्रहवीं शताब्दी में रोमन साम्राज्य के प्राचीन केंद्र इटली में वैचारिक जागरण का नवोदय मानववाद के रूप में हुआ। इसके साथ ही यूरोप ने महसूस किया कि उसने प्राचीन यूनानी और लैटिन वैचारिक संपदा, साहित्य और संस्कृति की उपेक्षा कर अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारने का काम किया है। इस अनुभूति के उदय होते ही इटली आदि देशों में ग्रीक और लैटिन के प्राचीन ग्रंथों की खोज और उनके अनुवाद का कार्य प्रारंभ हो गया और यूरोप में पुनर्जागरण का उदय हुआ। इस नवीन वैचारिक जागृति का मूलाधार वही प्राचीन चिंतन रहा और यूरोप में उस वैचारिक क्रांति का श्रीगणेश हुआ; जिसने चार-पाँच शताब्दियों में ही यूरोपीय चिंतन और साहित्य को उत्कर्ष के चरम बिंदु तक पहुँचा दिया। 15वीं-16वीं शताब्दी में काव्य की शैली और भावपक्ष दोनों का पर्याप्त विवेचन हुआ। अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत तथा विरेचन सिद्धांत का महत्व स्वीकार किया गया। अनुकरण, कल्पना, शिक्षा एवं आनंद के आधार पर काव्य-परिभाषाएं बनाई गईं। काव्य का विभाजन श्रव्य और

दृश्य दो रूपों में किया गया। शैली विषयक नियमों तथा उदात्त भाषा के प्रयोग पर बल दिया गया। सोलहवीं शताब्दी को मध्यशास्त्रीय युग भी कहा जाता है।

अंग्रेजी समीक्षा का आरंभ सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ से माना जाता है। आरंभ में जान कॉलेट, इरास्मस और जुआन लुई विवेस नामक तीन विद्वानों ने इटली के 'मानवतावाद' को अपनाते हुए प्राचीन रूढ़ परंपराओं और पूर्वजों के अंधानुकरण का विरोध कर यह कहा कि हमें अपने युग की नई परिस्थितियों के अनुरूप नई मान्यताओं को प्रश्रय देना चाहिए। परिणामस्वरूप नए काव्य सिद्धांतों की रचना का प्रारंभ हुआ। उनके इस प्रयास के साथ ही अलंकार-शास्त्र की नई परंपरा विकसित होने लगी। 19 वीं शताब्दी के रोमांटिक आंदोलन की भूमिका तैयार करने वाले एडीसन तथा लेसिंग भी इसी युग में हुए। ड्राइडन 17वीं सदी का सबसे महत्वपूर्ण आलोचक माना जाता है। उसका झुकाव स्वच्छंदतावाद की ओर होते हुए भी वह प्राचीन सिद्धांतों के महत्व को स्वीकार करता है। एडीसन ने कल्पना की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की तथा नाटकों में परिष्कृत हास्य और व्यंग्य को आवश्यक बताया। इसी काल में एलेक्जेंडर पोप ने अपनी बौद्धिकता एवं व्यंग्यप्रियता का परिचय दिया। 18वीं सदी के उल्लेखनीय आलोचक डॉक्टर जोनसन ने संकलन त्रय को उपेक्षित करते हुए अपने ढंग से नाटक का विवेचन किया। जर्मनी के काव्यशास्त्री लेसिंग की समीक्षा ग्रीक आदर्शों को स्वच्छंदतावादी आदर्शों तक जोड़ने में प्रवृत्त हुई।

गंभीर और मनोवैज्ञानिक समीक्षा- सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हम अंग्रेजी समीक्षकों को गंभीर और मनोवैज्ञानिक चिंतन करते देखते हैं। इस समय धार्मिक सुधारवादी दृष्टिकोण वाले लोग साहित्य और कला पर अनैतिकता का आरोप लगाने लगे थे। अंग्रेजी के नए समीक्षकों ने साहित्य और कला का गंभीर विवेचन करते हुए उन आरोपों का दृढ़ता के साथ खंडन किया और कहा कि साहित्य सर्वोत्कृष्ट आनंदप्रद और उपयोगी होता है। उनका कहना था कि काव्य ऐतिहासिक, दार्शनिक, सामाजिक या नैतिक सत्य को प्रकट करने का सर्वोत्तम साधन है। परंतु अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंधकार फ्रांसिस बेकन ने साहित्य को समाज से पूर्णतः असम्पृक्त और काल्पनिक घोषित करते हुए काव्य को जीवन से पलायन माना। इस समय बेन जॉनसन ने शेक्सपियर के नाटकों की विस्तृत समीक्षा करते हुए अंग्रेजी में गंभीर समीक्षा की नींव डाली।

अन्य यूरोपीय समीक्षक- इटली के मानवतावाद ने फ्रांस और स्पेन को भी प्रभावित किया। इटली में दांते तथा पैटार्क जैसे श्रेष्ठ साहित्यकारों ने समीक्षा के नए मानदंड बनाए। वहाँ लैटिन और ग्रीक साहित्य पर भी खूब विवेचन किया गया। स्पेन में समीक्षा का प्रवर्तन छठी शताब्दी के आस-पास हो चुका था। संत इसिडोर स्पेन के पहले प्रभावशाली समीक्षक माने जाते हैं, जिन्होंने काव्य और धर्म में परस्पर अटूट संबंध माना था। इसके उपरांत समीक्षा क्षेत्र में धर्म के साथ दर्शन का प्रवेश भी मान्य हो गया। बारहवीं शताब्दी में स्पेनी विद्वानों ने काव्य को धर्म और दर्शन के चंगुल से मुक्त करके विशुद्ध काव्यशास्त्रीय समीक्षा का आरंभ किया और काव्य को सर्वश्रेष्ठ कला माना। सोलहवीं शताब्दी में

लुई विवे ने यूरोप के नवजागरण से प्रेरित होकर स्पेनी साहित्य में नए युग की स्थापना की। स्पेन के नए साहित्य समीक्षकों ने अंधानुकरण की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए नव युग का आह्वान किया।

8.4.3 सत्रहवीं शताब्दी की यूरोपीय समीक्षा: नव्य शास्त्रीय युग

सोलहवीं शताब्दी के अंत तक नवीन यूरोपीय समीक्षा का एक सुदृढ़ आधार बन चुका था। सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी समीक्षा का उल्लेखनीय विकास हुआ। इस शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ युग प्रवर्तक फ्रांसीसी समीक्षक वोयलो माना जाता है। उसने काव्य में विवेक का स्थान सर्वोपरि माना तथा प्राचीन यूनानी और लैटिन काव्यशास्त्र की दार्शनिक व्याख्या भी प्रस्तुत की। उसने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करने की परंपरा डाली। अन्य फ्रांसीसी समीक्षकों ने भी काव्य के तत्त्वों और समस्याओं पर गंभीर विचार करते हुए फ्रांसीसी समीक्षा को आगे बढ़ाया और यूरोप में नव-क्लासिकवाद (नवीन सौंदर्यवाद) को जन्म दिया। तत्कालीन स्पेनी समीक्षा का रूप भी लगभग ऐसा ही रहा। सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हम अंग्रेजी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्ति का उदय होते देखते हैं। डॉ० जॉन्सन ने गूढ़ और अस्पष्ट काव्य रचकर काव्य क्षेत्र में रहस्यवाद का प्रवेश कराया। समीक्षकों ने इस काव्य को श्रेष्ठ तो माना, परंतु इसकी अस्पष्टता की निंदा भी की।

नव क्लासिकवाद - सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में नव क्लासिकवाद की एक नई लहर फैली। फ्रांसीसी विचारकों ने साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त स्वच्छंदता का विरोध करते हुए साहित्य को नियमों द्वारा अनुशासित करने का प्रयत्न आरंभ किया। प्रसिद्ध फ्रांसीसी समीक्षक वोयली ने साहित्यकारों के लिए एक आचार संहिता का निर्माण किया; जिसका आदर्श प्राचीन यूरोपीय साहित्य को माना। उसने कहा कि कवियों को प्राचीन कवियों के नियमों का अनुसरण करना चाहिए। इसका अंग्रेजी साहित्य पर भी गहरा प्रभाव पड़ा; जिससे फ्रांस और इंग्लैण्ड में काव्यशास्त्र के प्राचीन नियमों के अनुसार ही काव्य रचना होने लगी। किंतु नव क्लासिकवाद का यह जादू अधिक समय तक अपना प्रभाव बनाए रखने में समर्थ न रह सका। फ्रांस और इंग्लैण्ड दोनों ही देशों के अनेक समीक्षकों ने इसका विरोध करना शुरू कर दिया। इंग्लैण्ड के डॉ० जान्सन और मैथ्यू आर्नल्ड जैसे प्रभावशाली साहित्यकारों और विचारकों ने कहा कि- “काव्य का लक्ष्य जीवन का आनंद लेने और उसे सहने में हमारी सहायता करना है।”

बोध प्रश्न

3. नीचे दी गई उक्तियाँ सत्य हैं या असत्य; चिन्हित कीजिए:

यूरोपीय साहित्य में पाँचवीं से पन्द्रहवीं सदी ई० का समय अंधकार युग के नाम से जाना जाता है। (सत्य/असत्य)

चौदहवीं शताब्दी से नवजागरण काल आरंभ हुआ। (सत्य/असत्य)

नव क्लासिकवाद का आरंभ फ्रांस से हुआ। (सत्य/असत्य)

4. यूरोपीय साहित्यशास्त्र के नवजागरण काल की पाँच विशेषताएं बताइए

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.5 आधुनिक युग

8.5.1 अठारहवीं शताब्दी की यूरोपीय समीक्षा

यूरोपीय काव्यशास्त्र के इतिहास में 18वीं शताब्दी का बहुत महत्व है। इस युग में आधुनिक प्रवृत्तियों के उदय के साथ यूरोपीय समीक्षा का बहुमुखी विकास हुआ। इस शताब्दी में समीक्षा की प्राचीनतावादी और स्वच्छंदतावादी दो धाराएं सक्रिय हुईं दोनों में गहरा वाद-विवाद होता रहा। इससे यूरोपीय समीक्षा अधिक समृद्ध और व्यापक बनी। अंग्रेजी के पोव और डॉ० सैमुअल जान्सन जैसे समीक्षकों ने साहित्य में कल्पना से बुद्धि को अधिक महत्व प्रदान करते हुए स्पष्टता, सरलता और प्रबोधता पर विशेष बल दिया तथा समीक्षा को एक वैज्ञानिक और सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। ये लोग प्राचीनतावादी कहलाए। इसी के साथ-साथ बुद्धि की अपेक्षा कल्पना को अधिक महत्व देने वाली स्वच्छंदतावादी समीक्षा भी विकसित हो रही थी। इसका समर्थन अंग्रेजी के प्रसिद्ध समीक्षक एडीसन ने भी किया। इन सभी की विचारधारा प्रसिद्ध यूनानी समीक्षक लोन्जायनस के कल्पनावादी सिद्धांत से प्रभावित थी। इस समय यूरोपीय साहित्य पर फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो के प्रकृतिवाद का भी प्रभाव पड़ रहा था। रूसो की मान्यता थी कि मनुष्य इस कारण दुखी है कि उसने प्रकृति का साथ छोड़ दिया है और कृत्रिम जीवन अपना लिया है। मानव प्रकृति मूलतः कल्याणकारी है, इसलिए उस पर प्रेम को छोड़ अन्य प्रकार के नैतिक बंधन लगाना अहितकर है।

रूसो के अतिरिक्त अनेक जर्मन दार्शनिक भी इस समय यूरोपीय साहित्य को प्रभावित कर रहे थे। लेसिंग, शीलर, गेटे, कांट, युंग, आदि अनेक जर्मन विचारकों ने एक प्रकार से स्वच्छंदतावादी विचारधारा का ही समर्थन किया। कुंजे ने सौंदर्यप्रियता पर बल दिया और कांट ने सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांतों का विवेचन करते हुए स्वच्छंदता और सौंदर्य में समन्वय स्थापित किया। युंग ने प्राचीन और नवीन के विवाद का विरोध करते हुए साहित्यकारों को “स्वयं को समझो” और ‘स्वयं का सम्मान करो’ का परामर्श देकर उनमें स्वाभिमान की भावना जागृत की।

अठारहवीं सदी में यूरोपीय समीक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। इस काल में समीक्षक प्राचीन मतों को ही एक मात्र आदर्श न मानकर साहित्य के विभिन्न रूपों का मूल्यांकन करने के लिए नए-नए समीक्षा सिद्धांत निर्मित कर रहे थे। यह यूरोपीय समीक्षा का बहुमुखी क्रांतिकारी युग था।

8.5.2 उन्नीसवीं सदी: स्वछंदतावाद का उत्कर्ष

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यूरोपीय साहित्य में स्वछंदतावादी प्रवृत्ति अपने चरम पर थी। मानव को सर्वोपरि मानते हुए प्राचीन परंपरा के प्रति मोह का घोर विरोध किया जा रहा था। साहित्यकार के व्यक्तित्व और मौलिकता को ही सर्वोपरि माना जाने लगा। 'प्रकृति-प्रेम' और 'सौंदर्य के प्रति जिज्ञासा' प्रधान कविकर्म बन गया। वर्डस्वर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स, वाहाम आदि अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवियों ने काव्य का लक्ष्य 'आनंद देना' माना। इनकी रचनाओं में प्रकृति प्रेम को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ, जिसने सूक्ष्म रहस्यात्मकता को जन्म दिया। समष्टि रूप में मानव जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण पवित्र, महान और आदर्शवादी था। नैतिकतापरक और उपदेश पूर्ण साहित्य का विरोध किया जाने लगा। इस नवीन काव्य प्रवृत्ति ने शिल्प विन्यास का परिष्कार कर भाषा, छंद, शैली तथा अलंकार आदि के क्षेत्र में नवीनता का प्रवर्तन किया। इसके समर्थक समीक्षकों ने काव्य-समीक्षा को काव्य के गुण-दोष-दर्शन की परिधि से ऊपर उठाकर उसे सौंदर्य-दर्शन का भव्य और उदात्त रूप प्रदान करते हुए समीक्षा के महत्व को बढ़ाया।

दूसरी ओर अनेक यथार्थवादी समीक्षकों ने स्वछंदतावाद को जीवन और समाज से पलायन करने वाला घोषित करके इसका उग्र विरोध भी किया। एवर क्रोम्बो, वाल्टर पेटर, कालरिज, मैथ्यू आर्नोल्ड आदि इस युग के प्रसिद्ध समीक्षक माने जाते हैं। समीक्षकों का एक दल भौतिकवाद का समर्थन करता रहा और दूसरा दल साहित्य पर नैतिक और सामाजिक अंकुश रखने की बात करता रहा। दूसरे दल के आदर्शवादी समीक्षक कवि को समाज सुधारक और भविष्य द्रष्टा मानते थे।

19वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवियों और काव्यशास्त्रियों में विलियम ब्लेक, वर्डस्वर्थ, कौलरिज, कीट्स तथा शैले आदि प्रमुख हैं। इनमें भी वर्डस्वर्थ और कौलरिज के सिद्धांत अधिक महत्वपूर्ण हैं। कौलरिज ने कल्पना सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए काव्य में संगीत माधुरी, व्यक्तित्व की अभिव्यंजना, कविकल्पना और खंड के स्थान पर अखंड की श्रेष्ठता का प्रचार किया। वर्डस्वर्थ ने कविता के शिल्प के विषय में महत्वपूर्ण स्थापनाएं कीं। वे मानते थे कि गद्य और पद्य की भाषा एक जैसी होनी चाहिए। इस सदी के अन्य महत्वपूर्ण आलोचकों में मैथ्यू आर्नोल्ड, टॉल्स्टॉय तथा रसकिन के नाम उल्लेखनीय हैं। मैथ्यू आर्नोल्ड (1822-1188ई0) ने आधुनिक अंग्रेजी आलोचना का सूत्रपात किया। वे प्राचीन यूरोपीय साहित्य के अरस्तू तथा हिंदी के आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भाँति महान युग प्रवर्तक आलोचक माने जाते हैं।

कलावाद का उदय- उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में 'कला कला के लिए' सिद्धांत के समर्थकों ने आदर्श और नैतिकता का तीव्र विरोध करना आरंभ कर दिया। फ्रांस में बोदलेयर इस कलावादी सिद्धांत की स्थापना पहले ही कर चुका था। इंग्लैण्ड में वाल्टर पेटर आदि ने इसका व्यापक प्रचार किया। उमर खय्याम की रुबाइयों के अनुवाद ने वहाँ 'खाओ पीओ मौज करो' की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। इससे साहित्य के क्षेत्र में अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो गई। सब लोग स्वयं को ही प्रमाण मानकर मनमाना साहित्य रचने लगे।

8.5.3 बीसवीं शताब्दी: विभिन्न समीक्षा धाराएं

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक चरण में यूरोप के दो विचारकों ने यूरोपीय साहित्य और समीक्षा को सर्वाधिक प्रभावित किया। ये दो विचारक थे- फ्राइड और मार्क्स। फ्रायड ने मनोविश्लेषण सिद्धांत का प्रवर्तन किया और मार्क्स ने साम्यवादी विचारधारा की नींव डाली। मनोविश्लेषण पर आधारित चेतना धारा ने यूरोपीय साहित्य में एक नए युग का आरंभ किया। मार्क्स ने 'द्वंद्वत्मक भौतिकवाद' नामक सिद्धांत की स्थापना करके साहित्यिक मूल्यांकन का एक सर्वथा नूतन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। बीसवीं सदी के आरंभ में इन दोनों दृष्टिकोणों से भिन्न भी साहित्य रचना और समीक्षा होती रही। यीट्स नामक अंग्रेजी के एक कवि ने रहस्यवाद को पुनः आगे बढ़ाया। इसके साथ ही फ्रांस में यथार्थवाद का एक नया रूप उभरा। इसके समर्थकों ने मानव की सहज प्रवृत्तियों को ही मानवीय व्यवहार का प्रमुख कारण स्वीकार करते हुए अतिथार्थवादी साहित्य का निर्माण किया। यह नया यथार्थवाद स्वच्छंदतावाद का ही एक नया और निकृष्ट रूप था। एमिल नोला आदि ने पहले ही यथार्थवाद का विरोध करते हुए ऐसे साहित्य को अस्वस्थ, निराशावादी, अश्लील और हानिकर घोषित किया था।

प्रमुख समीक्षक- बीसवीं शताब्दी के तीन समीक्षकों ने यूरोपीय समीक्षा को सर्वाधिक प्रभावित किया। ये तीन समीक्षक हैं - 1. बेनेदेतो क्रोचे 2. आई0ए0 रिचर्ड्स तथा 3. टी0एस0 इलियट। क्रोचे ने परंपरा से हटकर अभिव्यंजनावाद की मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की। परिणामस्वरूप बीसवीं सदी में अन्तश्चेतनावाद, प्रकृतिवाद, प्रभाववाद, बिंबवाद, प्रतीकवाद, दादावाद, अतिथार्थवाद, निर्वैयक्तिकतावाद और मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद जैसे सिद्धांत यूरोप में प्रतिपादित होकर पूरे विश्व में फैले। इनमें फ्रायड का अन्तश्चेतनावाद तथा इलियट का निर्वैयक्तिकतावाद सबसे महत्वपूर्ण हैं। इलियट ने वस्तुगत समीक्षा सिद्धांत प्रस्तुत करने के साथ ही परंपरा और निर्वैयक्तिकता का विवेचन करते हुए काव्य तथा काव्य-भाषा के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किए। इसी अवधि में रिचर्ड्स के सिद्धांत भी सामने आए। बीसवीं शताब्दी में काव्यालोचना विषयक इतने अधिक मत और सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ कि उनके आधार पर सर्वमान्य सिद्धांतों की स्थापना करना कठिन हो गया। फलतः काव्य-शैलियों की भाँति आलोचना की भी अनेक धाराएं और शैलियाँ विकसित हुईं। इनके अतिरिक्त रस्किन, ज्यां पाल सार्त्र, कीर्के गार्द, अलबर्ट कामू, हर्बर्ट रीड, जेम्स ज्वायस, हेनरी जेम्स,

एजिरा पाउड तथा के० रैम्सम आदि पाश्चात्य जगत के ऐसे साहित्यकार, विचारक और समीक्षक हैं; जिन्होंने समीक्षा को नई-नई दिशाएं प्रदान की हैं। आधुनिक पाश्चात्य काव्यशास्त्र में शास्त्रीयता और स्वछंदता का द्वंद्व देखा जा सकता है। इटैलियन कवि दांते से काव्य और कला को शास्त्रीयता से मुक्त करने का कार्य आरंभ हुआ, जिन्होंने रचना में जनभाषा को महत्व प्रदान किया। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कान्ट की इस मान्यता और स्थापना से कि “प्रतिभा, नियम या शास्त्र का अनुगमन नहीं करती”; यूरोप में स्वछंदतावादी आंदोलन का आरंभ हुआ। उससे रोमांटिक या स्वछंदतावादी मान्यताओं को बल मिला। स्वछंदतावाद के साथ-साथ ही कलावाद, अभिव्यंजनावाद और अस्तित्ववाद के मतों का विकास भी हुआ। अस्तित्ववाद एक प्रकार से स्वछंदतावाद के व्यक्ति-स्वातंत्र्य तथा मनोविश्लेषण के अहंवाद का परिणाम ही है। मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव से व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का द्वंद्व आरंभ हुआ। व्यक्तिवाद का एक रूप यथार्थवाद के अंतर्गत देखा जाता है; जो अस्तित्ववादी साहित्य का प्रधान तत्त्व बना। इससे काव्य में कुंठा, निराशा आदि का यथार्थ चित्रण होने लगा। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप मूल्य-सिद्धांत, निर्वैयक्तिकता का मत, इतिहास और परंपरा बोध तथा संप्रेषणीयता के सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ। इसमें कवि और कलाकार के जीवन और मनोवृत्तियों के विश्लेषण के स्थान पर कृति को महत्व दिया जाने लगा; जिसमें शब्द-विन्यास, प्रतीक विधान एवं बिंब योजना को प्रमुख आधार माना गया। बाद में धीरे-धीरे काव्य का विवेचन शैली विज्ञानिक दृष्टि से होने लगा; जिसमें कभी मनोतत्त्व पर बल दिया जाता है; तो कभी भाषा तत्त्व पर।

8.6 सारांश

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्लेटो से लेकर टी०एस० इलियट तक के ढाई हजार वर्ष के इतिहास का आरंभिक रूप आदर्शवादी और वस्तुपरक था। बीच में लगभग एक हजार वर्षों तक इस क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण काम नहीं हो पाया। परंतु पन्द्रहवीं शताब्दी में नव-जागरण की जो नई लहर फैली उसके साथ ही यूरोपीय साहित्य और समीक्षा द्रुत गति से विकास करते हुए मानव के चिंतन को गूढ़ और व्यापक बनाते गए। यूरोपीय समीक्षा ने आज संपूर्ण सभ्य संसार को प्रभावित कर रखा है।

यूरोपीय समीक्षा के मूल उद्गम स्थान ग्रीस (यूनान) और रोम हैं। उसके बाद फ्रांस के आलोचकों ने इंग्लैंड तथा अन्य देशों के आलोचकों को प्रभावित किया। फ्रांस में जितने वादों और आंदोलनों का जन्म हुआ, उतना किसी अन्य देश में नहीं हुआ। फ्रांसीसी आलोचना पद्धतियों में एक सूक्ष्म और गंभीर अंतर्दृष्टि उपस्थित रहती है। सत्रहवीं तथा उन्नीसवीं सदी की फ्रांसीसी आलोचना सर्वाधिक प्रभावशाली है, क्योंकि इसमें आलोचना के दार्शनिक आधार विद्यमान हैं।

प्लेटो (चौथी-पाँचवी सदी ई0पू0) से आज तक के पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विकास में अनेक देशों, अनेक भाषाओं, संस्कृतियों, परिस्थितियों एवं विद्वानों का योगदान सम्मिलित है। पाँचवी से पन्द्रहवीं सदी तक इसकी गति में शिथिलता आने के पश्चात् पन्द्रहवीं सदी के बाद यह द्रुत गति से आगे बढ़ा और 19वीं-बीसवीं सदी की पश्चिमी समीक्षा ने पूरे विश्व की सैकड़ों भाषाओं की समालोचना ही नहीं; रचनात्मकता को भी प्रभावित किया।

8.7 शब्दावली

प्रादुर्भाव	उत्पत्ति
बहिष्कृतत्र	बाहर निकालना
संवर्द्धन	बढ़ना
विशद	स्पष्ट
प्रश्रय	आश्रय
प्रवर्तन	कार्य आरंभ करना
प्रतिपादन	भली-भाँति समझना
स्पृहणीय	अभिलषित

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (अ) यूनान (आ) प्लेटो
प्लेटो
लौंजायनस
(अ) रोम (आ) लैटिन
3. सत्य
असत्य
सत्य
5. 18 वीं

(अ) फ्रांस (आ) रूसो

उन्नीसवीं

6. 'कला कला के लिए' सिद्धांत के समर्थकों ने।

7. मार्क्स और युंग

8.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. पश्चिमी आलोचनाशास्त्र; लक्ष्मी सागर वाष्णेय; सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश।
2. साहित्यशास्त्र; रामशरणदास गुप्ता एवं राजकुमार शर्मा; कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।
3. सौंदर्यशास्त्र की पाश्चात्य परंपरा; नीलकांत; देशभूमि प्रकाशन, इलाहाबाद।
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र; विजयपाल सिंह; जयभारती प्रकाशन, मुट्टीगंज, इलाहाबाद।
5. पाश्चात्य काव्यशास्त्र; देवेन्द्रनाथ शर्मा;

8.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के उद्भव एवं विकास पर एक विस्तृत निबंध लिखिए .
2. पाश्चात्य साहित्य शास्त्र से आप क्या समझते हैं ? पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के आधुनिक युग का समीक्षात्मक विवेचन कीजिए

इकाई 9 प्लेटो: परिचय एवं सिद्धांत

- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 उद्देश्य
- 9.3 प्लेटो
 - 9.3.1 पृष्ठभूमि
 - 9.3.2 प्लेटो के काव्य सिद्धांत
- 9.4 अनुकरण सिद्धांत
 - 9.4.1 प्रत्यय और विशेष
 - 9.4.2 कला के तीन स्तर
 - 9.4.3 अनुकृति का अनुकरण
- 9.5 आलोचना
 - 9.5.1 प्लेटो के विचारों की आलोचना
- 9.6 सारांश
- 9.7 शब्दावली
- 9.8 अभ्यासों के उत्तर
- 9.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 9.10 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अंतर्गत सम्मिलित है . पिछली इकाई में आप ने पढ़ा कि मानव संस्कृति के विकास में कला और साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मनुष्य के प्रकृत स्वभाव को परिमार्जित करके सुसंस्कृत बनाने में कलाएं किस प्रकार की भूमिका निभाती हैं, इस पर कला और साहित्यशास्त्री प्राचीन काल से ही मंथन और विवेचन करते आ रहे हैं।

प्रस्तुत इकाई में आप पढ़ेंगे कि मनुष्य को सौंदर्य तत्व की अनुभूति कराते हुए आनंद प्रदान करने वाली कलाएं समाज को सुव्यवस्थित रूप से आगे बढ़ाने में कितनी सहायक या बाधक हो सकती हैं; तथा कला के मूल तत्व एवं प्रक्रिया क्या है; इसी के मंथन के साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र का चिंतन आरंभ हुआ। इस चिंतन में पहला नाम प्लेटो का आता है; जिसने सबसे पहले एक आदर्श राज्य की कल्पना की थी। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रारंभ ईसा से लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी पूर्व प्लेटो से ही माना जाता है।

प्रस्तुत इकाई में हम महान विचारक प्लेटो के साहित्यिक सिद्धांतों का परिचय प्राप्त करेंगे।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ कर आप जानेंगे कि:

पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रारंभ कब और किससे हुआ ?

प्लेटो कौन था ?

काव्यशास्त्र में प्लेटो का क्या योगदान है ?

अनुकरण सिद्धांत क्या है ?

प्लेटो के अनुसार श्रेष्ठ काव्य कौन-सा है ?

9.3 प्लेटो

इस भाग में सर्वप्रथम हम प्लेटो के काल, पृष्ठभूमि और कृतित्व का सामान्य परिचय प्राप्त करेंगे।

9.3.1 पृष्ठभूमि

यूरोप की आलोचना-पद्धति का मूल स्रोत प्राचीन ग्रीस का सांस्कृतिक जीवन है। प्लेटो (ई०पू० 428 से 347) और अरस्तू (384-322 ई०पू०) से बहुत पहले से वहाँ रचनात्मक साहित्य की

सृष्टि हो रही थी। तत्कालीन ग्रीक कवियों, दार्शनिकों और चिंतकों द्वारा रचे गए दर्शनशास्त्र, भाषण-शास्त्र, नाटक, काव्य तथा इतिहास आदि के स्फुट संदर्भ मिलते हैं; जिनमें साहित्य के आदर्शों और आलोचना सिद्धांतों पर निर्णय दिए गए हैं; जैसे काव्य का जन्म किस प्रकार होता है, उसकी रचना-पद्धति क्या है, काव्य का उद्देश्य क्या है आदि। ईसा पूर्व पाँचवी-छठी शताब्दी में होमर कृत 'इलियड एंड ओडीसी' नामक महाकाव्य के अनेक रूपांतर मिलते हैं। किंतु ई0पू0 चौथी शताब्दी में यूनान की उत्कृष्ट कलाओं और सर्जनात्मकता का एकाएक हास होने लगा। राजनीति, शिक्षा, आचार-विचार आदि में एक प्रकार की अराजकता फैल गई थी। इसके बाद धीरे-धीरे दर्शनशास्त्र तथा वक्तृत्व कला में कुशल पंडितों ने देश की बागडोर संभाली। उन्होंने तर्क विद्या के बल से ज्ञान के नए क्षेत्रों का अवगाहन किया। इसीसे साहित्य-समीक्षा के महत्वपूर्ण सिद्धांतों का भी प्रादुर्भाव हुआ। इन चिंतकों में ही प्रसिद्ध प्राचीन ग्रीक विद्वान सुक्रात भी थे; जिन्होंने अपने दार्शनिक चिंतन प्रधान भाषणों और संवादों द्वारा तत्कालीन युवाओं पर गहरा प्रभाव डाला था। उनके प्रिय शिष्यों में प्लेटो प्रमुख थे।

सुक्रात के बाद उनके सबसे प्रतिभाशाली शिष्य प्लेटो ने साहित्य, राजनीति एवं समाज-निर्माण का बौद्धिक नेतृत्व संभालकर यूनान में बौद्धिक क्रांति का सूत्रपात किया। प्लेटो एक संभ्रांत कुल में पैदा हुए थे। उनके माता-पिता दोनों का संबंध एथेंस के राजघरानों से था। प्लेटो महान दार्शनिक सुकरात के विचारों तथा तर्क पद्धति से अत्यधिक प्रभावित थे। सुकरात को नवयुवकों को भड़काने और पथभ्रष्ट करने के आरोप में प्राणदंड मिलने के पश्चात् प्लेटो को विश्वास हो गया कि सच्चे और ईमानदार व्यक्ति के लिए राजनीति में कोई स्थान नहीं है। कुछ समय तक अन्य देशों की यात्रा करके पुनः एथेंस लौटकर उन्होंने ई0पू0 387 में अकादमी की स्थापना की; जिसका उद्देश्य दार्शनिक और वैज्ञानिक अनुसंधान करना था। इस अकादमी को यूरोप का प्रथम विश्वविद्यालय माना जाता है। प्लेटो साहित्य, गणित एवं दर्शनशास्त्र के प्रकांड विद्वान थे। उनके विद्यापीठ में दर्शनशास्त्र, गणित, प्राकृतिक विज्ञान, न्याय और कानून की शिक्षा दी जाती थी। सहृदय और दूरदर्शी प्लेटो के आलोचना संबंधी विचारों का परिचय 'गोर्जिपास एंड फ्रीड्स', 'प्रोटोगोरस', 'आयॉन', 'क्रेटिलस', 'रिपब्लिक' और 'लौज' आदि तीस से अधिक संग्रहों में संवादों के रूप में उपलब्ध होता है। इनमें से 'रिपब्लिक' नामक ग्रंथ सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें ग्रीक जीवन तथा आचरण के सभी पक्षों पर प्लेटो ने अपनी सूक्ष्म और आदर्शवादी अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। आगे चलकर इन्हीं के आधार पर यूरोपीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा प्रस्तुत हुई। प्लेटो के संवादों में आलोचना सिद्धांतों का कोई व्यवस्थित निरूपण नहीं मिलता। वे जहाँ-तहाँ बिखरे हुए हैं, फिर भी वे इतने मौलिक तथा गंभीर हैं कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास का प्रारंभ उन्हीं से माना जाता है।

ईसा की तीसरी से पाँचवी शताब्दी तक प्लेटो के विचारों पर टीका-टिप्पणियाँ लिखी जाती रहीं। उसके बाद दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक उन विचारों के मनन, अध्ययन और विवेचन का कार्य चलता रहा। फिर पुनर्जागरण काल और 19वीं शताब्दी के स्वच्छंदतावादी युग (रोमेंटिक पीरियड) के विद्वानों तथा कवियों पर भी प्लेटो ने पूर्ण प्रभाव डाला। विशुद्ध आनंदानुभूति वाली

कला और उपयोगिकतापूर्ण कला के विषय में प्लेटो द्वारा प्रारंभ किया गया विवाद बीसवीं शताब्दी तक कवियों-कलाकारों के आंदोलनों का एक प्रमुख बिंदु बना रहा।

9.3.2 प्लेटो के काव्य सिद्धांत

प्लेटो को काव्य और कवियों की निंदा करने वाला माना जाता है। ऐसा क्यों कहा जाता है? यह जानने के लिए इस भाग में हम कला और काव्य-निर्माण के विषय में प्लेटो के विचारों के विषय में पढ़ेंगे।

प्लेटो के काव्य-विषयक विचार- प्लेटो काव्य-साहित्य का गहन अध्येता था तथा अपनी गद्य रचनाओं में कवित्वपूर्ण शब्द और पंक्तियाँ उद्धृत करता था, फिर भी उसने कवियों की भर्त्सना की है। हम पूछ सकते हैं कि ऐसा विरोधाभास क्यों? इसीलिए कि प्लेटो का मूल उद्देश्य आदर्श राज्य और आदर्श व्यक्ति का निर्माण करके व्यक्ति के आंतरिक गुणों को विकसित करना था। उसकी विचारधारा में एक ओर समाज तथा राजनीति का उत्थान है, तो दूसरी ओर व्यक्ति का। वह साहित्य और कला में वहीं तक रूचि रखता था जहाँ तक उनसे राजनीतिक उत्थान हो सके और उदात्त नैतिक सिद्धांतों की स्थापना हो सके। वह मानता था कि कवि तर्करहित होकर आवेग और भावना से काव्य रचना करता है, अतः काव्य वैज्ञानिक नहीं होते। वे समाज को उत्तेजित कर उसे अनैतिक तथा अनुशासनहीन बनाते हैं। किसी कवि या काव्य के मात्र सुंदर होने से कोई लाभ नहीं, जब तक कि वह 'रिपब्लिक' के अनुशासन का पालन न करे। वह कहता था कि यदि कवि को काव्य-रचना की स्वतंत्रता दी जाती है तो उसे यह भी बताना चाहिए कि वह अपने काव्य में सिर्फ 'शुभ' और 'लाभप्रद' चरित्रों का ही चित्रण करे। अशुभ, विलासिता, नीचता और भद्देपन की अनुकृति प्रस्तुत करने की स्वतंत्रता कवि को नहीं देनी चाहिए। ऐसा करने से नागरिकों पर गलत असर पड़ेगा। उनके मन में अशुभ तत्वों की प्रतिमाएं स्थिर हो जाएंगी। प्लेटो ने अपने पूर्ववर्ती कवि होमर और हिसियौड की भी आलोचना की, क्योंकि उन्होंने अपने वीर नायकों को फूट-फूट कर रोते, भद्दी भाषा का प्रयोग करते तथा लड़ते हुए चित्रित किया था। अपने उद्देश्यों के लिए गलत साधनों का प्रयोग करने वाले पात्रों के चित्रण युक्त काव्य नागरिकों को भ्रष्ट बना सकते हैं। नैतिकता की रक्षा के लिए देवताओं और योद्धाओं को आदर्श रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। ईश्वर को उसी जगत का स्रष्टा बताना चाहिए, जो परम रूप से शुभ हो। दुष्ट लोगों को सुखी नहीं दिखाना चाहिए और दंगा फसाद करने वालों की तारीफ नहीं करनी चाहिए। उसके अनुसार जो देवी-देवता या महापुरुष नागरिकों को प्रभावित करते हैं; उन्हें निष्कृष्ट रूप में आपस में लड़ते, उच्छृंखल होते अथवा अनैतिक, कामी-अत्याचारी रूप में चित्रित करना देश और समाज के लिए अपमानजनक है। ऐसी कला मनुष्य को हीन, पतित तथा अनैतिक बनाती है। आदर्श राज्य में ऐसे कवियों के लिए कोई स्थान नहीं है। उन्हें फूलों का हार पहनाकर राज्य से कहीं बाहर भेज देना चाहिए। प्लेटो ऐसी काव्य रचनाएं चाहता था; जो मनुष्य को देवोपम गुणों से विभूषित कर सकें, चारित्रिक दृष्टि से उसे लौह पुरुष बना सकें।

प्लेटो ने काव्य-कला का खंडन दो आधारों पर किया; 1. नैतिक दृष्टि से वह अनैतिकता को प्रश्रय देने वाली है, तथा 2. वह मिथ्या या अवास्तविक प्रचार करती है। एक आदर्श नागरिक के रूप में मनुष्य को नैतिक आदर्श का अनुसरण करना चाहिए। कला उसे दोनों ही दृष्टियों से पथभ्रष्ट करती है, इसलिए वह निंदनीय है।

कवि 'विशेष' का चित्रण करता है, सामान्य का नहीं। उसका ज्ञान ऐन्द्रिय ज्ञान तक ही सीमित रहता है, ज्ञान-ज्ञान तक नहीं पहुँच पाता। वह आदर्श जगत की अनुकृति प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि उसकी छाया की अनुकृति करता है। प्लेटो के अनुसार उत्कृष्ट कला वही है जो अपार्थिव एवं अमूर्त सत्य के प्रति मनुष्य को सचेत कर दे। प्लेटो ने सत्य, शिव और सुंदर को स्वीकार किया, किंतु इन तीनों में भी शिव को सर्वाधिक मान्यता दी। वह नैतिकता और सुंदरता का पुजारी था। इसलिए उसी कला को श्रेष्ठ मानता था जो मानव-चरित्र को शिव और उन्नत बनाने में समर्थ हो। उसके मतानुसार दूसरी कलाओं की भाँति कविता को भी समाज के लिए उपयोगी होना चाहिए। काव्य का लाभप्रद और सुंदर होने के साथ-साथ आनंदप्रद होना भी आवश्यक है। यदि वह ऐसा नहीं है तो वह त्याज्य है। चूँकि कविता हमारी सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना के साथ ही सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति भी है, इसीलिए उसे अवश्य ही दोष-रहित और शिव स्वरूप होना चाहिए। अश्लील संवेगों को कुरेदने वाली कविता हमारी आत्मा की शत्रु है।

प्लेटो ने कलाओं को दो भागों में बाँटा; ललित कला और उपयोगी कला तथा काव्य की तीन प्रमुख शाखाएं मानीं; गीत, महाकाव्य और नाटक। उसके अनुसार गीत विवरणात्मक होते हैं, नाटक अनुकरणात्मक और महाकाव्य मिश्रित होते हैं; जिसमें कुछ अंश कवि अपनी ओर से व्यक्त करता है, कुछ पात्रों के माध्यम से कहता है। नाटक की चर्चा करते हुए उसने ट्रेजेडी के श्रेष्ठ कवियों को न्यायकर्ताओं और समाजसेवियों के समकक्ष बताया, तथा हास्यास्पद और बेहंगे कार्यों को कॉमेडी का आधार बताया। उसने संगीत का उदाहरण देते हुए समझाया है कि आरोह-अवरोह तथा स्वरो की विभिन्नता के बाद भी संगीत का लक्ष्य सामंजस्य और समन्वय स्थापित करके आनंद की सृष्टि करना होता है। इसी प्रकार काव्य में कथा, पात्र, भाषा आदि विभिन्न तत्वों का प्रयोग करते हुए कवि की दृष्टि भी समन्वय एवं समग्रता पर होनी चाहिए। प्लेटो का एक और अनेक का समन्वय उसके 'कला के अनुकरणात्मक सिद्धांत का मूल है। काव्य के मूल्यांकन के लिए प्लेटो उसके यथार्थ रूप का ज्ञान आवश्यक समझता था तथा मनोविज्ञान और मानव-चरित्र के सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन करने की शक्ति को प्रमुखता देता था। उसने कल्पना और संवेगों का अर्थ मनोवैज्ञानिक रूप से समझा था। वह मनोविज्ञान के इस तथ्य से भी अनभिज्ञ नहीं था, कि मनोभावों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति से शांति और मुक्ति मिलती है। दूसरी ओर वह ललित कला तथा व्यावहारिक कला में भी भेद करता है; जैसे चित्रकला और खेला वे मानते हैं कि सच्चे नागरिक को शरीर और मन दोनों की शिक्षा देना जरूरी है। मन के लिए कला तथा शरीर के लिए व्यायाम। प्लेटो उसी साहित्य और कला को अच्छा समझता था, जो मानव-चरित्र को उन्नत और शिव बनाए। काव्य का उद्देश्य केवल आनंद प्रदान

करना ही नहीं है, बल्कि मानव को प्रभावित कर उसके चरित्र में छिपी हुई आत्म-शक्तियों को सामने लाकर उसका चरित्र-निर्माण करना भी है।

प्लेटो की काव्यकला की कसौटी सत्य है। वह कठोर संयम और आत्म नियंत्रण पर आधारित है। प्लेटो के संपूर्ण आलोचना सिद्धांतों के मूल में नैतिकता, संयमित और सीमित कल्पना, अनुशासन, व्यवस्था क्रम और भेदाभेद वाला दर्शन ज्ञान निहित है।

बोध प्रश्न-1

1. प्लेटो का सबसे प्रसिद्ध संवाद संग्रह कौन-सा है?

(क) आर्थॉन, (ख) प्रोटागोरस, (ग) रिपब्लिक, (घ) क्रेटिलस

2. निम्नलिखित वाक्य में रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए:

‘प्लेटो ने कविता का विरोध किया, क्योंकि वह (क).....और (ख).....।

3. प्लेटो कैसी कला को श्रेष्ठ मानता था?

4. प्लेटो आदर्श राज्य से कवियों को क्यों निष्कासित करना चाहता था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.4 अनुकरण सिद्धांत

प्लेटो काव्य तथा कलाओं को अनुकरण का अनुकरण कहता था। अनुकरण क्या है और कलाएं अनुकरण की अनुकरण कैसे हुईं? इसका विश्लेषण हम प्रस्तुत भाग में पढ़ेंगे।

9.4.1 प्रत्यय और विशेष

प्लेटो कवियों की निंदा करता था, उसका एक प्रमुख कारण उसकी यह मान्यता है कि काव्य अनुकरण का अनुकरण है, और भ्रामक रचना आदर्श राज्य तथा व्यक्ति के निर्माण में बाधक है। इसलिए वह सत्य नहीं है। काव्य अनुकरण का अनुकरण कैसे है? आइए जानते हैं।

प्लेटो मूलतः प्रत्ययवादी (आइडियलिस्ट) दार्शनिक था। प्रत्ययवाद के अनुसार प्रत्यय अर्थात् विचार (आइडिया) ही परम सत्य है। ईश्वर उसका स्रष्टा है। दृश्यमान जगत् उसका अनुकरण है। दर्शन-मीमांसा का मूल उद्देश्य सत्य का अन्वेषण होता है। प्लेटो की तत्व-मीमांसा में दो शब्दों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है: 'प्रत्यय' और 'विशेष'। 'प्रत्यय' एक वर्ग का प्रतिनिधि है, फिर भी वह दिखाई नहीं देता। वह अदृश्य, अरूप, अपरिवर्तनीय परम सत्य है। वह इन्द्रियातीत है। उसका ज्ञान सिर्फ प्रज्ञा द्वारा ही संभव है। 'प्रत्यय' का ही वैज्ञानिक ज्ञान संभव है। 'विशेष' वे वस्तुएं हैं; जिनका ज्ञान हम अपनी पाँचों इन्द्रियों से देख, सुन, सूँघ, चख या स्पर्श करके ग्रहण करते हैं; जैसे मनुष्य, घोड़े, फूल इत्यादि। 'विशेषों' का वैज्ञानिक ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि ये (अ) परिवर्तनशील हैं, (आ) इनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, (इ) इनका बोध इन्द्रियों से होता है और ऐन्द्रिय ज्ञान प्रामाणिक नहीं होता, (ई) इसलिए ये सत्य नहीं हैं।

तो ये 'विशेष' क्या हैं?

ये 'विशेष' 'प्रत्यय' के प्रतिबिंब हैं, उनकी छाया हैं।

कैसे?

जैसे कि हम बहुत से घोड़े देखते हैं; काले, सफेद, भूरे रंगों के या आकार में छोटे-बड़े अथवा चाल में मंद या तेज। इन समस्त भिन्नताओं के बाद भी हम उन्हें 'घोड़ा' ही कहते हैं। इसीलिए 'घोड़ा' 'प्रत्यय' है और 'घोड़े' 'विशेष' है। 'घोड़े' नश्वर हैं, 'घोड़ा' अनश्वर। एक दिखाई देता है, दूसरा नहीं। यह न दिखाई देने वाला अदृश्य, अरूप घोड़ा ही 'प्रत्यय' अर्थात् परम सत्य है। इसी तरह प्रत्येक वर्ग और जाति का एक-एक परम सत्य अर्थात् 'प्रत्यय' होता है। मनुष्य जाति का प्रत्यय मनुष्य, फूलों का फूल और गायों का गाय। इस तरह ज्ञान प्राप्ति के भी दो रास्ते हैं; इन्द्रियाँ और प्रज्ञा। इन्द्रियाँ वस्तु-जगत का ज्ञान कराती हैं, लेकिन उनका ज्ञान भ्रामक होता है, क्योंकि ये 'प्रत्ययों' का ज्ञान नहीं करा पातीं। प्रज्ञा 'प्रत्ययों' का ज्ञान कराती है। उसका ज्ञान सच्चा ज्ञान होता है, क्योंकि वह वस्तुओं के मूल तत्व अर्थात् परम-सत्य का ज्ञान प्राप्त करती है। भारत के प्राचीन दर्शनों में भी यही बात कही गई है कि यह विविध रूपात्मक स्थूल संसार क्षणिक और परिवर्तशील है तथा किसी शाश्वत अमूर्त सत्ता का बाह्यावरण मात्र है। गोचर जगत क्षणभंगुर है और शाश्वत तत्व अगोचर है। प्लेटो का यह दर्शन भारत के 'ब्रह्म और माया' अथवा पुरुष रूपी परमात्मा की छाया रूपी प्रकृति के दर्शन के निकट प्रतीत होता है।

9.4.2 कला के तीन स्तर

प्राणियों या वस्तुओं की हर जाति का अपना एक 'प्रत्यय' होता है; जैसे अनेक चारपाइयों और मेजें होती हैं। उनमें चारपाइयों को हम इसलिए पहचानते हैं, कि वे चारपाई से मिलती-जुलती हैं, जो चारपाई सभी चारपाइयों में अनुस्यूत है। वह उन सब चारपाइयों का मूल तत्व या 'प्रत्यय' है।

बढ़ई चारपाई बनाते समय इसी 'प्रत्यय' को ध्यान में रखकर उसका अनुकरण करते हुए लकड़ी की चारपाई बनाता है। वह स्वयं 'प्रत्यय' की रचना नहीं करता, इसलिए उसकी कला अनुकरण है। उसके बाद कलाकार उस चारपाई का चित्र बनाता है, इसलिए वह अनुकरण की अनुकृति बनाता है। अर्थात् छाया की छाया बनाता है। इसलिए उसे सत्य नहीं कहा जा सकता। वह सत्य से तिगुनी दूर है।

इस प्रकार प्लेटो की दृष्टि से कलाकार तीन प्रकार के होते हैं, पहला वह; जो धरती, आकाश तथा देवता-सभी की रचना करता है। उसे ईश्वर कहते हैं। दूसरा कलाकार बढ़ई है; जो चारपाई बनाता है, किंतु उसके द्वारा निर्मित चारपाई वास्तविक चारपाई नहीं। वह वास्तविक चारपाई की छाया मात्र है।

तीसरा कलाकार चित्रकार है। वह बढ़ई द्वारा निर्मित चारपाई की अनुकृति बनाता है। बढ़ई ईश्वर कृत मूल 'प्रत्यय' की छाया निर्मित करता है और चित्रकार उस छाया की अनुकृति तैयार करता है। छाया की छाया सत्य कैसे हो सकती है? उसे तो ईश्वर-रचित चारपाई का ज्ञान भी नहीं। उसके ज्ञान को सच कैसे माना जा सकता है? बढ़ई कृत चारपाई को हम चारों दिशाओं से देख सकते हैं। अनुदृश्य बदल देने पर उसके रूप में भी परिवर्तन हो सकता है। वह कभी चौकोर तो कभी तिकोनी दिख सकती है, परंतु चित्रकार-रचित चारपाई एक ही ओर से देखी जा सकती है। वह बच्चों को बहलाने के लिए काफी हो सकती है, किंतु बुद्धिमान या ज्ञानी के लिए वह सिर्फ भ्रम है।

9.4.3 अनुकृति का अनुकरण

इस तरह कलाकार मात्र अनुकर्ता है। उसकी कला भ्रामक है और सत्य से तीन गुना दूर है। वह सत्य की तीसरी छाया को सत्य मान लेता है। अतः वह छाया-चित्रकार है। वह बढ़ई या मोची को चारपाई बनाते या जूता सीते हुए चित्रित कर सकता है, किंतु उनके पेशे से अनभिज्ञ ही रह सकता है। चारपाई कैसे बनाई जाती है, इसके बारे में उसे कोई ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार कवि जिस वस्तु का अनुकरण करता है, उसकी वास्तविक प्रकृति से परिचित नहीं होता। वह न अपने अनुकार्य की प्रकृति से परिचित होता है और न उसका सच्चा रूप अंकित कर पाता है। इसका आशय यह हुआ कि कला में जिन पदार्थों का चित्रण होता है वे केवल चर्म-चक्षुओं से दिखाई पड़ने वाले विविध-रूपात्मक तथा क्षण-क्षण परिवर्तनशील पदार्थ होते हैं; जबकि सत्य अपरिवर्तनशील, अमूर्त और एक है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काव्य में अनुकरण की प्रक्रिया वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में नहीं; बल्कि आदर्श रूप में प्रस्तुत करती है।

जो कार्य चित्रकार तूलिका और रंगों से करता है वही कार्य कवि शब्दों द्वारा करता है। कवि भले ही अपनी प्रतिभा के बल पर श्रेष्ठ काव्य का सृजन करता हो, किंतु वह जो कुछ भी चित्रित करता है वह प्रकृति के खुले हुए रंगमंच को देखकर उससे प्रेरणा लेकर करता है। अर्थात् कवि की रचना प्रकृति की चित्रशाला की अनुकृति होती है। प्रकृति स्वयं अरूप तत्व की रूपात्मक छवि है।

अतः कवि का सत्य यथार्थ से पर्याप्त दूर है। काव्य तथा अन्य कलाओं द्वारा सत्य का निरूपण नहीं हो सकता, यह मानकर ही प्लेटो ने काव्य को देव-स्तुतियों एवं महापुरुषों की प्रशस्तियों तक ही सीमित रखा।

9.5 आलोचना

प्लेटो के सिद्धांतों की पाश्चात्य विद्वानों द्वारा पर्याप्त आलोचना की गई। उसके विचारों में अनेक दोष निकाले गए। उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं-

9.5.1 प्लेटो के विचारों की समालोचना

प्लेटो का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसने अत्यधिक नैतिकता और दर्शन-ज्ञान की वेदी पर कला और सौंदर्य का हनन किया।

कला के क्षेत्र में भावुकता को कुछ मान्यता देते हुए भी उसने श्रव्य कला की भावुकता की तीव्रता का उल्लेख नहीं किया। दृश्यकला में भावुकता की उतनी तीव्रता नहीं होती।

सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से यह आवश्यक नहीं कि सुंदर वस्तु हमेशा नैतिक ही हो अथवा नैतिक वस्तु हमेशा सुंदर ही हो। अतः कला के सौंदर्य का मानदंड नैतिकता नहीं हो सकती।

काव्य या चित्र को नकल की नकल कहना अनुचित है।

जिस आदर्श जगत की बात प्लेटो करते हैं, उस तक सामान्य आदमी की बुद्धि की पहुँच नहीं है।

प्लेटो के काव्य विषयक विचारों को संक्षेप में इन बिंदुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है:

1. कवि दैवी प्रेरणा से आवेश में रचना करता है, परंतु उसके वर्णन वास्तविक तथा तर्क आधारित नहीं रहते। वह प्रायः मानव-वासनाओं को उभार कर लोगों को असंयत, अनैतिक, संघर्षशील बनाता है।
2. कवि का वर्णन सत्य न होकर भावुक, काल्पनिक, अतिरंजनापूर्ण होने से समाज को गलत दिशा में ले जाता है।
3. प्लेटो ज्ञान और सत्य की प्रतिष्ठा करने वाले काव्य का स्वागत करता है।
4. वस्तु के तीन रूप होते हैं; आदर्श, वास्तविक और अनुकृता। प्रकृति ईश्वर के आदर्श के आधार पर रची गई सृष्टि है और काव्य तथा कला उसकी अनुकृति हैं, इसलिए सत्य से तीन गुना दूर हैं।

5. अनुकरण के दो रूप हैं; एक वह तत्त्व, जिसका अनुकरण किया जाता है, दूसरा अनुकरण का स्वरूप। यदि तत्त्व मंगलकारी है और अनुकृति उत्तम है तो वह स्वागत योग्य है। लेकिन प्रायः अनुकृत्य अमंगलकारी तथा अनुकरण अधूरा होता है, इसलिए ऐसी कला हानिकारक होती है।
6. काव्य कला में वस्तु के साथ रूप (फॉर्म) का भी महत्व है। भाषा, लय तथा कला का संगठन तर्कसंगत समीचीन होना चाहिए।

प्लेटो के विचारों में अनेक दोष होते हुए भी दर्शन और काव्यशास्त्र में उसका महत्व कम नहीं होता। पाश्चात्य काव्यशास्त्र की नींव तैयार करने में उसका अमूल्य योगदान है। काव्य तथा कलाओं के संबंध में प्रश्न उठाकर उन्होंने साहित्यालोचन के चिंतन, अध्ययन एवं विवेचन की पृष्ठभूमि तैयार की। अपनी तलस्पर्शी गहन प्रतिभा के बल पर आचार्य प्लेटो पर्ववर्ती आचार्यों के लिए प्रकाश स्तंभ बने। उनकी बहुत-सी बातों से असहमत हुआ जा सकता है, लेकिन उनकी मौलिक उद्भावनाओं को विस्मृत नहीं किया जा सकता। प्लेटो पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के प्रथम आलोचक है; जिसने तर्क और कल्पना, संयम और आवेश, ज्ञान और विज्ञान का सामंजस्य स्थापित करते हुए साहित्य के मूल तत्वों को समझने के लिए मनोविज्ञान का सहारा लिया। सर्वप्रथम उन्हीं के प्रयासों से काव्य में आध्यात्मिक तत्वों का समावेश हुआ। उन्होंने कलाकारों के लिए मानव-जीवन के संपूर्ण ज्ञान को आवश्यक बताया तथा तत्कालीन साहित्यकारों का खोखलापन उद्घाटित किया। प्लेटो के बाद उनके शिष्य अरस्तू ने अनुकरण सिद्धांत की पुनर्व्याख्या करते हुए काव्य के नए सिद्धांतों का प्रतिपादन किया।

बोध प्रश्न: 2

5. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।

प्लेटो की तत्व मीमांसा में दो शब्दों पर विशेष गौर करने की आवश्यकता है?

(क)..... (ख).....

काव्य भ्रांति है, क्योंकि वह.....का.....है।

6. प्लेटो के काव्य सिद्धांतों का सबसे बड़ा दोष क्या है?
7. चित्रकार द्वारा चित्रित चारपाई असत्य कैसे है?
8. कवि-सत्य यथार्थ के कितना दूर है?

9.6 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रारंभ ईसा पूर्व चौथी-पांचवी शताब्दी से हुआ था। उसका प्रथम चिंतक और व्याख्याता प्लेटो था। प्लेटो ने अपनी प्रखर प्रतिभा, दार्शनिक चिंतन तथा मानव-जीवन के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर साहित्य, चित्रकला और संगीत आदि के विषय में अपने सिद्धांत स्थिर करके अपने विचार दिए। तब से आज तक ये सिद्धांत काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण विचार बने हुए हैं। प्लेटो एक आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहता था। उसके योग्य आदर्श नागरिकों के चरित्र-निर्माण की दृष्टि से वह नैतिकता को सर्वोपरि मानता था। इसलिए उसने साहित्य तथा कला के उन्हीं चित्रणों का समर्थन किया जो देवताओं और योद्धाओं के आदर्श गुणों को प्रस्तुत कर नागरिकों को उस ओर प्रेरित करें। प्लेटो की काव्य-कला की कसौटी सत्य है। वह कठोर संयम तथा आत्म नियंत्रण पर आधारित है। कविता और नाटक में देवताओं तथा वीर नायकों की दुर्बलताएं चित्रित करने वाले तथा अयथार्थ और अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा काल्पनिक चित्रण करने वाले कवियों की प्लेटो ने निंदा की है।

9.7 शब्दावली

भर्त्सना	निंदा
अनभिज्ञ त्र	अनजान
ट्रैजेडी	करुणांतक नाटक
अनुकर्त्ता त्र	अनुकरण करने वाला
उद्भावना त्र	कल्पना-उत्पत्ति
प्रखर	तीक्ष्ण
अवगाहन	डुबकी लगाना
इन्द्रियातीत	जो इन्द्रियों से न जाना जा सके

9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (ग) रिपब्लिक
2. (क) अनैतिकता को प्रश्रय देती है
(ख) मिथ्या या अवास्तविक प्रचार करती है।
3. जो मानव चरित्र को शिव और उन्नत बनाने में समर्थ हो।
5. (क) 'प्रत्यय' (ख) 'विशेष'
अनुकरण का अनुकरण
6. नैतिकता और दर्शन-ज्ञान की वेदी पर कला का हनन करना।
7. क्योंकि वह मूल चारपाई के अनुकरण की अनुकृति है।
8. तीन गुना

9.9 उपयोगी पुस्तकें

1. पश्चिमी आलोचना शास्त्र; लक्ष्मी सागर वार्षणेय; हिंदी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ
2. साहित्यशास्त्र; रामशरण दास गुप्ता एवं राजकुमार शर्मा; कॉलेज बुक डिपो, जयपुर (राजस्थान)
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र; विजयपाल सिंह; जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
5. पाश्चात्य काव्यशास्त्र; देवेन्द्रनाथ शर्मा, जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

9.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्लेटो के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विवरणात्मक परिचय दीजिए . साथ ही उनके प्रमुख काव्य सिद्धांतों का विवेचन कीजिए
2. प्लेटो के अनुकरण सिद्धांत कि समालोचना करते हुए साहित्य के सन्दर्भ में उनका महत्त्व स्पष्ट कीजिए .

इकाई 10 अरस्तू : परिचय एवं सिद्धांत

- 10.1 प्रस्तावना
- 10.2 उद्देश्य
- 10.3 अरस्तू और उनका काव्यशास्त्र
 - 10.3.1 अरस्तू
 - 10.3.2 अरस्तू का काव्यशास्त्र
 - 10.3.3 अरस्तू की काव्यगत मान्यताएं
- 10.4 अरस्तू के काव्य सिद्धांत
 - 10.4.1 अनुकरण सिद्धांत
 - 10.4.2 विरेचन सिद्धांत
- 10.5 प्लेटो और अरस्तू की तुलनात्मक समीक्षा
 - 10.5.1 तुलना
 - 10.5.2 महत्त्व एवं प्रासंगिकता
- 10.6 सारांश
- 10.7 शब्दावली
- 10.8 अभ्यासों के उत्तर
- 10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 10.10 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

इकाई 9 में आप ने पढ़ा कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रथम सिद्धांतकार यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो थे। उन्होंने काव्य की निंदा करते हुए उसके जिन लक्षणों और प्रक्रियाओं की चर्चा की, वे ही आगे जाकर साहित्यालोचन के आधारभूत तत्व बने।

प्रस्तुत इकाई में आप अरस्तू के साहित्य शास्त्र संबंधी विचारों और स्थापनाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे। प्लेटो के विद्वान शिष्य अरस्तू (ऐरिस्टोटल) ने प्लेटो के बाद उनके काव्य-विरोधी आरोपों का उत्तर देते हुए उन्हीं सिद्धांतों को नए रूप में प्रस्तुत किया। विशेष करके उनके अनुकरण सिद्धांत को। अनुकरण के साथ-साथ अरस्तू ने विरेचन सिद्धांत एवं काव्य-विषयक कुछ अन्य बातें भी प्रतिपादित कीं।

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप महान विचारक अरस्तू के काव्य संबंधी विचारों की प्रासंगिकता एवं उनके महत्त्व को समझ सकेंगे।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ कर आप जानेंगे कि:

अरस्तू कौन था और उसने क्या कार्य किए ?

अरस्तू के काव्य सिद्धांत क्या थे ?

प्लेटो और अरस्तू के सिद्धांतों में क्या अंतर है ?

पश्चिमी आलोचना में अरस्तू का क्या स्थान है ?

10.3 अरस्तू और उनका काव्यशास्त्र

इस भाग में हम अरस्तू के जीवन तथा कार्यों के विषय में संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे।

10.3.1 अरस्तू (384 ई0पू0 से 323 ई0पू0)

अरस्तू का जन्म ईसा पूर्व 384 में उत्तरी यूनान के मैसीडोनिया प्रायद्वीप में हुआ था। वे पाश्चात्य दर्शन के व्यवस्थित चिंतन के प्रथम प्रवर्तक, यथार्थवादी, दार्शनिक तथा व्यापक ज्ञान के विश्वकोश माने जाते हैं। इनके पिता 'निकौमैक्स' मैसीडोनिया के राजा सिकंदर महान के पितामह के राज चिकित्सक थे। चिकित्सक पिता के पुत्र होने के कारण अरस्तू 200 वर्ष पूर्व से प्रचलित चिकित्सा विज्ञान के जन्मजात उत्तराधिकारी बने।

पिता की मृत्यु के पश्चात् 17 वर्ष की उम्र में अरस्तू को एथेंस स्थित प्लेटो की अकादमी में भेजा गया; जहाँ उन्होंने 20 वर्ष तक प्लेटो के संपर्क में रहकर विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त किया। आगे चलकर सुकरात, प्लेटो और अरस्तू पाश्चात्य चिंतनधारा की तीन पीढ़ियों के महान विचारकों के रूप में विख्यात हुए। अरस्तू का लालन-पालन, संपन्न, सुसंस्कृत तथा अभिजात वातावरण में हुआ था। उनकी मेधा विस्मयजनक थी। गुरु (प्लेटो) तथा शिष्य (अरस्तू) अलौकिक बौद्धिक प्रतिभा के धनी थे। उनमें किसी भी विषय पर खूब वाद-विवाद होता था। 347 ई0पू0 में प्लेटो की मृत्यु के समय अरस्तू की उम्र 37 वर्ष थी। प्लेटो के सबसे प्रिय शिष्य तथा सबसे योग्य विद्वान होने के कारण उन्हें विद्यापीठ का आचार्य पद प्राप्त होने की आशा थी, परंतु अलग राज्य के होने के कारण ऐसा न हो सका। इससे अरस्तू को ठेस लगी। कुछ वर्ष एशिया माइनर में रहने के बाद वे अपने राज्य मकदूनिया चले गए। दोनों राज्यों के राजाओं से उन्हें प्रचुर धन प्राप्त हुआ; जिसे उन्होंने वैज्ञानिक अनुसंधानों में लगाया। उनके एक हजार सहायक विभिन्न स्थानों पर जाकर उनके अनुसंधानों के लिए सामग्री संकलन करते थे। मकदूनिया के राजा 'फिलिप' ने अपने पुत्र सिकंदर (महान) की शिक्षा का भार अरस्तू को सौंपा। अरस्तू में अनुसंधान के साथ-साथ अध्यापन की पिपासा भी थी, इसलिए सिकंदर के सिंहासनारूढ़ होने और विश्व-विजय-अभियानों में लगने के बाद वे पुनः एथेंस चले गए। एथेंस उस समय का सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक शैक्षिक केंद्र माना जाता था। वहाँ एक स्वतंत्र विद्यापीठ की स्थापना करके वे अपने छात्रों को विभिन्न विषयों की शिक्षा देने लगे। पूर्वाह्न में अध्यापन करते तथा अपराह्न में आम नागरिकों के बीच लोकप्रिय भाषण देते थे। 322 ई0पू0 में अरस्तू की मृत्यु हुई।

10.3.2 अरस्तू का काव्य शास्त्र

अरस्तू के ज्ञान के विषय में प्रसिद्ध है कि उनका जितना अधिकार दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र, भाषणशास्त्र आदि पर था, उतना ही भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, मौसम-विज्ञान तथा मनोविज्ञान आदि पर भी था। उनके ग्रंथों की कुल संख्या चार सौ बताई जाती है, किंतु वे सभी उपलब्ध नहीं होते। उनके काव्यशास्त्र का यूनानी नाम 'पेरिपोइतिकेस' है; जो अंग्रेजी में अब 'पोइटिक्स' के नाम से प्रसिद्ध है। एथेंस के राजनैतिक पतन के बाद वहाँ के विद्यापीठों का महत्व भी क्षीण हो गया और ज्ञान, विज्ञान, कला आदि की कृतियाँ उपेक्षा के कारण या तो विनष्ट हो गईं अथवा विस्मृत हो गईं। कई शताब्दियों बाद कुछ कृतियों का उद्धार हुआ। संयोग से 1000 वर्षों के बाद 'पेरिपोइतिकेस' (पोइटिक्स) भी विद्वानों को उपलब्ध हो पाया। अब अंग्रेजी में इसके अनके अनुवाद और व्याख्याएं उपलब्ध हैं, जिनमें एस0एच0 बूचर (1894 ई0) तथा इन ग्रैम वाइकर (1898 ई0) के अनुवाद अधिक प्रामाणिक एवं प्रसिद्ध हैं।

'पेरिपोइतिकेस' (पोइटिक्स) लगभग पचास पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक है; जिसमें छब्बीस अध्याय हैं। पुस्तक की आकृति तथा विषयों की संक्षिप्त विवेचन पद्धति से ऐसा प्रतीत होता है कि यह अरस्तू द्वारा अध्यापन हेतु तैयार किए गए अथवा उनके छात्रों द्वारा लिखे गए 'नोट' हैं। इस

संक्षिप्त, अपूर्ण और खंडित कृति में भी कुछ ऐसी विशेषता है कि यह आज तक उपजीव्य बना हुआ है।

अरस्तू मूलतः वैज्ञानिक, तार्किक तथा दार्शनिक थे, इसलिए वे हमेशा विश्लेषण और युक्तियों के साथ विषय निरूपण करते थे। वे पहले विषय-वस्तु का तटस्थ दृष्टि से सम्यक् निरीक्षण-परीक्षण करते हैं, उसके बाद विवेचन और निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। उनकी मान्यता है कि किसी वस्तु को ठीक से समझने के लिए उसके प्रयोजन, उपादान कारण, निमित्त कारण तथा तत्व; इन चार बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। बिना प्रयोजन के किसी भी वस्तु का निर्माण नहीं होता। प्रयोजन पूरा करने के लिए उसके उपादान कारण अर्थात् साधन की आवश्यकता पड़ती है। उपादान से प्रयोजन सिद्धि हेतु उसके निष्पादक अर्थात् निमित्त कारण की आवश्यकता होती है और निष्पादक को उस वस्तु के तत्व का ज्ञान होना आवश्यक है। तत्व में उस वस्तु के समस्त लक्षण समाहित हैं। इसे वे घड़े के उदाहरण से समझाते हैं। जल रखने के प्रयोजन हेतु घड़े की आवश्यकता होती है। घड़े के प्रयोजन के ज्ञान के साथ ही मिट्टी रूपी उपादान की आवश्यकता पड़ती है। उसके बाद घड़ा बनाने वाले चाक तथा कुम्हार आदि निष्पादक अथवा निमित्त कारण भी जरूरी होते हैं। इसके साथ ही घड़े के तत्व का ज्ञान भी आवश्यक है। तत्व में वे सब बातें आ जाती हैं; जिसके कारण घड़ा 'घड़ा' बनता है। इस तत्व का ज्ञान कुम्हार से लेकर घड़ा खरीदने तथा उपयोग में लेने वाले तक सबके लिए आवश्यक है। इन चारों तत्वों के सम्यक् ज्ञान के बिना घड़े का सम्यक् विवेचन संभव नहीं है। यही मानदंड अरस्तू काव्यशास्त्र पर भी लागू करते हैं। उन्होंने काव्य को प्रयोजन, उपादान, निमित्त और तत्व-निरूपण के रूप में व्याख्यायित किया है।

काव्यशास्त्र की रचना के मूल में अरस्तू के दो उद्देश्य रहे हैं: पहला अपनी दृष्टि से यूनानी काव्य का वस्तुगत विवेचन-विश्लेषण तथा दूसरा अपने गुरु प्लेटो द्वारा काव्य पर लगाए गए आक्षेपों का समाधान। लेकिन इस प्रसंग में अरस्तू ने न तो कहीं प्लेटो का नाम लिया है और न खण्डनात्मक त्वर अपनाया है तथा न ही गुरु के विचारों से अपने विचारों की तुलना करते हुए अपने विचारों को श्रेष्ठ सिद्ध करने की कोशिश की है। इसमें उनकी शालीनता प्रदर्शित होती है।

10.3.3 अरस्तू की काव्य विषयक मान्यताएं

काव्यशास्त्र का आरंभ करते हुए अरस्तू कहते हैं: “काव्य के सामान्य शीर्षक के अंतर्गत केवल काव्य पर ही नहीं; बल्कि काव्य के विविध भेदों, उनके विशिष्ट प्रयोजनों, कथानक की संरचना, उनके घटक खण्डों की संख्या, प्रकृति या इनसे संबंधित अन्य विषयों पर भी मैं विचार करना चाहता हूँ।” अरस्तू ने कलाओं के तीन भेदक तत्व माने हैं: माध्यम, विषय और पद्धति। माध्यम के रूप में अरस्तू काव्य के लिए छंदों को अनिवार्य नहीं मानते। कोई रचना गद्य में है या पद्य में, यह प्रश्न काव्यत्व के विचार के प्रसंग में महत्वहीन है। देखना यह है कि काव्य का प्रयोजन क्या है। यदि प्रयोजन आनंद है तो वह काव्य है और यदि प्रयोजन सूचना या ज्ञान मात्र है तो वह अकाव्य

है। इसे हम भारत के संस्कृत ग्रंथों के उदाहरण से समझ सकते हैं। संस्कृत में आयुर्वेद, ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि ग्रंथों की रचना पद्य में हुई है, लेकिन वे काव्य नहीं माने जाते और बाणभट्ट, दण्डी आदि की गद्य रचनाएं भी काव्य मानी जाती हैं, क्योंकि उनका उद्देश्य आनंद है, सूचना या ज्ञान नहीं।

अनुकरण का विषय मनुष्य है। अरस्तू की दृष्टि में अनुकरण का विषय कर्मरत मनुष्य (मैन इन एक्शन) है। मनुष्य तीन प्रकार के हो सकते हैं; उच्चतर, निम्नतर या बीच के। इसलिए मनुष्य का चित्रण भी तीन प्रकार का हो सकता है: श्रेष्ठतर, निम्नतर अथवा यथावत। श्रेष्ठतर मनुष्यों का चित्रण ट्रेजेडी (दुःखात्मक) रचनाओं में होता है और निम्नतर का कॉमेडी (प्रहसन) में। इस प्रकार ट्रेजेडी और कॉमेडी का भेद उनमें चित्रित मनुष्यों के आधार पर होता है।

काव्य का तीसरा भेद अनुकरण की पद्धति का है। पद्धति या तो आख्यानात्मक (नैरेटिव) हो सकती है; जिसमें कवि स्वयं कथानक का वर्णन करता है, या नाटकीय (ड्रामैटिक); जिसमें पात्रों को कार्य निरत दिखाया जाता है। तीसरी इन दोनों की मिश्रित पद्धति होती है। होमर के महाकाव्यों में इसी पद्धति का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार माध्यम, विषय और पद्धति ये तीन कलाओं के भेदक तत्व हैं।

अरस्तू कृत 'पोइटिक्स' में काव्य के स्वरूप, भेद और अंगों के बारे में व्यवस्थित विचार किया गया है। बाद के युगों में इसी की अवधारणाओं के आधार पर पश्चिमी देशों में काव्य तथा नाटक विषयक चिंतन का विकास हुआ। काव्यशास्त्र पर व्यवस्थित रूप से विचार करने वाली यह विश्व की प्रथम पुस्तक है।

'पोइटिक्स' के दो भाग हैं। पहले भाग में नाटक (ट्रेजेडी) तथा महाकाव्य (एपिक) पर विचार हुआ है और दूसरे में सुखांत (कॉमेडी) एवं काव्य के अन्य भेदों पर विचार हुआ है। दूसरा भाग अब उपलब्ध नहीं है। अरस्तू की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्ध पुस्तक 'रैटोरिक' है। यह अलंकार और वक्तृत्व कला पर अरस्तू द्वारा दिए गए भाषणों का संकलन है। इसमें काव्य-कला का विवेचन नहीं है।

बोध प्रश्न -

1. अरस्तू ने कलाओं के कितने भेद माने हैं?
2. वस्तु या रचना को ठीक से समझने के लिए अरस्तू किन चार बातों को आवश्यक समझते हैं?
3. अरस्तू के काव्यशास्त्र की रचना के मूल में कौन से दो प्रमुख उद्देश्य थे?

4. निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति करें:

अरस्तू का जन्म ई०पू०.....में हुआ था।

अरस्तू की काव्यशास्त्र विषयक पुस्तक का नाम.....है।

अरस्तू के गुरु.....और शिष्य.....थे।

10.4 अरस्तू के काव्य सिद्धांत

अरस्तू ने काव्य के विषय में बहुत-सी बातें कहीं हैं, परंतु उनके प्रमुख काव्य-सिद्धांत दो हैं: अनुकरण सिद्धांत तथा 2. विरेचन सिद्धांत। इस भाग में हम उन्हीं सिद्धांतों के बारे में पढ़ेंगे।

10.4.1 अनुकरण सिद्धांत

इकाई 2 में हमने देखा कि अरस्तू के गुरु तथा पूर्ववर्ती आचार्य प्लेटो कला और अनुकरण का घनिष्ठ संबंध मानते हैं, किंतु अनुकरण में निहित खतरों-अज्ञान, भ्रान्ति, असावधानी तथा उससे प्राप्त उत्तेजना के कारण उसे त्याज्य मानते हैं। वे ऐसा इसलिए भी मानते हैं कि उन्होंने कला को विशुद्ध दार्शनिक, राजनीतिक तथा नैतिकता की दृष्टि से देखा। इसके विपरीत अरस्तू ने काव्य को दार्शनिक, राजनीतिक, बौद्धिक शास्त्रों आदि से मुक्त करके प्रत्येक कलाकृति को सौंदर्य की वस्तु माना। उन्होंने प्लेटो द्वारा प्रयुक्त मिसैसिस (अनुकरण) शब्द को स्वीकार तो किया, लेकिन उसे नया अर्थ दिया। अरस्तू कला को प्रकृति की अनुकृति मानते हुए कहता है कि कविता सामान्यतः मानवीय प्रकृति की दो सहज प्रवृत्तियों से उद्भूत हुई जान पड़ती है। इनमें से एक है- अनुकरण की प्रवृत्ति और दूसरी सामंजस्य (हारमनी) तथा लय (रिदम) की प्रवृत्ति।

पशुओं की तुलना में मनुष्य में अनुकरण की क्षमता अधिक होती है। इसी से वह प्रारंभिक ज्ञान अर्जित करता है; जैसे भाषा सीखना। काव्य की उत्पत्ति इन्हीं दो कारणों से होती है। कला प्रकृति का अनुकरण करती है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'पोइटिक्स' में लिखा है: "प्रत्येक वस्तु पूर्ण विकसित होने पर जो होती है उसे ही हम उसकी प्रकृति कहते हैं। प्रकृति इसी आदर्श रूप की उपलब्धि की ओर निरंतर कार्य करती रहती है, परंतु कतिपय कारणों से वह अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो पाती। कवि या कलाकार उन अवरोधक कारणों को हटाकर प्रकृति की सर्जन क्रिया का अनुकरण करता हुआ प्रकृति के अधूरे कार्य को पूरा करता है। वह वस्तु को ऐसा रूप प्रदान करता है कि उससे उस वस्तु के विश्वव्यापक तथा आदर्श रूप का बोध हो जाए। इस संबंध में एवर क्रोम्बे ने लिखा है कि- "अरस्तू का तर्क था कि यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती तो वह हमें उससे कुछ अधिक नहीं दे सकती थी, जो प्रकृति देती है। परंतु तथ्य यह है कि हम कविता

का आस्वादन इसलिए करते हैं कि वह हमें वह प्रदान करती है जो प्रकृति नहीं दे सकती।” वस्तुतः कवि की कल्पना में वस्तु जगत का जो वस्तु रूप प्रस्तुत होता है, कवि उसी को भाषा में प्रस्तुत करता है। यह पुनः प्रस्तुतीकरण ही अनुकरण है। इसलिए अनुकरण का अर्थ हूबहू नकल नहीं; बल्कि संवेदना, अनुभूति, कल्पना, आदर्श आदि के प्रयोग द्वारा अपूर्ण को पूर्ण बनाना है। कवि सर्जन प्रक्रिया में निरत होकर यही करता है।

अनुकरण की वस्तुएं - अरस्तू के अनुसार कवि तीन प्रकार की वस्तुओं में से किसी एक का अनुकरण कर सकता है, - 1. जैसी वे थीं या हैं, 2. जैसी वे कही या समझी जाती हैं तथा 3. जैसी वे होनी चाहिए। अर्थात् वे प्रकृति के प्रतीयमान, सम्भाव्य एवं आदर्श रूप को मानते हैं। कवि प्रकृति को या तो वैसी चित्रित करता है जैसी वह उसकी इन्द्रियों को प्रतीत होती है या जैसी वह भविष्य में प्रतीत हो सकती है अथवा जैसी वह होनी चाहिए। ऐसे चित्रण में कवि की भावना और कल्पना का योगदान तो होगा ही, इसीलिए वह नकल मात्र नहीं होगा। इस प्रकार अरस्तू के अनुकरण का तात्पर्य भावनामय तथा कल्याणमय अनुकरण है, विशुद्ध प्रतिकृति नहीं। इसी कारण वह अपने गुरु प्लेटो से भिन्न भी है और आगे भी। अरस्तू के मतानुसार कविता इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक एवं उच्चतर है, क्योंकि इतिहासकार उसका वर्णन करता है; जो घटित हो चुका है और कवि उसका वर्णन करता है; जो घटित हो सकता है। काव्य और इतिहास संबंधी अरस्तू के विवेचन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि अनुकरण से अरस्तू का अभिप्राय भावपरक अनुकरण से था; न कि यथार्थ वस्तुपरक प्रत्यंकन से।

कार्य से अभिप्राय- कार्य शब्द का प्रयोग अरस्तू ने मानव जीवन के चित्र के अर्थ में किया है। इस शब्द के अंतर्गत वह सब कुछ आएगा; जो मानव जीवन के आंतरिक पक्ष को व्यक्त कर सके एवं बुद्धि सम्मत व्यक्तित्व का उद्घाटन करे। कार्य का अर्थ केवल मनुष्य के कर्म ही नहीं; उसके विचार, भाव तथा चारित्रिक गुण भी हैं; जो उसके कर्म के लिए उत्तरदायी हैं। ‘कार्य’ शब्द के इस व्यापक अर्थ से भी यही व्यक्त होता है कि अनुकरण शब्द का अर्थ नकल नहीं; बल्कि पुनः प्रस्तुत करना है। अरस्तू काव्य में प्रकृति के अंधानुकरण के विरुद्ध थे, क्योंकि उसमें मनुष्य या प्रकृति का चित्रण सामान्य से अच्छा भी हो सकता है, और सामान्य से बुरा भी। ऐसे चित्रण के लिए कल्पना तत्व आवश्यक है। अतः कलात्मक अनुकरण का अभिप्राय कलात्मक पुनः सृजन है, जिसमें कुछ चीजें घटाई जाती हैं, तो कुछ बढ़ाई भी जा सकती हैं। इसी प्रक्रिया के कारण काव्य आनंद भी देता है।

आनंद संबंधी मत - अरस्तू ने लिखा है कि कई बार जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष दर्शन हमें दुःख देता है, उसके अनुकरण द्वारा प्रस्तुत रूप हमें आनंद प्रदान करता है। डरावने जानवर को देखकर हमें भय एवं दुःख होता है, किंतु उनका अनुकृत रूप हमें आनंद देता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो चीजें वास्तविक जीवन में हमें भय या दुःख देती हैं, काव्य में उन्हीं चीजों का अनुकरण इस प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है कि उनसे हमें आनंद मिलने लगता है और भय तथा दुःख का निराकरण हो

जाता है। अतः ऐसे अनुकरण को यथार्थ वस्तुपरक अनुकरण नहीं कहा जा सकता, वह भावात्मक एवं कल्पनात्मक अनुकरण है। अरस्तू के इस मत में तथा भारतीय काव्यशास्त्र के रस सिद्धांत में समानता दिखाई देती है। अरस्तू कहता है कि अनुकरण में आत्म तत्व का प्रकाशन अनिवार्य है, वह मात्र वस्तु का यथार्थ अंकन ही नहीं है। यथार्थ अंकन से वास्तविक आनंद की अनुभूति नहीं हो सकती।

अनुकरण के संबंध में अरस्तू के विविध कथनों को पढ़कर आप समझ गए होंगे कि काव्य में भावनापूर्ण अनुकरण होता है, यथार्थ प्रत्यंकन नहीं। यह अनुकरण सुंदर होता है, आनंद प्रदान करने वाला होता है, आदर्श होता है तथा सहृदय के मन को उसकी वास्तविकता के प्रति आश्चर्य भी करता है। व्यष्टि से संबद्ध होते हुए भी वह समष्टिगत सत्य का प्रतिपादन करता है। यही मान्यताएं अरस्तू को प्लेटो से भिन्न तथा महत्वपूर्ण बना देती हैं। उनके इस मत का समर्थन बूचर, प्रो0 गिलबर्ट, मरे तथा आधुनिक टीकाकार पादर्स ने भी किया है। आप सोच रहे होंगे कि अरस्तू का यह सिद्धांत पूर्णतः निर्दोष है, किंतु ऐसा भी नहीं है।

अनुकरण सिद्धांत की विशेषताएं तथा सीमाएं

अरस्तू ने अनुकरण को नया अर्थ देकर कला का स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित किया। सुंदर को शिव से अधिक विस्तृत माना और कला पर प्लेटो द्वारा लगाए गए आरोपों को अनुचित बताया, फिर भी उनका अनुकरण सिद्धांत पूर्णतः रूप से निर्दोष भी नहीं है। विद्वानों द्वारा उन पर उठाई गई आपत्तियाँ इस प्रकार हैं,-

1. वह आत्म तत्त्व तथा कल्पना तत्त्व को स्वीकार करते हुए भी व्यक्ति परक भाव तत्त्व से अधिक महत्व वस्तु तत्त्व को देता है; जो अनुचित है, क्योंकि भाव तत्त्व के बिना कविता कविता न रहकर नीतिपरक अथवा उपदेशपरक प्रलाप बनकर रह जाती है।
2. उसकी परिधि संकुचित है। उसमें कवि की अन्तश्चेतना को यथोचित महत्व नहीं दिया गया है।
3. गीति काव्य; जिसकी मात्रा आज विश्व में सबसे अधिक है; उसे अरस्तू ने महत्व नहीं दिया।

इस पर भी अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत का महत्व आज तक बना हुआ है। प्लेटो अनुकरण को आदर्श का अनुकरण मानता था, तो अरस्तू ने उसे कल्पनात्मक पुनर्निर्माण के रूप में व्याख्यायित किया।

10.4.2 विरेचन सिद्धांत

आपको बता दें कि अरस्तू ने विरेचन की अलग से कोई व्याख्या अथवा परिभाषा किसी ग्रंथ में नहीं दी है। सिर्फ 'पोइटिक्स' में ट्रेजेडी (त्रासदी) की परिभाषा देते हुए उन्होंने इसका उल्लेख

इस प्रकार किया है: “त्रासदी किसी गंभीर स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के अलंकारों से भूषित भाषा होती है, जो समाख्यान रूप न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है और जिससे करूणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।”

स्पष्ट है कि त्रासदी के मूल भाव त्रास और करूणा होते हैं। उन भावों को उद्बुद्ध करके विरेचन पद्धति से मानव-मन का परिष्कार करना त्रासदी का मुख्य उद्देश्य होता है। विरेचन शब्द का दूसरा प्रयोग उनके ‘राजनीति’ नामक ग्रंथ में मिलता है। वे लिखते हैं: “संगीत का अध्ययन एक नहीं; वरन् अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए जैसे-

1. शिक्षा के लिए, 2. विरेचन शुद्धि के लिए।

विरेचन राग मानव समाज को निर्दोष आनंद प्रदान करते हैं। विरेचन से अरस्तू का अभिप्राय शुद्धि, परिष्कार और मानसिक स्वास्थ्य से है।

विरेचन का अर्थ - अरस्तू ने विरेचन के लिए ‘कैथार्सिस’ शब्द का प्रयोग किया है। इसका अनुवाद ‘रेचन’, ‘विरेचन’ तथा ‘परिष्करण’ होते हुए भी ‘विरेचन’ शब्द ही अधिक प्रचलित है। ‘कैथार्सिस’ शब्द यूनानी चिकित्सा-पद्धति से आया है तथा ‘विरेचन’ शब्द भारतीय आयुर्वेदिक शास्त्र का है। इन दोनों का एक ही अर्थ है: रेचक औषधियों द्वारा शरीर के मल अथवा अनावश्यक अस्वास्थ्यकर पदार्थों (फौरिन मैटर) को शरीर से बाहर निकालना। अरस्तू ने वैद्यक शास्त्र के इस शब्द को ग्रहण करके काव्यशास्त्र में उसका लाक्षणिक प्रयोग किया। उसका मत है कि त्रासदी करूणा तथा त्रास के कृत्रिम उद्वेग द्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करूणा और त्रास भावनाओं का निस्काषण करती है। यह निस्काषण ही ‘विरेचन’ या उसका कार्य है। परवर्ती व्याख्याकारों ने लक्षणों के आधार पर विरेचन के तीन अर्थ किए; (1) धर्म परक, (2) नीति परक तथा (3) कला परक।

(1) धार्मिक आधार पर इसके लाक्षणिक प्रयोग का अर्थ था: “बाह्य उत्तेजना और अंत में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि तथा शांति। धार्मिक साहित्य एक प्रकार से यही कार्य करता है।

(2) विरेचन सिद्धांत के ‘नीतिपरक’ अर्थ की व्याख्या करते हुए जर्मन विद्वान वारनेज ने लिखा है: “मानव मन में अनेक मनोविकार वासना रूप में स्थित रहते हैं। इनमें करूणा और त्रास नामक मनोवेग मूलतः दुःखद होते हैं। त्रासदी रंगमंच पर त्रास और करूणा से भरे ऐसे दृश्य प्रस्तुत करती है जिनमें ये मनोवेग अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। प्रेक्षक उन दृश्यों को देखते समय जब मानसिक रूप से उन परिस्थितियों के बीच से गुजरता है तो उसके मन में भी त्रास और करूणा के भाव उद्वेलित होते हैं तथा उसके बाद उपशमित भी हो जाते हैं। अतः विरेचन का नीतिपरक अर्थ हुआ- मनोविकारों के उत्तेजन के बाद उद्वेग का शमन और उससे उत्पन्न शक्ति, शांति और विशदता। साहित्य तथा अन्य ललित कलाएं यही प्रतिपादित करती हैं।

(3) अरस्तू के विरेचन सिद्धांत के 'कलापरक' अर्थ की व्याख्या गेटे तथा अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी कवि आलोचकों ने भी की थी। सर्वाधिक आग्रह पूर्वक प्रतिपादन करने वाले प्रोफेसर वूचर हैं। वे कहते हैं कि अरस्तू का विरेचन केवल मनोविज्ञान अथवा नियमशास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर कला सिद्धांत का अभिव्यंजक है। त्रासदी का कर्तव्य कर्म केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है, अपितु उन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है। वूचर चिकित्सा शास्त्रीय अर्थ को ही अरस्तू का एकमात्र आशय नहीं मानते। उनके अनुसार विरेचन का कलापरक अर्थ है- पहले मानसिक संतुलन और बाद में कलात्मक परिष्कार। कला के संबंध में भारतीय रसवादियों की धारणा भी लगभग ऐसी ही है।

समीक्षा - विरेचन के संबंध में अरस्तू की व्याख्याएं अपर्याप्त हैं, इसलिए बाद में अन्य व्याख्याकारों द्वारा दी गई व्याख्याएं उन्हें अभिप्रेत थीं अथवा नहीं; इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। अरस्तू ने 'राजनीति' नामक ग्रंथ में विरेचन द्वारा मानसिक शुद्धि की बात कही है; जो धार्मिक तथा नैतिक शुद्धि की ओर भी संकेत करती है। अरस्तू का विरेचन सिद्धांत अपने ढंग से त्रासदी के आस्वाद की समस्या का समाधान करता है। वूचर की व्याख्या के अनुसार त्रास तथा करुणा दोनों ही कटु भाव हैं। ट्रेजेडी में मानसिक विरेचन की प्रक्रिया द्वारा यह कटुता नष्ट हो जाती है और प्रेक्षक मनःशक्ति का उपयोग करता है। मन की यह स्थिति सुखद होती है।

इस प्रकार अरस्तू ने दो प्रमुख काव्य सिद्धांत दिए; पहला अनुकरण सिद्धांत और दूसरा विरेचन सिद्धांत। इनके साथ ही उसने काव्य की उत्पत्ति ट्रेजेडी और महाकाव्य इत्यादि के विषय में भी कहीं-कहीं अपना मत व्यक्त किया है। उन पर भी दृष्टिपात कर लें तो अच्छा है।

काव्य की उत्पत्ति - अरस्तू के अनुसार मनुष्य में अनुकरण की सहज प्रवृत्ति बचपन से ही होती है। उसी की सहायता से वह प्रारंभिक ज्ञान अर्जित करता है। भाषा भी अनुकरण द्वारा ही सीखी जाती है। पशुओं की तुलना में मनुष्य की अनुकरण क्षमता अधिक प्रबल है।

अनुकरण की भाँति ही सामंजस्य और लय (हारमनी तथा रिद्य) भी मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। मानव सभ्यता के आरंभिक काल से ही मनुष्य सामंजस्य और लयात्मक प्रतिभा को विकसित करता रहा। प्रारंभिक काल की अनगढ़ रचनाओं से ही आगे जाकर काव्य की उत्पत्ति हुई। बाद के युगों में कवियों के व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार साहित्य दो दिशाओं में विभक्त हो गया। गंभीर प्रकृति के लेखकों ने मनुष्य के उदात्त कार्य कलापों का अनुकरण कर देव-स्तुतियाँ एवं प्रसिद्ध जनों की प्रशस्तियाँ लिखीं तथा हल्की प्रकृति के लेखकों ने निम्न व्यक्तियों के कार्य कलापों का अनुसरण करके व्यंग्य काव्य लिखे।

ट्रेजेडी (त्रासदी) के तत्व - अरस्तू ने ट्रेजेडी के छः तत्व माने हैं: कथावस्तु, चारित्र्य, पदरचना, विचार तत्व, दृश्य विधान और गीत अरस्तू की दृष्टि वस्तुपरक थी। कथावस्तु को उसने सबसे

महत्वपूर्ण तत्व माना है, क्योंकि अन्य सभी तत्व कथावस्तु पर ही आधारित होते हैं। चरित्र के अंतर्गत वे पात्रों के गुणों, उनकी रुचि-अरुचि तथा नैतिक प्रयोजन को अनिवार्य मानते हैं। विचार-तत्त्व के अंतर्गत काव्य-द्वारा उत्पन्न प्रत्येक प्रभाव आता है।

शैली- पदरचना, दृश्य विधान और गीत शैली के अंतर्गत आते हैं। शैली की पूर्णतः इसमें है कि वह निम्न हुए बिना स्पष्ट हो। स्पष्टता प्रचलित या उपयुक्त शब्दों के प्रयोग से आती है और गरिमा असामान्य शब्दों के प्रयोग से। गरिमा का प्रमाण लक्षणा है।

महाकाव्य- अरस्तू ने महाकाव्य के लक्षण नहीं बताए हैं तथा इसका विस्तृत विरेचन भी नहीं किया है। केवल स्थूल विशेषताओं का उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि अरस्तू ट्रेजेडी (दुःखान्तक नाटक) की तुलना में अन्य सभी काव्य-स्वरूपों; यहाँ तक कि महाकाव्य को भी निम्न समझते हैं। उनके द्वारा निर्धारित किए गए महाकाव्य के तत्व इस प्रकार हैं:

1. महाकाव्य आख्यानात्मक होता है।
2. उसके कथानक का निर्माण नाट्य सिद्धांतों के आधार पर ही होता है।
3. अधिकतर पात्र उच्च होते हैं।
4. उसमें एक ही छंद प्रयुक्त होता है।
5. विस्तार निर्बन्ध होता है।
6. अंगों की परस्पर अन्विति सभी प्रकार से समान होती है।

काव्य दोष - अरस्तू ने काव्य-दोषों के पाँच आधार माने हैं;- 1. अकर्मक वर्णन, 2. अभुक्त वर्णन, 3. अनैतिक वर्णन, 4. विरुद्ध वर्णन, 5. शिल्प विधात्मक वर्णन।

अरस्तू के काव्यशास्त्र में प्रयुक्त महत्वपूर्ण लाक्षणिक शब्द - अरस्तू ने कुछ शब्दों का लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक प्रयोग भी किया है; जैसे 'अनुकरण', 'विरेचन' तथा 'प्रकृति'। ये शब्द अरस्तू की काव्य मीमांसा समझने के लिए कुंजी का काम करते हैं। 'अनुकरण' तथा 'विरेचन' की चर्चा पिछले पृष्ठों में हो चुकी है। 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग अरस्तू ने अनेक अर्थों में किया है। उनके प्रयोगों में प्रकृति का अर्थ केवल वन, वृक्ष, नदी, पर्वत, पहाड़ आदि ही नहीं है; वरन् भौतिकी के आधार पर प्रकृति के अनेक अर्थ किए जा सकते हैं।

बोध प्रश्न

5. प्रस्तुत वाक्य में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

अनुकरण का ग्रीक नाम.....है।

इतिहासकार उसका वर्णन करता है; जो.....और कवि उसका वर्णन करता है;
जो.....

काव्य में प्रकृति का हूबहू अनुकरण नहीं होता; बल्कि.....होता है।

6. अनुकरण के विषय में पाँच वाक्यों में प्लेटो और अरस्तू के मतों का अंतर बताइए।

10.5 प्लेटो और अरस्तू की तुलनात्मक समीक्षा

हमने देखा कि प्लेटो और अरस्तू दोनों ने काव्य और कलाओं पर गहन चिंतन करके उसके विषय में कुछ सिद्धांत बनाए। दोनों आपस में गुरु-शिष्य तथा एक ही परंपरा के होते हुए भी दोनों की बातों में कई जगह अंतर भी दिखाई देता है। वे समान तथा असमान बिंदु क्या और क्यों हैं; आइए देखते हैं:

10.5.1 तुलना

1. मूलतः प्लेटो दार्शनिक थे और अरस्तू वैज्ञानिक, इसलिए दोनों के दृष्टिकोण में अंतर था। प्लेटो 'प्रत्यय' ज्ञान को ही सत्य मानता था; जबकि अरस्तू वस्तु जगत को भी इतना ही सत्य तथा मीमांस्य समझता था।
2. प्लेटो की दृष्टि आदर्शपरक थी, अरस्तू की यथार्थपरक। अरस्तू ने विज्ञान की भाँति ही कला के उपादानों का भी विश्लेषण किया।
3. प्लेटो मानता था कि सुंदरतम कार्य प्रकृति द्वारा निष्पादित होते हैं, और कला द्वारा निष्पादित कार्य लघुतर होते हैं। अरस्तू ने सिद्ध किया कि जो कार्य प्रकृति द्वारा अनिष्पादित रह जाते हैं, कला उन्हें पूर्ण करती है।
4. प्लेटो राजनीतिक एवं नीतिपरक मूल्यों से प्रभावित होकर कला के विषय में विचार करते हैं; जबकि अरस्तू काव्यशास्त्र की सीमा में ही उस पर विचार करते हैं।
5. प्लेटो ने अनुकरण का संबंध वस्तु से जोड़ा था; अरस्तू ने कार्य व्यापार से जोड़ा।
6. प्लेटो ने कवि को अनुकर्ता बताया था, अरस्तू ने कवि को 'कर्ता' सिद्ध किया।
7. प्लेटो में मताग्रह तथा येनकेन प्रकारेण अपनी बात को प्रमाणित करने की चातुरी थी, अरस्तू में हठधर्मिता नहीं थी। वे निरपेक्ष भाव से अपनी बात रख देते थे।

10.5.2 महत्त्व एवं प्रासंगिकता

1. अरस्तू की 'पोइटिक्स' रचना पर जितना विचार विमर्श हुआ, उतना पिछले 2300 वर्षों में संसार की किसी साहित्यिक कृति पर नहीं हुआ। यह अपूर्णप्रायः अति लघु रचना इतने वर्षों के बाद आज तक जीवित ही नहीं; प्रासंगिक भी बनी हुई है।
2. अरस्तू का 'काव्यशास्त्र' प्राचीन ग्रीक काव्य पर आधारित होते हुए भी सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक सौंदर्यशास्त्रीय प्रश्नों को उठाने तथा कुछ सीमा तक उनका समाधान करने में भी सफल हुआ है।
3. दार्शनिक की तत्वदर्शिता और वैज्ञानिक की विश्लेषण प्रक्रिया के योग ने अरस्तू की दृष्टि को निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ रखा है। उनका विषय निरूपण तथ्यानुसंधान की भावना से प्रेरित है।
4. अरस्तू की सबसे बड़ी देन काव्य की स्वायत्तता स्थापित करना है। चौथी-पाँचवीं सदी ई०पू० यूनान की शास्त्रीय गतिविधियों में दर्शन की महत्ता सबसे अधिक थी। उसके बाद क्रमशः इतिहास, राजनीतिशास्त्र तथा आधारशास्त्र आदि थे। काव्य को इनमें कोई महत्त्व प्राप्त नहीं था। प्लेटो जैसे प्रभावशाली आचार्य की स्थापनाओं के विपरीत काव्य को इतिहास से अधिक दार्शनिक घोषित करना बहुत बड़े साहस का काम था। अरस्तू ने तर्कयुक्त प्रभाव से यह संभव कर दिखाया।
5. प्लेटो ने कवि को अनुकर्ता कहकर उसको महत्त्वहीन दिखाने की कोशिश की। सत्यान्वेषण की प्रक्रिया में वह बढ़ई को कवि से ऊपर मानता है, लेकिन अरस्तू ने कहा कवि अनुकर्ता नहीं; वरन् कर्ता है। ईश्वर की तरह कवि भी काव्य जगत का निर्माणकर्ता है। यह दृष्टि भारतीय शास्त्रों की इस दृष्टि के समान है: "अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।"
6. प्लेटो का अनुकरण नकल का पर्याय था; अरस्तू ने अनुकरण को 'आदर्शीकृत प्रतिरूप (आइडियलाइज्ड रिप्रेजेंटेशन) माना और कहा कि कवि जीवन का हूबहू चित्रण (नकल) नहीं करता; बल्कि यथार्थ को रमणीयतर बनाकर प्रस्तुत करता है।
7. आनंद को काव्य और कला का प्रयोजन सिद्ध करके अरस्तू ने उसे नैतिक तथा शैक्षिक घेरे से बाहर निकाला। प्लेटो काव्य को समाज सुधार का साधन मानता था; वहीं अरस्तू आनंद प्राप्ति का माध्यम।
8. आज की रूपवादी (फॉर्मलिस्टिक) आलोचना के यूरोपीय उद्भावक अरस्तू ही हैं। उन्होंने काव्य के विषय के साथ उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम तथा पद्धति पर भी विचार किया और कथानक की संरचना से लेकर काव्य के भाषिक पक्ष तक को अपने विवेचन में समाहित किया।

9. अरस्तू के सूत्रों को पकड़कर बीसवीं शताब्दी ई0 में अमेरिका में दो आलोचना संप्रदाय विकसित हुए, जान क्रो रेन्सम आदि की अमेरिकी नव्य आलोचना (न्यू क्रिटिसिज्म) तथा दूसरी के0जे0एस0क्रेन के नेतृत्व वाली शिकागो स्कूल की आलोचना।

10. अरस्तू की अभिव्यंजना सामान्यतः स्पष्ट, प्रांजल और अर्थ गर्भित है।

11. अरस्तू ने अपनी समीक्षा के आरंभ में सर्वांगीण विवेचन की बात की है, लेकिन उन्होंने केवल दुःखान्तक (ट्रेजेडी) की चर्चा की है। प्रगीत की चर्चा बिल्कुल भी नहीं की। महाकाव्य की चर्चा भी सिर्फ दुःखान्तक की श्रेष्ठता सिद्ध करने प्रसंग में ही की है।

12. अरस्तू के काव्यशास्त्र में काव्य भाषा पर विचार नहीं के बराबर हुआ है। जितना हुआ भी है, उसके आधार पर काव्यालोचन पूर्ण नहीं हो सकता।

बोध प्रश्न

7. निम्नलिखित कथन सत्य हैं या असत्य?

अरस्तू ने विवेचन की परिभाषा अपने किसी ग्रन्थ में नहीं दी। (सत्य/असत्य)

विवेचन या कैथार्सिस शब्द भौतिकशास्त्र से लिया गया है। (सत्य/असत्य)

अरस्तू ने प्रकृति (नेचर) शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है। (सत्य/असत्य)

अरस्तू के अनुसार कवि अनुकर्ता नहीं, कर्ता है। (सत्य/असत्य)

8. विवेचन पद्धति से मानव-मन का परिष्कार किस तरह होता है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

10.6 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके होंगे कि -

- अरस्तू कौन था और उसने क्या कार्य किए .

- अरस्तू के काव्य सिद्धांत क्या थे .
- प्लेटो और अरस्तू के सिद्धांतों में क्या अंतर है .
- पाश्चात्य आलोचना में अरस्तू का महत्त्व एवं उनके विचारों की प्रासंगिकता क्या है

10.7 शब्दावली

उद्देश्य	चित्त की व्याकुलता
उपादान	वह साधन; जिससे कोई सामग्री बने
प्रयोजन	उद्देश्य
निष्पादक	व्यवस्थित और नियमबद्ध रूप से किसी कार्य को पूरा करने वाला
अतिरंजित	बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया
प्रेक्षक	दर्शक
निष्काषण	बाहर निकालना
उद्बुद्ध	जागृत

10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. तीन
2. प्रयोजन, उपादान, निमित्त तथा तत्त्व।
3. अपनी दृष्टि से यूनानी काव्य का वस्तु विवेचन और प्लेटो द्वारा काव्य पर लगाए गए आरोपों का समाधान
4. 384 ई0पू0
पेरिपोइएतिकेस (पोइटिक्स)
(क) प्लेटो

(ख) सिकंदर

5. मिमैसिस

(क) जो घटित हो चुका है। (ख) घटित हो सकता है।

उसका पुनर्प्रस्तुतिकरण

7. सत्य

असत्य

असत्य

सत्य

10.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सौंदर्यशास्त्र की पाश्चात्य परंपरा; नीलकांत; देशभूमि प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र; विजयपाल सिंह; जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
3. साहित्यशास्त्र; रामशरण गुप्ता एवं राजकुमार शर्मा; कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।
4. पश्चिमी आलोचना शास्त्र; लक्ष्मी सागर वाष्णेय; हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

10.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. महान विचारक अरस्तू का सम्पूर्ण जीवन वृत्तांत अपने शब्दों ने लिखिए तथा साहित्य के सन्दर्भ में उनका महत्त्व एवं उनकी प्रासंगिकता को स्पष्ट कीजिए।
2. अरस्तू के अनुकरण एवं विरेचन सिद्धांतों को सविस्तार स्पष्ट कीजिए तथा प्लेटो एवं अरस्तू की निष्पक्ष तुलना कीजिए।

इकाई 11 मैथ्यू आर्नल्ड: परिचय एवं सिद्धान्त

- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 उद्देश्य
- 11.3 पृष्ठभूमि
- 11.4 युगीन परिस्थितियाँ
- 11.5 मैथ्यू आर्नल्ड: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ
- 11.6 मैथ्यू आर्नल्ड के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु
 - 11.6.1 कविता और जीवन
 - 11.6.1 कविता और समाज
- 11.7 मैथ्यू आर्नल्ड का महत्व और प्रासंगिकता
- 11.8 सारांश
- 11.9 शब्दावली
- 11.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 11.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 11.12 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अंतर्गत सम्मिलित है . इस इकाई को पढ़ने से पूर्व आपने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विकास क्रम का अध्ययन किया है . साथ ही साथ आप ने प्राचीन भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्रीय विचारकों एवं काव्य सिद्धांतों का भी अध्ययन किया है . प्रस्तुत इकाई में आप सुप्रसिद्ध काव्यालोचक मैथ्यू आर्नल्ड के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अध्ययन करेंगे पाश्चात्य काव्यशास्त्र में मैथ्यू आर्नल्ड को महान् आधुनिक आलोचक कहा गया है। आधुनिक अंग्रेजी आलोचना का प्रारम्भ मैथ्यू आर्नल्ड से ही माना जाता है। आप पर यूनानी साहित्य-चिन्तन, गेटे के साथ-साथ मिल्टन और फ्रेंच लेखक सेण्ट ब्यूव का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। यूनानी साहित्य में जहाँ संस्कृति, धर्म और दर्शन, शौर्य और वीरता के साथ-साथ उच्च चरित्रों तथा जीवन के उदात्त स्वरूप को महत्ता मिली है वहीं सेण्ट ब्यूव का मानना था कि किसी भी कलाकृति के बिना उस कलाकार के सम्बन्ध में पूरी जानकारी का विवेचन संभव नहीं। गेटे कलात्मक रचना का मूल उस अनुभूति को मानते हैं। इस प्रकार विभिन्न परम्पराओं और समकालीन विचारधाराओं के प्रभाव स्वरूप धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं, सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाओं और नैतिक दृष्टिकोण की समग्रता ही आर्नल्ड के समीक्षा-सम्बन्धी धारणा के निर्माण में सहयोगी रही।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के महान आधुनिक आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड के जीवन तथा उनकी रचनाओं को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों को जान सकेंगे।
2. आधुनिक साहित्य के विकास में मैथ्यू आर्नल्ड के महत्व की सही परख कर सकेंगे।
3. मैथ्यू आर्नल्ड की विषय-वस्तु तथा वैचारिक पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।
4. मैथ्यू आर्नल्ड के युग में परिवर्तित रचना-विधान का प्रमाणिक परीक्षण करते हुए उसकी रचना शक्ति एवं सीमाओं का मूल्यांकन कर सकेंगे।

11.3 पृष्ठभूमि

साहित्य और समाज दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। एक सभ्य समाज की महत्ता समझने के लिए तद्युगीन साहित्य को समझना अत्यंत आवश्यक है। इसी के साथ-साथ मानव मूल्यों और अपेक्षाओं का व तद्जनित सिद्धान्त का सुव्यवस्थित विवेचन भी आवश्यक है। मैथ्यू आर्नल्ड को समझने से

पहले यह समझना जरूरी है कि उनसे पूर्व कौन-कौन से विचारक और विचारधाराएँ आयीं तथा वे किन-किन से प्रभावित हुए। पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्त-चर्चा के क्रम में मूलतः आत्मवादी(सब्जेक्टिव) या प्रत्ययवादी (आइडियलिस्ट) नज़रिये और वस्तुवादी(ऑब्जेक्टिव) या अनुभववादी(एम्पिरिकल) नज़रिये के रूप में हमें दो विरोधी प्रतीत होने वाली दृष्टियाँ मिलती हैं। पाश्चात्य काव्य शास्त्र के विकास का अध्ययन करते हुए एक रोचक तथ्य सामने आता है। वह है, काल के क्रम में एक के बाद एक क्रमशः आत्मवादी विचारधारा और वस्तुवादी विचारधारा का प्राधान्य। यह सही है कि ये प्रवृत्तियाँ सदा स्पष्ट तथा सुनिश्चित नहीं रही हैं किन्तु इनका प्रभाव किसी न किसी रूप में हमेशा दिखाई देता रहा है और आमतौर पर इनका स्वरूप काफी स्पष्ट रहा है।

प्लेटो की दृष्टि जहाँ प्रत्ययवादी है और वे विश्व की सकल वस्तु को विश्व की विराट चेतना के रूप में देखते हैं अर्थात् उनका मानना है कि संसार में हमें जो कुछ भी दृष्टिगत होता है, वह उस अदृश्य प्रत्यय का मूर्त अनुकरण मात्र है जबकि अरस्तू (प्लेटो के शिष्य) का मत प्लेटो से अधिक वैज्ञानिक और व्यवस्थित रूप लिये हुए है। मूल रूप से जीवन दृष्टि का अन्तर लिये अरस्तू का दर्शन अनुभववादी तथा मूर्त है। वे प्लेटो के विपरीत कविता को बाह्य अनुकरण न मानकर मानव की आन्तरिक क्रियाओं, भावनाओं तथा चरित्र का अनुकरण मानते हैं।

अरस्तू के बाद होरेस (सबसे पहले रोमन कवि) की कृति आर्क पोएटिका आई, जिसमें साहित्य के मानकों का उल्लेख मिलता है। होरेस कवि में नैसर्गिक प्रतिभा, दैवीय प्रेरणा की आवश्यकता, काव्य में शास्त्र तथा शिल्प के महत्व पर बल देने के साथ उसकी वस्तु परकता पर भी बल देते थे। होरेस ने काव्यालोचन के क्षेत्र में भाषा सम्बन्धी सिद्धान्त दिया जो साहित्य को उनकी महत्वपूर्ण देन है। इस प्रकार अरस्तू तथा होरेस के सिद्धान्त की चर्चा निरन्तर होती रही, जिसे फ्रांस में कॉनील, रासीन, बुअलो आदि ने अपनाया। आपने मुख्य रूप से नाट्य लेखन के नियमों का प्रतिपादन किया।

इसके पश्चात् लौजाइनस ने उदात्त तत्व का सिद्धान्त दिया। यूनानी कवि अरस्तू की प्रसिद्ध रचना 'पेरि पोइएतिकेस' के बाद 'पेरिडप्सुस' का दूसरा स्थान है। जहाँ लौजाइनस से पूर्व कवि का मुख्य कर्म पाठक और श्रोता को आनन्द प्रदान करना, शिक्षा देना और बात मनवाना था, वहीं लौजाइनस इस बात से असंतुष्ट थे। वे ये महसूस करते थे कि काव्य में इससे भी अधिक कुछ होता है। उनका मानना था कि काव्य के लिए भावोत्कर्ष ही मूल तत्व है तथा काव्य साहित्य का मूल उद्देश्य चरमोल्लास प्रदान करना है, तर्क द्वारा बाध्य करना नहीं। लौजाइनस ने स्वच्छन्दतावाद और अभिव्यंजनावाद दोनों के तत्व विद्यमान थे।

लौजाइनस के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन को वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज ने गति दी। कॉलरिज अंग्रेजी कविता की स्वच्छन्दतावादी धारा के प्रमुख कवि थे। कविता में रहस्यात्मक विषय-वस्तु, अतीन्द्रिय वातावरण और छन्दोबद्ध लय के कारण अंग्रेजी साहित्य में उनका विशेष योगदान है।

इसके इतर अंग्रेजी साहित्य में शास्त्रीय जड़बद्धता के विरुद्ध सुगबुगाहट विलियम वर्ड्सवर्थ के स्वर में भी सुनाई पड़ती है। दोनों कविता की विषय-वस्तु, शैली तथा विचारधारा में स्पष्ट अंतर था परन्तु दोनों कवियों ने ही जड़, गंभीर रीतिबद्ध शास्त्रीयता से पृथक होकर एक नये पहलू का संधान किया, जिसमें लौकिक, आदर्श और शास्त्र की अपेक्षा कवि ने अपने विचार और अनूभूति को सर्वोच्च माना है। आपने 'कविता को भावनाओं का सहज उच्छलन' कहा है। आपकी कविता का उद्देश्य कृत्रिम भाषा-शैली का बहिष्कार करना था तो वहीं कॉलरिज मैलिकता और गाम्भीर्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

आर्नल्ड पर यूनानी साहित्य चिन्तन और गेटे का प्रभाव देखा जाता है। इतना ही नहीं वें मिल्टन और फ्रेंच लेखक सेण्ट ब्यूव से भी प्रभावित हुए। आपने साहित्य को 'जीवन की आलोचना' कहा है। आर्नल्ड लोक-कल्याण को अत्यधिक महत्व देते थे और साहित्य का आदर्श और तथा कसौटी भी लोक मंगल और संस्कृति के विकास को मानते थे। उनका मानना था कि काव्य का उद्देश्य आनन्द न होकर मानव जीवन की पूर्णता का ज्ञान कराना, मानव का आत्मविश्वास और समाज का उत्थान होना चाहिए। आर्नल्ड जहाँ आधुनिक अंग्रेजी समालोचक के रूप में जाने जाते हैं वहीं आप तद्युगीन औद्योगिक विकास और सांस्कृतिक पतन की स्थिति पर अपनी गहन चिन्ता व्यक्त करते दिखाई देते हैं। आपने अपने वर्तमान से असंतुष्ट होकर काव्य को आधुनिकता के नाम पर पुनर्जीवित करने का प्रयास किया, जिसका माध्यम आपने संस्कृति को बनाया तथा कविता और जीवन एवं कविता और समाज के माध्यम से काव्य जगत को जो सिद्धान्त दिया उसे जीवन की आलोचना के नाम से जाना जाता है।

11.4 युगीन परिस्थितियाँ-

माना जाता है कि कवि हो या कलाकार वह अपने देशकाल और परिस्थितियों से प्रभावित ही नहीं होता अपितु उससे नियंत्रित और निर्देशित भी होता है। महान् आधुनिक आलोचक के रूप में विख्यात आर्नल्ड भी इससे अछूते नहीं रहे। औद्योगिक क्रांति की जो लहर इंग्लैण्ड में उठी उसने एक ओर विज्ञान को अकल्पनीय महत्व प्रदान किया; दूसरी ओर धर्म तथा काव्य पर आघात किया। धर्म को लोग अंधविश्वास समझने लगे और विज्ञान से जीवन-पद्धति में ऐसा परिवर्तन आने लगा जिससे भावुकता कुंठित होने लगी। परिणामतः काव्य के प्रति आकर्षण कम होने लगा। चारों ओर कोलाहल जैसा सुनाई पड़ने लगा कि काव्य का युग समाप्त हो गया; अब तो विज्ञान का युग है। टॉमस ने काव्य की निष्प्रयोजनता प्रमाणित करने के लिए एक पुस्तक ही लिख डाली जिसमें उन्होंने कहा कि ज्ञान और तर्क के युग में काव्य केवल बर्बरता का अवशेष है। इसके उत्तर में प्रसिद्ध रोमांटिक कवि शैली को 'दि डिफेंस ऑफ पोइट्री' नामक प्रसिद्ध निबंध लिखना पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही इंग्लैण्ड में काव्य और विज्ञान के आपेक्षिक महत्व का विवाद चल पड़ा था और दोनों ने अपने-अपने पक्ष की स्थापना के लिए युक्तियाँ प्रस्तुत करनी प्रारंभ कर दी थीं। विज्ञान का आक्रमण केवल

काव्य पर ही नहीं हुआ, धर्म पर भी हुआ और संस्कृति के मूलोच्छेद का उपक्रम किया गया। जो लोग काव्य, धर्म एवं संस्कृति के स्थापित मूल्यों के पक्षधर थे उन्होंने विज्ञान के प्रत्याख्यान का बीड़ा उठाया। आर्नल्ड इस श्रेणी के विचारकों में अन्यतम हैं। आर्नल्ड ने धर्म के स्थानापन्न के रूप में संस्कृति को प्रस्तावित करते हुए उसमें कविता की महत्ता को स्थापित किया। आपकी दृष्टि में काव्य संस्कृति का अन्यतम साधन है।

इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के अन्त में विलुप्त हुई आभिजात्यवादी धारा का फिर से उत्थान हुआ जिसके संवाहक का काम मैथ्यू आर्नल्ड ने किया। आपने समकालीन परिवेश के लिए नैतिक दृष्टि से पतनोन्मुख और अराजक समाज के सुधार के लिए संस्कृति और विशेषकर कविता को आवश्यक माना। आपको महसूस हुआ कि अगर समाज से नैतिक-सामाजिक अराजकता को दूर करना है तो आदर्शवादी नियमों एवं जीवन तथा साहित्य दोनों के मूल्यों को व्यवस्थित करना होगा क्योंकि मूल्यों से अनुप्राणित कविता ही सत्य और सौंदर्य के लिए प्रतिबद्ध होती है। इसीलिए आर्नल्ड ने 'कविता जीवन की आलोचना है' माना तथा आलोचक कर्म को गंभीरता से अपनाते हुए एक सच्चे समालोचक का दायित्व संभाला। एक साहित्यकार और समालोचक को युग-चेतना से जोड़कर अभिजात्यवाद को भी नये सिरे से आपने प्रस्तुत किया।

11.5 मैथ्यू आर्नल्ड: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ

महान् आधुनिक आलोचक के रूप में प्रख्यात कवि, निबंधकार मैथ्यू आर्नल्ड का जन्म इंग्लैण्ड के शहर "लैलेहम" में 24 दिसम्बर सन् 1822 में तथा मृत्यु सन् 1888 लिवरपूल में हुई। मैथ्यू आर्नल्ड रग्बी स्कूल के हैडमास्टर तथा विख्यात इतिहासविद् डॉ. टॉमस आर्नल्ड के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा लैलेहम, एबी तथा वैलियम कॉलेज (ऑक्सफोर्ड) में सम्पन्न हुई।

सन् 1844 में स्नातक उपाधि प्राप्त करने के बाद आपने कुछ समय रग्बी में पढ़ाया तथा इसके बाद लैसडाउन के मार्क्विस के निजी सचिव भी रहे। विशेष पुरस्कार से सम्मानित आप सन् 1845 में 'फेलो' भी चुने गए। इतना ही नहीं निरन्तर कार्यरत रहते हुए आपने कुछ समय तक लॉर्ड लैन्सडाउन के प्राइवेट सेक्रेटरी का कार्य भी संभाला। सन् 1857 में आपकी नियुक्ति ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में 'प्रोफेसर ऑफ पोएट्री' के सम्मानित पद के लिए हुई, जहाँ आप न केवल दस वर्ष तक कार्यरत रहे वरन् 1883 तक आप 'इंस्पेक्टर' ऑफ स्कूल भी रहे। मैथ्यू आर्नल्ड के साहित्यिक जीवन का आरंभ काव्य-रचना से हुआ। सन् 1849 में आपका पहला काव्य-संग्रह प्रकाश में आया। इससे पूर्व सन् 1840 और सन् 1843 में अपनी काव्य-कृतियों के लिए आपको पुरस्कार भी मिले। सन् 1853 में प्रकाशित कविता-संग्रह 'पोयम्स बाई मैथ्यू आर्नल्ड' में संकलित 'द डोबर बीच', 'द स्कॉलर जिप्सी' और 'सोहराब एंड रूस्तम' जैसी प्रसिद्ध कविताएँ एक सीमा तक आर्नल्ड के अपने काव्य-सिद्धान्तों का मानक रूप प्रस्तुत करती हैं। कविताओं के अतिरिक्त मैथ्यू आर्नल्ड ने गद्य-

लेखन भी किया। सन् 1865 में आपके आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह 'एसेज इन क्रिटिसिज्म' प्रकाश में आया। इसी के साथ इनकी कुछ महत्वपूर्ण आलोचनात्मक रचनाएँ और भी हैं जैसे- 'कल्चर एंड अनार्की' (1869), 'लिट्रेचर एंड ड्रामा' (1873), 'एसेज ऑन चर्च एंड स्टेट' (1877), 'एसेज इन क्रिटिसिज्म' सीरीज प् एंड सीरीज (1888, मरणोपरांत प्रकाशित) आदि। मैथ्यू आर्नल्ड सन् 1883 में सेवा निवृत्त हुए और अप्रैल सन् 1888 में अंग्रेजी आलोचना की शुरुआत करने वाले इस महान् आलोचक का निधन हो गया। पाश्चात्य साहित्य में आलोचना को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करने वाले शिष्ट, सुसंस्कृत, व्यवहारिक, मृदुभाषी विद्वान मैथ्यू आर्नल्ड साहित्य के आलोचना जगत में महत्वपूर्ण रहेंगे तथा आलोचक वर्ग के लिए सदैव प्रेरणा-स्रोत रहेंगे।

11.6 मैथ्यू आर्नल्ड के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु-

मैथ्यू आर्नल्ड 19 वीं शताब्दी के एक महान् आलाचेक माने जाते हैं। इतना ही नहीं आधुनिक अंग्रेजी आलोचना का शुभारम्भ करने का श्रेय भी मैथ्यू आर्नल्ड को ही जाता है। आप कविता को 'जीवन की आलोचना' कहकर एक विशिष्ट युग बोध को प्रस्तुत करते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड की काव्य दृष्टि जितनी समसामायिक परिस्थितियों से प्रभावित है उतनी ही उस युग के कवियों तथा पूर्व के कवियों की अंतर्दृष्टि से भी प्रेरित है। मैथ्यू आर्नल्ड की धारणा थी कि महान् काव्य के लिए उसकी विषय-वस्तु उदात्त और शैली भव्य होना चाहिए। यूँ तो आप अरस्तू की भाँति ही कला और काव्य की कसौटी प्रकृति के अनुकरण या चित्रण से प्राप्त आनन्द को ही मानते हैं लेकिन इन अवधारणाओं को उन्होंने अपने विचारों एवं सिद्धान्तों के आधार पर व्याख्यायित किया। कला जन्य ज्ञान को ही आनन्द का मूल आधार मानते हुए आपने उक्त विचारों को और अधिक विकसित रूप में प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं- 'हम किसी भी यथार्थ चित्रण के रोचक होने की आशा कर सकते हैं परन्तु यदि वह काव्यात्मक हो तो इससे भी अधिक की माँग की जा सकती है; परन्तु वह मनोरंजन हो इतना ही पर्याप्त नहीं, उससे यह भी अपेक्षा की जाएगी कि वह पाठक को स्फूर्ति और आनन्द दे. . . उसमें मोहकता हो और वह मन को आह्लाद से भर दे।' इस प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड के 'जीवन की आलोचना' सिद्धान्त को मुख्य दो बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है।

1. कविता और जीवन

2. कविता और समाज

11.6.1 कविता और जीवन

मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता का लक्ष्य जीवन की आलोचना माना। वह काव्यगत आलोचना को सामान्य आलोचना से भिन्न रूप में देखते थे तथा मानते थे कि उनकी रचना काव्य-सत्य और काव्य-सौन्दर्य के नियमों से प्रेरित है। सत्य और सौन्दर्य के नियमों के प्रति यही प्रतिबद्धता कविता को वाचिक अभिव्यक्ति के अन्य रूपों से (गद्य से भी) भिन्न करती है, वरना हमारे समग्र साहित्य का-

वह गद्य में हो या पद्य में चरम लक्ष्य जीवन की आलोचना है। काव्य-सत्य से मैथ्यू आर्नल्ड का तात्पर्य विषय-वस्तु की मूल्यवत्ता से है, और सौन्दर्य से उनका अभिप्रायः अभिव्यंजनागत चारुता और लालित्य से है। मैथ्यू आर्नल्ड ने माना कि साहित्यिक प्रतिभा का भव्य कार्य संश्लेषण और अभिव्यक्ति का है विश्लेषण और अन्वेषण का नहीं। उसका प्रदेय बौद्धिक और आध्यात्मिक वातावरण या विचार-क्रम से (जो उसमें प्राप्त होता हो) स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण करने में देखा जा सकता है, जिसकी परिणति उनसे दिव्य और सुन्दर रूप में होती है। आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड कविता से आलोचना का काम लेकर वस्तुतः उसमें विचार पक्ष और उपदेशात्मक वृत्ति पर बल देना चाहते थे। मैथ्यू आर्नल्ड के विचार तंत्र में जीवन नैतिक विचारों का पर्याय है। नैतिक विचारों के विरुद्ध विद्रोह करने वाली कविता वस्तुतः जीवन-द्रोही होती है और नैतिक विचारों के प्रति उदासीन कविता जीवन के प्रति उदासीन होती है। वैचारिक नैतिकता के प्रति इस गहन सरोकार के कारण ही मैथ्यू आर्नल्ड को उपदेशक कहा गया। उनकी आलोचना का आधार बौद्धिकता और विवेक रहा।

मैथ्यू आर्नल्ड जिस युग में रहे वह कहीं न कहीं औद्योगिक क्रांति से प्रभावित रहा। ऐसे में भला युग का साहित्यकार वर्ग कैसे शान्त बैठ सकता है? कैसे वह नैतिकता से दूर रहकर लोकमंगल में सहायक हो सकता है? उनका मानना था कि हम जिस युग में जीवनयापन कर रहे हैं वह किस प्रकार औद्योगिक विकास होने पर भी नैतिक समृद्धि से विमुख होता जा रहा है। अतः वह लोकमंगल के प्रति नैतिक और सामाजिक उत्साह को एक आलोचक के लिए अनिवार्य आवश्यकता मानते थे अर्थात् मैथ्यू आर्नल्ड का मानना था कि उत्तम कविता वह है जैसा हम उसे चाहते हैं। उसमें केवल साधारण मनोरंजन नहीं, वरन् रूप-सर्जना, स्थायित्व और हमें आनन्द प्रदान करने की शक्ति भी होनी चाहिए।

11.6.2 कविता और समाज

मैथ्यू आर्नल्ड 'कविता क्या है?' की अपेक्षा 'कविता क्या करती है?' पर अधिक चिंतन करते थे। शायद इसीलिए कुछ लोगों ने उन्हें 'पैफ्लेटियर' तथा आलोचक की अपेक्षा 'आलोचना का प्रचारक' (इलियट ने) तक कह डाला। व्यापक अर्थ में देखा जाए तो आपकी कविता का मूल उद्देश्य 'संस्कृति का उन्नयन' था। संस्कृति का अर्थ है- मनोगत वस्तुओं की उद्देश्यमुक्त जिज्ञासा अर्थात् ऐसी जिज्ञासा जो स्वयं साध्य हो, किसी अन्य प्रयोजन का साधन नहीं। आलोचना और संस्कृति को अभिन्न अंग मानने वाले मैथ्यू आर्नल्ड आलोचना को निष्पक्षता या निस्संगता का पर्याय मानते हैं। संस्कृति और आलोचना दोनों का लक्ष्य पूर्णता साध्य जिज्ञासा या धर्म निस्संगता है। फलतः मैथ्यू आर्नल्ड साहित्य के आलोचक का कार्य संस्कृति के उस भाग का उन्नयन करना मानता है जो साहित्य पर आश्रित रहते हुए समाज को उन्नत करता है, व दृष्टि प्रदान करता है। मैथ्यू आर्नल्ड की आलोचना का प्रमुख उद्देश्य मध्यवर्ग का रुचि परिष्कार करना है। उन्होंने तद्युगीन समाज के अभिजात वर्ग की बर्बरता और निष्प्रभाव को तो देखा है, साथ ही निम्न वर्ग की स्थिति को भी देखा,

परखा है। ऐसी स्थिति में आशा की किरण उन्हें मध्यवर्ग में ही परिलक्षित हुई है लेकिन वह भी जब तद्युगीन औद्योगिक क्रांति से लब्ध आर्थिक सम्पन्नता में विषय सशक्त और भोगलीन हो गया तो उन्होंने सोचा कि यदि काव्य और उसके साथ संस्कृति को बचाना है तो मध्यवर्ग को सुधारना होगा, उसकी रुचि को परिमार्जित और परिष्कृत करना होगा। देखा जाए तो मैथ्यू आर्नल्ड ने आलोचना पर जनता(समाज) को इस प्रकार व्याख्यायित किया कि आलोचक प्रचारक के रूप में सामने आया तथा उसका कर्तव्य ऐसे वातावरण का निर्माण करना हो गया जो कलाकार या कवि को उत्तेजित कर सके, जनता को सर्वोत्तम लेखन के लिए प्रेरित सके। मैथ्यू की यह आलोचना समाज-सुधार के लिए एक आशा की किरण बन गई।

11.7 मैथ्यू आर्नल्ड का महत्व और प्रासंगिकता

मैथ्यू आर्नल्ड 19वीं शताब्दी के महान् समीक्षक के रूप विख्यात थे। हम मैथ्यू आर्नल्ड का अंग्रेजी साहित्य में वही स्थान मानते हैं जो हिन्दी साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। आप दोनों ने ही मानव जीवन की गहराइयों में उतरकर साहित्य-समीक्षा और समाज को परस्पर प्रगाढ़ रूप में आबद्ध करने वाले सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया। शिक्षा और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में असाधारण माने जाने वाले मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य और उनकी समस्याओं को समाज से आबद्ध किया और 'साहित्य को जीवन की आलोचना कहा'। आपकी विचार धारा लोककल्याण की आदर्श भावना की इतनी प्रबल समर्थक थी कि आपने साहित्य का प्रयोजन आनन्द प्रदान करना नहीं वरन् मानव का आत्म विकास और सामाजिक उत्थान माना। मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्यालोचन में साम्प्रदायिकता और संकीर्णता को जहाँ काव्य और समाज के लिए दुर्गुण माना वहीं ऐतिहासिक तथा साहित्यिक गुणों की स्थापना को आवश्यक माना। आप भौतिकता और यंत्र पूजा के कट्टर विरोधी थे तथा व्यवहारगत क्रूरता तथा कुरूपता के निवारण के लिये साहित्य और संस्कृति में मानवमूल्यों की पुनः स्थापना चाहते थे। इतना ही नहीं आप साहित्य को समाज के धरातल पर धर्म के समकक्ष देखना चाहते थे। जीवन को एक पहेली के रूप में देखने वाले मैथ्यू आर्नल्ड में शुक्ल जी की भाँति महान् प्रतिभा और व्यक्तित्व की विराटता परिलक्षित होती है। आपके साहित्यिक और सामाजिक महत्व को देखा जाये तो आपने जीवन से जुड़े हर पहलू (सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक) पर दृष्टिपात करते हुए साहित्य पर विचार किया। समग्र जीवन पर दृष्टिपात करते हुए जीवन के वास्तविक लक्ष्य को समझकर उसे साहित्य से जोड़ने का प्रयास किया। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उनकी प्रासंगिकता पर विचार करने पर यह तथ्य उभरकर आता है कि मैथ्यू आर्नल्ड की आलोचना केवल काव्य तक ही सीमित नहीं है, उसकी सीमा का विस्तार संस्कृति, धर्म, शिक्षा आदि तक है। शायद इसीलिए उनके सिद्धान्त को जीवन की आलोचना माना जाता है, जिसका सीधा सा अभिप्राय है जीवन के किसी भी पक्ष की उपेक्षा न करना। वैसे तो मैथ्यू आर्नल्ड द्वारा आलोचना का सिद्धान्त परक कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया और न ही उन्होंने कॉलरिज एवं अरस्तू के समान कोई मौलिक उद्भावना दी लेकिन आलोचना की स्वायत्तता स्थापित करने और उसे व्यवस्थित करने का श्रेय उन्हें ही जाएगा। मैथ्यू आर्नल्ड ने न

केवल व्याख्यात्मक और सैद्धान्तिक आलोचना पद्धति की विकास किया वरन् आलोचक के कर्तव्य और आलोचक के प्रतिमानों को भी निर्धारित किया। अरस्तू ने जहाँ आलोचक को कला के परिप्रेक्ष्य में निरूपित किया वहीं आर्नल्ड ने आलोचक को जनता के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। उनकी प्रासंगिकता इस बात से और स्पष्ट हो जाती है कि आर्नल्ड का महत्व एक कवि और समीक्षक के रूप में ही नहीं अपितु एक ऐसे समाजशास्त्री एवं संस्कृतिक चिन्तक के रूप में भी है जिन्होंने कविता, समाज और संस्कृति को एक दूसरे से विच्छिन्न होने से बचाया और तीनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके अपने युग को एक नई दृष्टि और दिशा प्रदान की। इसीलिए वे वर्तमान में तो क्या भविष्य में भी प्रासंगिक बने रहेंगे।

बोध प्रश्न

1. दो-तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए:

मैथ्यू आर्नल्ड अन्य विचारकों से अलग क्यों माने जाते हैं?

.....

मैथ्यू आर्नल्ड की कविता का क्या उद्देश्य था?

.....

मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता को जीवन की आलोचना क्यों कहा है?

.....

2. नीचे दिए गए कथनों में से कुछ सही हैं कुछ गलत। उपर्युक्त चिन्ह लगाकर स्पष्ट कीजिए।

आधुनिक अंग्रेजी आलोचना का प्रारम्भ मैथ्यू आर्नल्ड से ही होता है। ()

मैथ्यू आर्नल्ड 1845 में फैलो चुने गये। ()

मैथ्यू आर्नल्ड की मृत्यु 1889 में हुई। ()

जीवन की आलोचना का सिद्धान्त मैथ्यू आर्नल्ड की देन है। ()

‘ऐसेज इन क्रिटिसिज्म’ मैथ्यू आर्नल्ड के आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है। ()

3. केवल पाँच-छः पंक्तियों में उत्तर दीजिए:

मैथ्यू आर्नल्ड के समय की युगीन परिस्थितियाँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

आर्नल्ड के सिद्धान्त के अर्थ-विस्तार तथा उसकी व्यापकता पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

4. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

मैथ्यू आर्नल्ड का जन्म..... तथा मृत्यु में हुई।

“पोयम्स बाई मैथ्यू आर्नल्ड ” कविता संग्रह..... में प्रकाशित हुआ।

मैथ्यू आर्नल्ड के आलोचक जीवन का आरंभके लगभग ऑक्सफोर्ड में हुआ।

मैथ्यू आर्नल्ड यूनानी साहित्य-चिन्तन और लेखकके मत से प्रभावित थे।

11.8 सारांश

पूर्व वर्णित पूरे विवेचन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि मैथ्यू आर्नल्ड ने पाश्चात्य-काव्यशास्त्र को एक विशेष दृष्टि दी है। पाश्चात्य साहित्य के विकास में मैथ्यू आर्नल्ड के योगदान को देखा जाय तो हिन्दी साहित्य में जो कार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया वही आर्नल्ड ने भी किया। आपने ‘जीवन की

आलोचना' का सिद्धान्त देकर एक ऐसे साहित्यकार, समाजशास्त्री, सांस्कृतिक चिंतक, आलोचक की छवि प्रस्तुत की जिसने तद्युगीन परिस्थितियों को ही विच्छिन्न होने से ही नहीं बचाया वरन् समाज को एक नवदृष्टि और दिशा प्रदान की। अन्ततः कहा जा सकता है कि आलोचना और साहित्य के क्षेत्र में तद्युगीन समाज और वर्तमान परिवेश में जिस अंग्रेजी आलोचक की आवश्यकता थी वह मैथ्यू आर्नल्ड ही है।

11.9 शब्दावली

1. उद्भावना- प्रस्तुति, उत्पत्ति।
2. परिप्रेक्ष्य- संदर्भ में।
3. विच्छिन्न- अलग होते हुए।
4. व्यंजनागत चारुता- अभिव्यक्तिगत सौंदर्य।
5. संश्लेषण- जुड़ाव।
6. प्रदेय- देन।
7. निस्संगता- तटस्थता।

11.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न के उत्तर -1

उत्तर-1. आधुनिक अंग्रेजी आलोचना का शुभारम्भ करने के कारण मैथ्यू आर्नल्ड को अन्य

विचारकों से अलग माने जाते हैं।

उत्तर-2. मैथ्यू आर्नल्ड की कविता का मूल उद्देश्य 'संस्कृति का उन्नयन' था। एक ऐसा

उन्नयन जो साहित्य पर आश्रित होकर समाज को उन्नत करे।

उत्तर -3. मैथ्यू आर्नल्ड कविता से आलोचना का काम लेकर वस्तुतः उसमें विचार पक्ष और

उपदेशात्मक वृत्ति पर बल देते हुए कविता को जीवन की आलोचना कहते हैं।

बोध प्रश्न 2 . ✓

√

×

√

√

बोध प्रश्न 4 . सन् 1822 , सन् 1888

सन् 1853,

सन् 1857

गेटे

11.11 उपयोगी पुस्तकें-

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र- डॉ. विजयपाल सिंह, प्र.स. 1999 , जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र- देवेन्द्र नाथ शर्मा, प्र.स.1984, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
3. पाश्चात्य साहित्य चिंतन- निर्मला जैन/कुसुम बाँठिया, सं.2000, राधाकृष्ण, प्रकाशन दिल्ली।

11.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. मैथ्यू आर्नल्ड के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विस्तार से परिचय दीजिए तथा उनके प्रमुख साहित्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए .
2. मैथ्यू आर्नल्ड के साहित्य सिद्धान्तों का समीक्षात्मक विवेचन करते हुए उनका महत्त्व स्पष्ट कीजिए .

इकाई 12 आई0ए0 रिचर्ड्स परिचय एवं सिद्धान्त

- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 उद्देश्य
- 12.3 युगीन परिस्थितियाँ साहित्यिक परिवेश
- 12.4 आई0ए0 रिचर्ड्स: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ
- 12.5 आई0ए0 रिचर्ड्स के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु
 - 12.5.1 मूल्य सिद्धान्त
 - 12.5.2 सम्प्रेषण का सिद्धान्त
 - 12.5.3 व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त
- 12.6 आई0ए0 रिचर्ड्स का महत्व और प्रासंगिकता
- 12.7 सारांश
- 12.8 शब्दावली
- 12.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 12.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 12.11 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अंतर्गत सम्मिलित है। इस इकाई के अध्ययन के पूर्व आपने पाश्चात्य काव्य शास्त्र के उद्भव एवं विकास का क्रमबद्ध ऐतिहासिक अध्ययन किया। प्रस्तुत इकाई के अध्ययन द्वारा आप अपने समय के महान साहित्यालोचक एवं साहित्यशास्त्री आई०ए० रिचर्ड्स के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं उनके महत्वपूर्ण साहित्यिक सिद्धान्तों का अध्ययन विस्तारपूर्वक करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप आई०ए० रिचर्ड्स के महत्व तथा प्राचीन एवं समकालीन साहित्य के संदर्भ में उनकी महत्ता एवं प्रासंगिकता का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् -

1. आप जान सकेंगे कि रिचर्ड्स ने कौन सा सिद्धान्त प्रतिपादित किया और उनके समय की परिस्थितियाँ क्या थीं ?
2. रिचर्ड्स की विषयवस्तु तथा वैचारिक पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।
3. रिचर्ड्स के जीवन और कृतियों से परिचित हो सकेंगे।
4. रिचर्ड्स के ऐतिहासिक महत्व और प्रासंगिकता को जान सकेंगे।

12.3 युगीन परिस्थितियाँ साहित्यिक परिवेश

इलियट से प्रारम्भ होकर आई०ए० रिचर्ड्स, जॉन क्रो रैनसम, क्लीन्थ ब्रुक्स, विलियम एम्पसन, एफ०आर०लीविस, एलेन टेटे, आर०पी०ब्लैकमर, केनेथ वर्क, डब्ल्यू०के०विमसाट आदि आलोचकों की रचनाओं में नयी समीक्षा परवान चढ़ी। बीस वर्ष तक नयी समीक्षा का विकास इस हद तक हुआ कि सन् 1940 के आसपास द कीनियन रिव्यू और द सिवानी रिव्यू जैसी आलोचनात्मक पत्रिकाओं पर इस समीक्षा-दृष्टि का पूर्ण प्रभुत्व हो गया। कुल मिलाकर नयी समीक्षा के उदय और विकास का काल दो विश्वयुद्धों के बीच का काल है।

रिचर्ड्स का युग विज्ञान और भौतिकवादी जीवन-दृष्टि के चरम प्रकर्ष का समय था। ऐसे वातावरण में कविता की उपयोगिता और सार्थकता के विषय में उनकी चिंता स्वाभाविक थी। ऐसे में बहुत सी बातों के आलावा रिचर्ड्स ने दो समस्याओं पर मुख्य रूप से विचार किया। इनमें से एक थी काव्य के

मनोवैज्ञानिक प्रभाव की मूल्यपरकता और दूसरी काव्य-भाषा की प्रकृति की पहचान। इन प्रश्नों पर विचार करते समय उन्होंने मनोविज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति का सहारा लिया।

आधुनिक जीवन में कविता के सन्दर्भ पर प्रकाश डालते हुए रिचर्ड्स ने सम्पूर्ण और स्वस्थ मानव-जीवन में काव्य के महत्व और मूल्य पर भी विचार किया है। आई0ए0 रिचर्ड्स ने कविता की सार्थकता पर विचार करते हुए टॉमस लव पीकॉक का स्मरण करना जरूरी समझा। पीकॉक ने वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि द्वारा यथार्थ के तर्कपूर्ण और क्रमबद्ध विवेचन को तरजीह देते हुए सवाल उठाया था कि 'क्या कवि इस सभ्य समाज में अर्ध-बर्बर नहीं प्रतीत होता?' उन्हें कवि बीते हुए जमाने का प्राणी नज़र आया। काव्य की उपयोगिता उन्हें नागरिक समाज की आदिम अवस्था में ही परिलक्षित हुई। जो लोग अच्छे काम कर सकते हैं, उन्हें 'लक्ष्यहीन बौद्धिक व्यायाम' करते देखकर उन्होंने खेद प्रकट किया। इस पर विचार करते हुए रिचर्ड्स ने पीकॉक के मत को प्रस्तुत कर उसके विरोध में तर्क देने की आवश्यकता समझी। इससे यही सिद्ध होता है कि विज्ञान के समकक्ष काव्य की उपयोगिता की पड़ताल करना रिचर्ड्स को जरूरी लगा।

ऐसा नहीं है कि रिचर्ड्स से पूर्व किसी विचारक ने यह दबाव महसूस नहीं किया। अगर रिचर्ड्स से पहले मैथ्यू आर्नल्ड की बात करें तो उन्होंने भी इस दबाव को महसूस करते हुए काव्य की उपयोगिता को मूल्यों से संबद्ध करके सिद्ध किया था लेकिन रिचर्ड्स उनसे महत्वपूर्ण इस रूप में सामने आते हैं कि उन्होंने काव्य की मूल्यवत्ता और उपयोगिता का केवल गुणानुवाद नहीं किया और न ही उसके पक्ष में भावोद्धारों की अभिव्यक्ति की जिसका प्रमाण उनकी रचनाएँ और वे सिद्धान्त हैं जिन्होंने पाश्चात्य साहित्य में योगदान दिया।

12.4 आई0ए0 रिचर्ड्स: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ

नयी समीक्षा के प्रसिद्ध सिद्धान्तकार आइवर आर्मस्ट्रॉंग रिचर्ड्स का जन्म 26 फरवरी 1893 में इंग्लैण्ड के चेशायर में तथा मृत्यु 7 सितम्बर, 1979 को हुई। उनका नाम पाश्चात्य साहित्य जगत में नयी समीक्षा के अग्रगणनीय आलोचकों में से एक के रूप में लिया जाता है। टी0एस0.इलियट के समकालीन रिचर्ड्स की ख्याति एक व्याख्याकार और सिद्धान्त-निर्माता के रूप में अधिक रही है। अगाध ज्ञान के स्वामी रिचर्ड्स साहित्य के अतिरिक्त अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, मानव विज्ञान, सौन्दर्य शास्त्र आदि विषयों में समान रूप से पैठ रखते थे। अपनी इसी बहुज्ञता और असाधारण क्षमता का परिचय उन्होंने अपने सिद्धान्त-निरूपण में दिया है।

इनकी शिक्षा क्लिफ्टन और कैम्ब्रिज में हुई थी। इन्हें कैम्ब्रिज और पेकिंग(चीन) के विश्वविद्यालयों में नियुक्ति मिली थी। कुछ समय कार्य करने के उपरान्त सन् 1944 से सन् 1963 तक आप हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्रोफेसर रहे। इनके अध्यापन में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अध्यापन का प्रभाव पड़ा। इनके अध्यापन में मनोविज्ञान एवं अर्थविज्ञान का विशेष योगदान था।

रिचर्ड्स का रचना काल पूरी आधी शताब्दी तक फैला है। सी०के०ऑडन और जेम्स वुड के साथ सहयोगी लेखन के रूप में उनकी पहली आलोचनात्मक कृति 'द फाउंडेशन ऑफ एस्थेथिक्स' सन् 1922 में प्रकाशित हुई तथा मृत्यु से पाँच वर्ष पहले उनकी अंतिम रचना 'बियॉड' सन् 1974 में।

आपकी सर्वाधिक चर्चित कृतियों में 'प्रिंसिपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (1924) 'कॉलरिज ऑन इमेजिनेशन' (1934) है। लगभग अर्द्ध शताब्दी तक लेखन में सक्रिय इनकी लगभग बारह आलोचनात्मक कृतियाँ और एक काव्य संकलन प्रकाश में आया। इसके अतिरिक्त 'मेन्सियस ऑफ द माइन्ड', (1931), 'एक्सपेरिमेंट्स इन मल्टिपिल डेफिनीशन'(1932), 'बेसिक रूल्ज ऑफ रीजन'(1933), 'द फिलॉसफी ऑफ रेटरिक'(1936), 'इंटरप्रिटेशन इन टीचिंग'(1938), 'द स्पेक्युलेटिव इंस्ट्रुमेन्ट्स'(1955), 'पोएट्रीज: देयर मीडिया एंड ऐड्स'(1973), 'हाउ टु रीड ए पेज'(1942) इत्यादि इनकी चर्चित कृति रही हैं।

बोध प्रश्न-1

टिप्पणी- (1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(1) दो-तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

प्रश्न-1. रिचर्ड्स की पहचान अन्य समीक्षकों से भिन्न कैसे थी?

.....

.....

.....

.....

12.5 आई०ए० रिचर्ड्स के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु

रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान के संदर्भ में कविता और कला की सार्थकता स्वीकार की। ब्रेडले के 'कला, कला के लिए' के सिद्धान्त के विरोध में इन्होंने मूल्य-सिद्धान्त की स्थापना की। इनका मानना था कि साहित्यालोचना का सिद्धान्त 'मूल्य और सम्प्रेषणीयता' पर आधारित होना चाहिए।

12.5.1 मूल्य सिद्धान्त

रिचर्ड्स की काव्य सम्बन्धी मान्यताएँ मनोवैज्ञानिक धरातल से उद्भूत हैं। आज के हान्सोन्मुख जीवन-मूल्यों के युग में काव्य-कला मूल्य-उद्बोधन के निकष पर परखी जानी चाहिए। उनके अनुसार जो कविता पाठक के मानस को जितना प्रभावित करने में सक्षम हो, उतनी ही उत्कृष्ट होगी।

रिचर्ड्स के अनुसार मानव-मन में संवेगों का आरोह-अवरोह बना रहता है। काव्य और अन्य कलाएँ इन आवेगों से सुसंगति व सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न करती हैं। एक सभ्य सुशिक्षित समाज कविता के माध्यम से अपने मानस का सन्तुलन बनाये रखने में समर्थ होता है। मानव मन के आवेगों की दो कोटियाँ निर्धारित हैं- 1. काम्य(वांछनीय) और 2. अकाम्य (अवांछनीय)। ये दोनों ही आवेग मानव-मन में सन्तुलित रूप में विद्यमान रहते हैं। काम्य आवेग मानव मन में स्थिरता, सन्तुलन और व्यवस्था बनाये रखते हैं और बिना किसी को हानि पहुँचाए विकासोन्मुख रहते हैं। मन की सर्वोत्तम अवस्था ही वही है जहाँ समस्त मानसिक व्यापार परस्पर ताल-मेल बैठते हुए मन के तनाव व विघटन को समाप्त कर देते हैं। कविता या अन्य कलात्मक विधाएँ मनुष्य के विशिष्ट, सीमित अनुभव को व्यवस्थित रूप में विकसित करने में सहायक सिद्ध होती है। कविताएँ मानव-मन की संवेदनाओं और अनुभूतियों को व्यापक फलक प्रदान करती हैं और उनमें संवेदनात्मक एकता प्रदान करती हैं। रिचर्ड्स के मतानुसार काव्य और कला का प्रमुख गुण सन्तुलन और समन्वय करना ही है। दूसरे शब्दों में कहें तो कविता मानव मनोवेगों को सन्तुलित करती है। दार्शनिक 'सन्तायन' की मानें तो कला में अभिव्यक्त सौन्दर्य भी यही कार्य करता है जिससे उद्वेलित मन शान्त हो जाता है।

सन्तुलन की प्रक्रिया को रिचर्ड्स ने सिनेस्थीसिस नाम दिया है और यह भी माना कि काव्य द्वारा सम्पन्न 'सिनेस्थीसिस' की प्रक्रिया पाठक को ताज़गी प्रदान करती है। रिचर्ड्स के इस सिद्धान्त को 'सिनेस्थीसिस', सामंजस्य या सन्तुलन का सिद्धान्त या मूल्य-बोध का सिद्धान्त कह सकते हैं। मानव मन अनेक काम्य-अकाम्य मनोवर्गों का भण्डार है। जीवन में यह द्वन्द्व एक सामान्य अवस्था है। यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है कि सभी आवेगों के स्वतंत्र निष्पन्न होते हुए भी इनमें अब्धुत संतुलन बना रहे। कविता और कला इस संदर्भ में सर्वाधिक मूल्यवान मानव क्रियाएँ हैं क्योंकि ये ही मानव मनोवेगों में अपना सर्वाधिक प्रभाव डालती हैं और संतुलन तथा व्यवस्था बनाये रखने में समर्थ होती हैं। किसी भी काव्य-कृति की उत्कृष्टता व निकृष्टता भी मानव-मन को प्रभावित करने की क्षमता पर ही निर्भर है। सामान्य जीवन की अनुभूति और काव्य की अनुभूति में केवल मात्रा का अंतर है। काव्यानुभूति अधिक जटिल और वैविध्य पूर्ण है इसलिए मनोवेगों के क्रमशः उद्दीपन, प्रकटन और संवर्धन से गुणात्मक भिन्नता नहीं आती।

रिचर्ड्स का स्पष्ट मानना था कि सौन्दर्य शास्त्रीय प्रसंग में मूल्य की सर्वथा उपेक्षा करना उचित नहीं है। कला-सम्बन्धी अनुभव कई अर्थों में मूल्यवान होते हैं। सभी प्रकार के अनुभव कला-मूल्यों से सायुज्य हैं। किसी भी कृति में उपस्थित सौन्दर्य का अनुभव-मूल्य के साथ जुड़ा रहता है। कला हमारे सम्बन्धित मूल्यों का ही कोष है। कला के द्वारा ही हम यह जान पाते हैं कि कौन से अनुभव अधिक मूल्यवान हैं। असाधारण पुरुषों के जीवन-क्षणों में उद्भूत अनुभव मानव में उत्पन्न उलझन और किंकर्तव्यविमूढ़ता के स्थान पर एक स्वच्छ व स्पष्ट दृष्टि देते हैं। अनुभव के मूल्यों के संदर्भ में प्राप्त हमारे निर्णयों का कला लेखा-जोखा रखती है।

रिचर्ड्स काव्य में 'मूल्य और नैतिकता' को समान महत्व प्रदान करते हैं। उनकी दृष्टि में नैतिकता का सम्बन्ध न स्वीकार करने वाले विचार अविवेकी, फूहड़ और व्यर्थ हैं। रिचर्ड्स का यह भी मानना था कि मनुष्य के अन्तःकरण का विकास अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर होता है। जबकि हम उनके तरीकों के बारे में नहीं जानते। नैतिकता को उन्होंने गतिशील मूल्य के रूप में स्वीकारा। परम्परा और नवीनता, संस्कार और आवश्यकता, अतीत और वर्तमान ये सब मिलकर नैतिक मानदण्डों की स्थापना करते हैं। अजय तिवारी ने अपनी मार्क्सवादी धारणा के अनुरूप रिचर्ड्स के मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्तों को इस रूप में स्वीकृति दी है, "शाश्वत सत्य और चिरंतन नैतिकता वाले आर्थिक ढाँचे को तोड़कर आधुनिक पूँजीवादी समाज की गतिशील प्रक्रिया के अनुरूप साहित्य और नैतिकता के पुर्नगठन की आवश्यकता रिचर्ड्स के सिद्धान्तों की मूल प्रेरणा है। जहाँ तक वह मध्यकालीन सनातन ढाँचों के विरुद्ध है, वहाँ तक उसकी भूमिका सकारात्मक है। जहाँ वह आधुनिक समाज के प्रति आलोचनात्मक रूख अपनाने के बदले संतुलन लाने का प्रयास करता है, वहाँ वह पूँजीवादी हितों का अनुमोदन करता है। विरोधी वृत्तियों का संतुलन कला में सौन्दर्य मूल्य है; कला और जीवन के अनुभव में अंतर नहीं है, कला में जो मूल्य है, समाज में वही नैतिकता है; विरोधी हितों में संतुलन नैतिक मूल्य है।

रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धान्त की गहन आलोचना भी हुई है। एलेसियों वाइवास ने तर्क किया कि रिचर्ड्स ने अपने सिद्धान्त को किसी भी प्रकार के उदाहरणों को देकर स्पष्ट नहीं किया है कि कोई भी रचना कितने और किन मनोवर्गों का सामंजस्य करती है। फलतः यह सिद्धान्त बेहद अमूर्त है। रिचर्ड्स का सिद्धान्त अच्छी और बुरी कविता का अंतर बताता है। रिचर्ड्स के सिद्धान्त में दुरूहता होते हुए भी कविता में नैतिकता और श्रेष्ठता का समावेश है।

12.5.2 सम्प्रेषण का सिद्धान्त

आई0ए0 रिचर्ड्स का द्वितीय आलोचना सिद्धान्त सम्प्रेषण-सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह बचपन से ही अनुभवों का आदान-प्रदान सम्प्रेषण के माध्यम से करता है। सम्प्रेषण के माध्यम से ही मनुष्य समाज का भौतिक विकास सम्भव हुआ है। रिचर्ड्स के अनुसार मनुष्य सम्प्रेषण क्रिया का सर्वाधिक उपयोग कला के माध्यम से ही कर पाता है। यद्यपि कलाकार को प्रत्यक्ष रूप से इसकी जानकारी नहीं रहती। कलाकार अपनी कृति की रचना में जितना तन्मय होता है उतनी ही उसकी सम्प्रेषण क्षमता बढ़ जाती है। कवि अपनी सम्प्रेषण क्षमता के माध्यम से ही पाठकों में संवेदना को जगाता है। रिचर्ड्स के अनुसार कविता सर्वाधिक सम्प्रेषणीय माध्यम है।

रिचर्ड्स के अनुसार सम्प्रेषण तभी सम्भव है जबकि अनुभूति-प्रदाता और अनुभूति ग्रहणकर्ता की मानसिक अवस्था समान हो। इस प्रकार से यह एक जटिल प्रक्रिया भी है लेकिन कवि की परीक्षा भी इसमें निहित है। उनके अनुसार सम्प्रेषण तब होता है जब किन्हीं परिस्थितियों को कोई मन इस तरह लिया करता है कि दूसरा मन प्रभावित हो जाए और जब उस दूसरे मन में पहले वाले मन जैसा

अनुभव घटित हो और वह उस अनुभव से कुछ हद तक अनुप्राणित हो। दोनों अनुभव थोड़ी बहुत मात्रा में समान हो सकते हैं और दूसरा अनुभव पहले पर कमोबेश निर्भर हो सकता है।' किसी भी कृतिकार की क्षमता की कसौटी भी यही है कि वह अपनी अनुभूतियों को पूरा का पूरा या उसके अंश को पाठकों तक उसी रूप में पहुँचा सके। एक अच्छे सम्प्रेषण के लिए आवश्यक है कि कवि की अनुभूति व्यापक और विस्तृत हो, उसमें वस्तु-आकलन की भरपूर क्षमता हो तथा सामाजिक अनुभवों से तारतम्य स्थापित होने की क्षमता हो। रिचर्ड्स के अनुसार 'कलाकृति जितनी सुसंगत होती है, वह कलाकार की अनुभूति से मेल खाती है, उतना ही पाठक के लिए सम्प्रेष्य होती है यानि उसमें अपने जैसा भाव जगा पाती है। कविता में यदि लय, छन्द और स्वर-समायोजन उचित हो तो सम्प्रेषण क्षमता बढ़ जाती है। कविता का आनन्द पाठक या श्रोता तभी ले सकता है जबकि वह कवि के विशिष्ट अनुभवों को हृदयंगम कर पा रहा हो। रिचर्ड्स के अनुसार सम्प्रेषण के माध्यम से ही समाज में ज्ञान और संस्कृति का विकास होता है और मानव संवेदनाएँ परिष्कृत-परमार्जित होती हुई अपने व्यापक और उदात्त रूप में प्रकट होती हैं।

12.5.3 व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त

रिचर्ड्स ने अपने एक ग्रंथ 'प्रेक्टिकल क्रिटिसिज्म' में अपने आलोचना के निष्कर्ष स्वरूप विचारों को रखा है। इस ग्रंथ में उन्होंने अपने विचारों का आधार भारतीय काव्य-साहित्य को भी दृष्टि-पटल पर रखकर किया है। रिचर्ड्स का उद्देश्य यहाँ शिक्षा पद्धति के नूतन मार्ग को दृष्टि देना और साहित्य और संस्कृति की समकालीन स्थिति को उजागर करना भी रहा है।

व्यावहारिक समीक्षा हेतु उन्होंने 'काव्य' का चयन किया है। उनकी दृष्टि में गणित, विज्ञान, व्यापार, कानून, उद्योग आदि विषय सभी व्यक्तियों की रुचि के अनुरूप नहीं होते। इसी प्रकार धर्म, दर्शन, आध्यात्म, नीति, अचार, सौन्दर्य शास्त्र के प्रति अनेक व्यक्ति आकर्षित तो होते हैं किंतु उनके शास्त्रीय स्वरूप के प्रति उनका कोई रुझान नहीं होता। केवल काव्य ही ऐसा है जो व्यापक जन समुदाय को आकर्षित करता है।

व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोग के द्वारा रिचर्ड्स ने समीक्षा के क्षेत्र में अनेक कठिनाइयों का उल्लेख किया है। 1. रिचर्ड्स ने पाया कि अधिकांश व्यक्ति वास्तविक अर्थ ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं। वे कविता का अर्थ और वास्तविक तात्पर्य नहीं समझ पाते। 2. अधिकांश पाठकों में ऐन्द्रिय बोध की न्यूनता रहती है जिस कारण वे कविता के ध्वन्यात्मक प्रभाव को ग्रहण करने में असमर्थ होते हुए काव्यानन्द व उसके वास्तविक प्रभाव से वंचित रह जाते हैं। यही नहीं बिम्ब-ग्रहण करने की क्षमता का अभाव होने के कारण वे पंक्तियों का वास्तविक रसास्वादन नहीं कर पाते। 3. समीक्षा के क्षेत्र में एक जटिलता यह भी है कि कभी-कभी आलोचक कवि की भाव दशा से अपनी भाव दशा का तादात्म्यकरण कर लेता है। ऐसी अवस्था में यह वस्तुनिष्ठ नहीं रह पाता। 4. अतिशय भावुकता भी समीक्षा के क्षेत्र में कठिनाई उत्पन्न करती है।

काव्याभिव्यक्ति के चार प्रमुख चरण हैं- अर्थ, भावानुभूति, ध्वनि और उद्देश्य। एक समीक्षक को इन सभी तत्वों का सम्यक् ज्ञान आपेक्षित है। काव्य एक पूर्ण अभिव्यक्ति है अतः इसमें शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना, बुद्धि तत्व- सभी का सामंजस्यपूर्ण संतुलन रहता है। अन्य विषय जैसे वैज्ञानिक उक्तियों में अर्थ और बुद्धितत्व का प्राधान्य है। दार्शनिक उक्तियों में अर्थ, बुद्धि और कल्पना तत्व का समावेश है, वहीं काव्योक्ति उक्त सभी पाँचों तत्वों का सम्यक् समन्वय कर सजीव और प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति दर्ज कराती है। काव्य में शब्दों का नीरस उपयोग नहीं वरन् एक अद्भुत आकर्षण है। ध्वन्यात्मकता, अलंकृत प्रयोग और छन्दोबद्धता से काव्य में प्रयुक्त शब्द केवल उपकरण मात्र न रहकर एक प्रभावशाली व सशक्त माध्यम बन जाता है। इसी प्रकार अर्थ तत्व, कल्पना और अनुभूति के उद्बोधन में सहायक बनता है। कारण यह है कि काव्य में व्यंग्यार्थ अभीप्सित है। यहाँ सामान्य अर्थ कोई मायने नहीं रखता। कल्पना और भाव तत्व काव्य की एक अन्य बड़ी विशेषता है। भावों के उद्बोधन हेतु कृति का अलंकारिक होना स्वाभाविक है, जो कवि-कल्पना से प्रेरित होता है। काव्य केवल कोरा तर्क नहीं है अतः प्रसंग परम्परा और प्रयोग के आधार पर हम काव्य का मूल्यांकन करते हैं और अलंकारित उक्तियों को कल्पना-चमत्कार व भाव बोधन का उत्स मानते हैं। कल्पना शक्ति के माध्यम से अलंकारिक अभिव्यक्ति के द्वारा कवि सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों को प्रकट कर सकता है। अन्ततः हम कह सकते हैं कि नित्य नये सिद्धान्तों के क्रम में रिचर्ड्स का व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त एक नवीन प्रयत्न है, जो एक नयी दृष्टि रखता है।

बोध प्रश्न 2

क. रिचर्ड्स की कविता का क्या उद्देश्य था?

.....

.....

.....

.....

.....

ख. रिचर्ड्स ने कौन-कौन से सिद्धान्त दिये। नामोल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

ग. नीचे दिए गए कथनों में से कुछ सही है, कुछ गलत। उपयुक्त चिह्न लगाकर स्पष्ट कीजिए।

1. रिचर्ड्स ने कला कला के लिए का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। ()
2. किलपटन और कैम्ब्रिज नामक शहर में रिचर्ड्स की शिक्षा सम्पन्न हुई। ()
3. सी०के० ऑडन और जेम्स वुड के साथ सहयोगी लेखन के रूप में उनकी पहली आलोचनात्मक कृति 'द फाउंडेशन ऑफ एस्थेथिक्स' थी। ()
4. रिचर्ड्स ने काव्य के संवेग की दो कोटियाँ बताई है- 1. काम्य 2. अकाम्य। ()
5. रिचर्ड्स का निधन 1990 में हुआ। ()

12.6 आई०ए० रिचर्ड्स का महत्व और प्रासंगिकता

अंग्रेजी साहित्य में पहली बार व्यापक और व्यवस्थित सौन्दर्य शास्त्र (काव्य शास्त्र) के निर्माण का श्रेय रिचर्ड्स को है। रिचर्ड्स ने आधुनिक जीवन में कविता के सन्दर्भ पर प्रकाश डालते हुए सम्पूर्ण और स्वस्थ मानव-जीवन में काव्य के महत्व और मूल्य पर भी विचार किया। इनका व्यक्तित्व मूलतः एक महान् शिक्षक का था। ये सुप्रसिद्ध समालोचक, कवि एवं भाषाविद् थे। समीक्षा के क्षेत्र में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में कविता की सार्थकता और महत्ता पर इनके मौलिक विचार हैं जैसे रिचर्ड्स ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र में पहली बार कविता के संप्रेषण और पाठकों पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में प्रयोगशाला पद्धति से कुछ निष्कर्ष प्राप्त किये। भले ही उनके यह निष्कर्ष मान्य न रहे हों लेकिन संप्रेषण और आस्वाद के विषय में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी सामान्य सिद्धान्त अप्रतिम हैं। अगर उदाहरण के रूप में देखा जाए तो पाठकीय प्रतिक्रिया के विश्लेषण के आधार पर आस्वाद में दस प्रकार के विघ्नों की चर्चा हो या कवि की आस्था के साथ सहमति और असहमति का प्रश्न हो, एक महत्वपूर्ण विचार है।

रिचर्ड्स का मत था कि आज के युग में जब प्राचीन परम्परायें और जीवन-मूल्य विघटित हो रहे हैं, तब कविता का मूल्य, उसकी मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर करता है। जिस कविता में जितनी अधिक सम्प्रेषणीयता होगी, वह उतनी ही उत्कृष्ट होगी। इनके विचार से स्नायु विषयक व्यवस्था और उसकी आंशिक क्रियाशीलता ही मन है। जो कविता इस व्यवस्था के उपयुक्त होगी, वही कल्याणकारी होगी।

अतः रिचर्ड्स की इस बात को श्रेय देना ही होगा कि उन्होंने विज्ञान के युग में साहित्यालोचन को वैज्ञानिक निश्चितता और वस्तुनिष्ठता प्रदान करने की दिशा में पहल की। साथ ही पाठक पर पड़ने वाले प्रभाव और प्रतिक्रिया को कमोबेश नापने का एक पैमाना प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

इस दौर में सौंदर्यवादियों के 'कला कला के लिए' सिद्धान्त पर अंतिम आक्रामक वार करने का हौसला रिचर्ड्स ने ही दिखाया। आलोचना के वाग्जाल की निरर्थकता समाप्त करते हुए कला के संदर्भ में सहजानुभूति, अभिव्यंजना जैसे शब्दजाल की निरर्थकता को उद्धाटित करते हुए आलोचना से उन्हें खारिज करने की वकालत की। कलानुभव की अलौकिकता और सौंदर्य और सौंदर्यानुभव की अतींद्रियता के प्रभामंडल को समाप्त करते हुए रिचर्ड्स ने उसे जीवनानुभव की ठोस जमीन दी। इसी के साथ रिचर्ड्स ने नयी आलोचना की भाषा को बहुत से शब्द भी दिये। पाश्चात्य क्षेत्र में अपनी अप्रतिम देन के बावजूद कुछ त्रुटियाँ भी उनके सिद्धान्तों में दिखाई देती हैं लेकिन इसके बावजूद भी अंग्रेजी भाषी जगत में रिचर्ड्स का बहुत मान और प्रभाव रहा है। बीसवीं शताब्दी में एक इलियट को छोड़कर यशस्विता में उनका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है। उनकी आलोचना पद्धति के सूत्र को पकड़कर इंग्लैण्ड में विलियम एंपसन ने शायद ठीक ही कहा था कि रिचर्ड्स जहाँ गलती करते थे वहाँ भी सोचने के लिए कोई नयी चीज देते थे। उनका 'न्यू क्रिटिसिज्म' नामक आलोचना-संप्रदाय का विकास इसी का प्रतिफल है।

बोध प्रश्न 3

क. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. रिचर्ड्स की सर्वप्रथम आलोचना कृति..... थी।
2. लगभग अर्द्ध शताब्दी तक लेखन में सक्रिय रहे रिचर्ड्स की अनुमानत.....
आलोचना कृतियाँ और..... काव्य संकलन प्रकाश में अया।
3. एक्सपेरिमेंट्स इन मल्टिपिल डेफिनीशन सन्..... में प्रकाशित हुई। (1932)
4. रिचर्ड्ससे.....तक हार्वर्ड विश्वविद्यालय में
अंग्रेजी विषय के प्रोफेसर रहे।
5. रिचर्ड्स का मुख्य सिद्धान्त.....का है।

12.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान चुके हैं कि बीसवीं शताब्दी के आलोचकों में रिचर्ड्स का गौरवशाली स्थान है। रिचर्ड्सने मनोविज्ञान के आधार पर अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया। उन्होंने सम्प्रेषण का सिद्धान्त, मूल्य का सिद्धान्त और व्यावहारिक समीक्षा आदि का सिद्धान्त देकर साहित्य की सेवा में अमूल्य योगदान दिया। रिचर्ड्स के आलोचना सिद्धान्त मूलतः अरस्तू और कॉलरिज के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। मनोविज्ञान का जामा पहनाकर रिचर्ड्स ने उन्हें नये रूप में

प्रस्तुत करने का प्रयास किया। विषयान्तर विरोध का चमकदार तर्क, कथ्य के स्पष्टीकरण के लिये उदाहरणों का अभाव या स्वल्पता, अनावश्यक शुष्कता, साहित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति रिचर्ड्स के लेखन की विशेषताएँ हैं।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य साहित्य में आर्नल्ड ने जिस प्रकार आलोचना को रचनाकार से अधिक महत्व दिया उसी प्रकार रिचर्ड्स ने भी आलोचक को रचनाकार की अपेक्षा अधिक महत्व दिया।

12.8 शब्दावली

1. स्वल्पता- कमी
2. अतीन्द्रियता- इन्द्रियों से परे
3. क्रिटिसिज्म- आलोचना
4. तादात्म्यीकरण- तल्लीनता
5. अलंकारिक - सजा हुआ
6. फूहड़ - गंदा, भद्दा
7. विघटित - खत्म होना, कम होना
8. खारिज - नकारना
9. किंकर्तव्यविमूढ़ता - आश्चर्यचकित होना

12.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2 (ग) का उत्तर -

1. (✗)
2. (✓)
3. (✓)
4. (✓)

5. (✕)

3 (क) का उत्तर -

1. द फाउण्डेशन ऑफ एस्थेटिक्स
2. बारह/एक
3. सन् 1932
4. सन् 1944/ सन् 1963
5. सम्प्रेषणीयता

12.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पश्चात्य काव्यानुशीलन, डॉ० मृदुल जोशी, प्रस०-2010 प्र०-सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, एन-3/25 मोहन गार्डन उत्तम, नगर, नई दिल्ली
2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, डॉ० विजयपाल सिंह, प्र०स० 1999, प्र० जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
3. पाश्चात्य साहित्य-चिंतन, निर्मला जैन/कुसुम बाँठिया, प्र०सं०-1990, प्र० राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड जी-17, जगतपुरी, दिल्ली
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र (इतिहास सिद्धान्त और वाद) डा० भगीरथ मिश्र, सं०-1999, प्र० विश्वविद्यालय, प्रकाशन चौक, वाराणसी

12.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. आई०ए० रिचर्ड्स का जीवन एवं साहित्यिक परिचय लिखिए तथा उनके प्रमुख साहित्य-सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. रिचर्ड्स के 'मूल्य' एवं 'सम्प्रेषण' सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए तथा वर्तमान में रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का महत्व एवं प्रासंगिकता समझाइए।

इकाई 13 बेनेदेतो क्रोचे : परिचय एवं सिद्धान्त

- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 उद्देश्य
- 13.3 बेनेदेतो क्रोचे: तत्कालीन परिस्थितियाँ और साहित्यिक परिवेश
- 13.4 बेनेदेतो क्रोचे: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ
- 13.5 बेनेदेतो क्रोचे के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु
- 13.6 बेनेदेतो क्रोचे का अभिव्यंजनावाद
 - 13.6.1 सहजानुभूति
 - 13.6.2 सहजानुभूति और कला
 - 13.6.3 सहजानुभूति और कल्पना
 - 13.6.4 कला की अखण्डता
 - 13.6.5 विषय और शैली में अभिन्नता
 - 13.6.6 कलाकार के गुण
 - 13.6.7 सामाजिक के संबंध में विचार
 - 13.6.8 सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति
 - 13.6.9 अभिव्यंजनावादन की विशेषताएँ
 - 13.6.10 अभिव्यंजनावाद की सीमाएँ
 - 13.6.11 अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद में साम्य और वैषम्य
- 13.7 बेनेदेतो क्रोचे का महत्व और प्रासंगिकता
- 13.8 सारांश
- 13.9 शब्दावली
- 13.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 13.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 13.12 निबंधात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अंतर्गतसम्मिलित है। इस इकाई के अध्ययन के पूर्व आपने पाश्चात्य काव्य शास्त्र के उद्भव एवं विकास का क्रमबद्ध ऐतिहासिक अध्ययन किया। प्रस्तुत इकाई में आप 'कला कला के लिए' (art for art sake) सिद्धान्त के जन्मदाता कहे जाने वाले बेनेदेतो क्रोचे के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के साथ-साथ उनके प्रमुख साहित्य सिद्धान्तों का विश्लेषण परक अध्ययन करेंगे।

इस इकाई के अध्ययन से आप ऐतिहासिक रूप से क्रोचे एवं उनके सिद्धान्तों का महत्व जान सकेंगे तथा आधुनिक एवं समकालीन साहित्य के परिप्रेक्ष्य में उसकी प्रासंगिकता को समझ सकेंगे।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप-

1. बेनेदेतो क्रोचे के जीवन एवं उनके सिद्धान्तों का निर्माण करने वाली तत्कालीन परिस्थितियों को जान सकेंगे।
2. आधुनिक पाश्चात्य साहित्य के विकास में क्रोचे के सिद्धान्तों की सही परख और पहचान कर सकेंगे।
3. बेनेदेतो क्रोचे के महत्व और प्रासंगिकता का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

13.3 बेनेदेतो क्रोचे: तत्कालीन परिस्थितियाँ और साहित्यिक परिवेश

अभिव्यंजनावाद सिद्धान्त के प्रतिपादक बेनेदेतो क्रोचे साहित्य शास्त्री न होकर मूलतः दार्शनिक तथा सौन्दर्य शास्त्री थे। आधुनिक युग में औद्योगिक क्रांति तथा तकनीकी एवं वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप कला और साहित्य के सम्बन्ध में क्रांतिकारी एवं मौलिक विचार सामने आये। अनेक क्षेत्रों के विचारों ने कला और साहित्य को भी अतिशय प्रभावित किया। मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड, एडलर और जुंग ने काव्य और कला को प्रभावित किया। सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में मार्क्सवाद की विचारधारा का गहराई के साथ प्रभाव पड़ा तथा डेनमार्क के सोरेन कीर्केगार्ड और फ्रान्स के ज्याँ पॉल सार्त्र की अस्तित्ववादी विचार धारा ने भी विश्व-साहित्य को प्रक्षेपित किया। इन सभी परिस्थितियों और प्रभावों ने साहित्य-चिन्तन को विविध दिशाओं की ओर मोड़ दिया।

आधुनिक युग के दर्शन, साहित्य तथा कला और साहित्य चिन्तन ने विश्व को अनेक भागों में बाँट दिया। एक तो मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन का साम्राज्यवादी विश्व बन गया, दूसरा यूरोपीय परम्परा

का कलावादी संसार जिसमें इटली, फ्रांस और इंग्लैण्ड विशेष रूप से सम्मिलित थे और जिसका प्रभाव एशिया के देशों और भारत पर पड़ा।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दौर से लेकर अब तक साहित्य तथा समालोचना संबन्धी कई सिद्धान्त तथा आंदोलन सामने आये जिनमें कुछ जल्दी ही समाप्त हो गये किंतु कुछ का असर काफी समय तक बना रहा, जैसे-अरस्तू का अनुकरण-सिद्धान्त, कॉलरिज का जैववादी सिद्धान्त, आर्नल्ड का आलोचना-सिद्धान्त आदि। इस धारा में अभिव्यजनावाद के जनक बेनेदेतो क्रोचे भी आते हैं। इनके अतिरिक्त रस्किन, ज्याँपाल सात्र, कीर्केगार्द, अलबर्ट कामू, हर्बर्ट, जेम्स ज्वायस, हेनरी जेम्स, एजरा पाउंड, केन्ट्रैन्सम आदि पाश्चात्य जगत के ऐसे साहित्यकार विचारक और समीक्षक हैं जिन्होंने समीक्षा को नई-नई दिशाएँ प्रदान की हैं। इन लोगों ने अपने साहित्य और समीक्षा द्वारा यूरोपीय साहित्य को समृद्ध किया। इसका आरंभिक रूप आदर्शवादी और वस्तुपरक था। पन्द्रहवीं शताब्दी में नव-जागरण की नई लहर के साथ ही यूरोपीय साहित्य और समीक्षा द्रुतगति से विकास करती हुई बहुमुखी रूप धारण करके मानव के चिन्तन को अत्यधिक सशक्त और व्यापक बनाती चली गई। अभिव्यजनावाद भी इसी विचारधारा में से निकली एक विचारधारा है जिसका मूल स्रोत वस्तुतः स्वच्छदतावाद की उस प्रवृत्ति से है जो परम्परा, रूढ़ि, नियम आदि का विरोध करती है। आरम्भ में यह एक अत्यन्त शक्तिशाली और स्वस्थ-आन्दोलन था, जिसने परम्परावादिता का विरोध कर व्यक्तिवाद पर बल दिया।

13.4 बेनेदेतो क्रोचे: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ

‘अभिव्यजनावाद सिद्धान्त’ के प्रतिपादक बेनेदेतो क्रोचे का जन्म सन् 1866 में इटली के नेपल्स शहर में तथा मृत्यु इसी शहर में सन् 1952 में हुई। बाल्यवस्था से ही इनकी धर्म से आस्था चली गयी परन्तु बाद में रोम विश्वविद्यालय में नीति शास्त्र तथा दर्शन के अध्ययन के दौरान आदर्शमूलक दृष्टिकोण के विवेचन के क्रम में जीवन में आस्था पुनः लौटी। संभवतः इसी कारण बेनेदेतो क्रोचे बाह्य सांसारिक यथार्थ की अपेक्षा चेतना के आंतरिक सत्य पर अधिक विश्वास करने लगे थे। सम्पन्न परिवार में जन्म लेने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी। शायद यही वजह रही कि जो समय लोगों का जीवकोपार्जन में जाता है, वह बेनेदेतो क्रोचे का साहित्यिक और शोध के प्रति समर्पित रहा। मार्क्सवाद के कट्टर आलोचक बेनेदेतो क्रोचे राजनीतिक अर्थशास्त्र के गहन अध्ययन के साथ दर्शन, तर्कशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, इतिहास तथा सात्यालोचन संबन्धी विषयों पर बराबर लिखते रहें।

एक उच्चकोटि के दार्शनिक और कला मीमांसक बेनेदेतो क्रोचे ने सन् 1900 में ‘फण्डामेन्टल थीसिस ऑफ एन ऐस्थेटिक एज साइंस ऑफ एक्सप्रेसन एण्ड जनरल लिग्विस्टिक्स’ शीर्षक से पढ़े गये एक लेख में अपनी अभिव्यजनावादी विचारधारा के सूत्र रखे। काव्य और कला

की मीमांसा करते हुए बेनेदेतो क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद की विस्तृत व्याख्या की। इनका कला सम्बन्धी मूल ग्रंथ 'इस्टिटिका' सन् 1901 में प्रकाशित हुआ जिसका अनुवाद (सौन्दर्य सिद्धान्त या सौन्दर्य शास्त्र) एक विश्व प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह सन् 1912 में प्रकाश में आया। इस ग्रंथ में बेनेदेतो क्रोचे ने कला की आन्तरिक प्रक्रिया का सामान्य विवेचन करते हुए कला को विशिष्ट अभिव्यंजना माना। उनके विचार से कला आन्तरिक अभिव्यंजना है, जो सहजानुभूति के रूप में पूर्ण होती है।

सन् 1902 में 'ला क्रितीका' पत्रिका निकालने वाले बेनेदेतो क्रोचे इटली तथा यूरोप के इतिहास के अलावा अन्य कई देशों के इतिहास तथा साहित्य पर भी लेखन करते रहे। सन् 1933 में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में कविता पर दिये गये प्रसिद्ध भाषण 'डिफेंस ऑफ पोएट्री' में कविता तथा साहित्य सम्बन्धी इनकी परवर्ती मान्यताएँ व्यक्त हुई हैं। अभिव्यंजनावाद सिद्धान्त मूलतः सौन्दर्य शास्त्र से सम्बद्ध है। सन् 1912 में बेनेदेतो क्रोचे ने सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी चार आलेख राइस इंस्टीट्यूट में पढ़े और 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' के लिए इसी विषय पर एक लेख लिखा। 'न्यू एसेज ऑन एस्थेटिक' सन् 1920 में प्रकाशित इनके सौन्दर्यशास्त्रीय निबंधों का संग्रह है। अपनी आत्मकथा में क्रोचे ने बताया कि किस तरह शास्त्रीय विद्याओं के अध्ययन के क्रम में वे अपनी विचारधारा में क्रमशः अमूर्तता की ओर बढ़ते गये और अंततः इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि स्फिरिट या चेतना या मानस ही 'चरम सत्य' है। चेतना के स्तर पर ही समस्त क्रियाएँ होती हैं तथा बाह्य संसार की घटनाएँ गौण तथा महत्वहीन हैं। निरन्तर अध्ययनरत रहे क्रोचे के विचारों में स्वाभाविक रूप से ही कुछ परिवर्तन आते रहे, जिसके फलस्वरूप उनकी अवधारणाओं का स्वरूप बदला और कुछ विशिष्ट मुद्दों पर विचार धारा बदली। परन्तु उनकी मूल प्रत्यवादी दृष्टि यथावत् बनी रही है। इटली के शिक्षामंत्री रहे क्रोचे की गणना मृत्यु के बाद आज भी प्लेटो, भरत, अरस्तू, दण्डी, कुन्तक, डीडेरोट, जानसन, वाल्टेयर, कांट, शिलर, हीगेल, मार्क्स तथा फ्रायड के साथ की जाती है।

13.5 बेनेदेतो क्रोचे के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु

बेनेदेतो क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक था। उन्होंने मानसिक क्रियाओं को ही मान्यता प्रदान की और बाह्य उपकरणों को केवल गौण साधन माना। श्री सत्यदेव मिश्र ने बेनेदेतो क्रोचे द्वारा बताये गये चार स्तरों को आत्मसंवेदन, अभिव्यंजना, आनन्द व अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया। बेनेदेतो क्रोचे के अनुसार आनन्द अनुभूति में तो है ही, पूर्ण आनन्द अभिव्यंजना में भी है। जब तक आत्मसंवेदन, सहजानुभूति या अन्तःसंस्कारों का उद्बोधन अभिव्यक्ति के रूप में नहीं होगा वह पूर्ण अभिव्यंजना न होकर अभिव्यंजना से पूर्व की स्थिति होगी।

बेनेदेतो क्रोचे के सिद्धान्त का मूल विचार सभी प्रकार की कलाओं, सौन्दर्य और आत्मानन्द पर आधारित है। उनका मानना है कि कलारूपी सहजानुभूति (आन्तरिक अभिव्यंजना) का बिम्बात्मक होना ही सफल है, जो कलाकार को भीतर ही भीतर मिलने वाले आनन्द के साथ जोड़ता है। बेनेदेतो

क्रोचे कलावादी हैं, इसीलिए कला को अपने मूल उद्देश्य में नैतिकता या उपयोगिता से मुक्त रखते हैं। उन्होंने किसी भी प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्ति को स्वान्तः सुखाय मानते हुए आन्तरिक अभिव्यंजना का उद्देश्य माना है।

बेनेदेतो क्रोचे, हीगेल से अत्यन्त प्रभावित थे, परन्तु उन्होंने हीगेल को पूर्ण रूप से नहीं स्वीकारा। हीगेल जहाँ कला को पक्ष, धर्म को विपक्ष और दर्शन को दोनों का समन्वित पक्ष मानते हैं वहीं बेनेदेतो क्रोचे, हीगेल के कला सम्बन्धी विचारों को त्रुटिपूर्ण मानते हैं। हीगेल ने आत्मा की तीन प्रवृत्तियाँ (ज्ञानात्मक प्रवृत्ति(पक्ष), व्यवहारिक प्रवृत्ति(विपक्ष), आध्यात्मिक प्रवृत्ति(समन्वय) मानी थी जबकि बेनेदेतो क्रोचे ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ऐस्थेटिक' में मानव की आत्मा को ही चरम यथार्थ मानते हुए आत्मा की केवल दो मूल क्रियायें मानीं' 1. सैद्धान्तिक 2. व्यावहारिक क्रिया। सैद्धान्तिक क्रिया के भी दो भेद सहजानुभूति और विचार क्रिया और व्यावहारिक क्रिया के भी दो भेद आर्थिक या निजी योग-क्षेम से सम्बन्धित और नैतिक माने। सहजानुभूति को बेनेदेतो क्रोचे ने स्वयं प्रकाशमान ज्ञान माना और उनके अनुसार यह अभिव्यंजना है। सहजानुभूति मनुष्य की पूर्ण स्वतंत्र क्रिया है। जिसे स्वयं प्रकाश्य या प्रातिभ क्रिया भी कह सकते हैं। वैचारिक यथार्थ को उन्होंने प्रत्ययात्मक यथार्थ कहा है। यह प्रत्ययात्मक यथार्थ या व्यवहारिक क्रियाएँ सैद्धान्तिक क्रियाओं पर आधारित रहती है क्योंकि इन व्यवहारिक क्रियाओं के मूल में मानवीय इच्छा कार्य करती है और इच्छा के लिए वस्तुओं का सहज ज्ञान आवश्यक है। तृतीय क्रिया सामान्य रूप में संकट या इच्छा शक्ति पर आधारित है। जीवन के लिए उपयोगी ये क्रियाएँ आर्थिक सिद्धान्तों पर आधारित है। बेनेदेतो क्रोचे की अन्तिम प्रक्रिया संकल्प या इच्छा शक्ति पर आधारित है जिसका उद्देश्य नैतिक है। बेनेदेतो क्रोचे ने सौन्दर्यशास्त्र, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र को इन चार यथार्थ से जोड़ा है।

बोध प्रश्न-1

टिप्पणी-क. अपने उत्तर के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग किजिए।

(1) दो-तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए-

1. बेनेदेतो क्रोचे का जन्म और मृत्यु कब हुई?

.....

2. क्रोचे के किस निबंध के माध्यम से उनकी 'अभिव्यंजनावादी विचारधारा का पता चलता है?'

.....

.....

.....

3. क्रोचे के सौंदर्यशास्त्रीय निबंधों के संग्रह का नाम व प्रकाशन वर्ष बताइए?

.....

4. क्रोचे के सिद्धान्त का मूल विचार किस पर आधारित है?

.....

13.6 बेनेदेतो क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

बेनेदेतो क्रोचे का अभिव्यंजनावाद- बेनेदेतो क्रोचे के सिद्धान्त को अभिव्यंजनावाद के नाम से जाना जाता है जिसके महत्वपूर्ण बिन्दु निम्नवत् हैं-

13.6.1 सहजानुभूति

बेनेदेतो क्रोचे सौन्दर्य को सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार काव्यात्मक अभिव्यक्ति संवेगों की सीधी अभिव्यक्ति न होकर सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति है। सहजज्ञान से बेनेदेतो क्रोचे का तात्पर्य किसी वस्तु का पूर्ण रूप से गढ़ा हुआ एक मानसिक चित्र है। सहजज्ञान अपने आप में प्रतिबिम्ब या प्रतिच्छवि है जो बाह्य वस्तुओं को देखने से दर्शक के मन में उत्पन्न होती है। इन्हीं मानसिक चित्रों या बिम्बों द्वारा संवेगों की अभिव्यंजना होती है। संवेगों का अस्तित्व तब तक संभव नहीं जब तक अभिव्यक्ति न हो और बिम्ब का अस्तित्व संवेग की अभिव्यंजना में ही संभव है। सहज ज्ञान द्वारा वस्तुओं के बिम्बों या भावों का निर्माण होता है और बौद्धिक ज्ञान द्वारा सामान्य विचारों का बोध होता है इस कारण सहज ज्ञान का सम्बन्ध कला के साथ है और बौद्धिक ज्ञान का सम्बन्ध विज्ञान तथा दर्शन से है। सामान्य व्यक्ति और कलाकार की सहजानुभूति अर्थात् आन्तरिक अभिव्यंजना में अन्तर होता है। सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कलाकार की सहजानुभूति व्यापक होती है। कलाकार की अभिव्यक्ति में उसके स्वयं प्रकाश ज्ञान और कल्पना का सुन्दर संयोग होता है।

सहज ज्ञान यांत्रिक और निष्क्रिय न होकर एक ऐसा ज्ञान है जो हृदय में सीधा उतर आता है। यह प्रभाव की सक्रिय अभिव्यंजना है। किसी भी कलाकार या चित्रकार द्वारा किसी वस्तु का झलक भर देख लेना सहज ज्ञान नहीं है। यह तब ही सहज ज्ञान होगा जब उसका बिम्बों के माध्यम से पूर्ण मानसी प्रत्यक्षीकरण होकर अन्तर्मन में अभिव्यंजित हो जाएगा।

सहजानुभूति और बौद्धिक ज्ञान में बेनेदेतो क्रोचे के अनुसार प्याप्त अन्तर है। सहजानुभूति स्वयं प्रकाशित है और बौद्धिक ज्ञान आहरित है। सहजानुभूति और प्रत्यक्षबोध में भी बेनेदेतो क्रोचे के अनुसार काफी अन्तर है क्योंकि सहजानुभूति में यथार्थ और अयथार्थ में कोई अन्तर नहीं होता

जबकि प्रत्यक्ष-बोध में होता है। उनके अनुसार तो सहजानुभूति ऐन्द्रिय संवेदनाओं, स्मृतियों और संस्कारों से भिन्न है। उन्होंने अन्ततः माना कि अभिव्यंजना सहजानुभूति का एक अंग है। सहजानुभूति की क्रिया उसी अंश तक सहजानुभूति है जहाँ तक वह उसे अभिव्यक्त करती है। सहजानुभूति अभिव्यंजना का कोई न कोई रूप ढँढ लेती है। वह चित्र, शब्द, संगीत या अन्य किसी भी रूप में हो सकता है।

मनुष्य को इन्द्रिय जनित अर्थात् संवेदन होता है जो मस्तिष्क में अरूप रहता है। प्रत्यक्ष अनुभूति से हमारी निष्क्रिय आत्मा पर बाह्य वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है। बेनेदेतो क्रोचे ने प्रत्यक्ष अनुभूति और संवेदना को वस्तु कहा है, जिसे मानव की आत्मा महसूस तो करती है परंतु उत्पन्न नहीं करती। जो प्रत्यक्ष अनुभूति या संवेदना या वस्तु मानस में अरूप की स्थिति में रहती है वह आत्मा की क्रिया-अर्थात् कल्पना के साथ एकाकार होकर रूप या अभिव्यंजना के लिए आवश्यक आधार के रूप में संवेदना रूपी वस्तु को तथा आत्मिक क्रिया रूपी कल्पना को जन्म देती है। बेनेदेतो क्रोचे की दृष्टि में यही कल्पना युक्त स्वयं प्रकाश्य ज्ञान एक अलौकिक शक्ति है जो क्षण भर में किसी दृश्य या भाव को अपनाकर उसे साकार और मूर्त रूप प्रदान करती है।

13.6.2 सहजानुभूति और कला

दार्शनिक बेनेदेतो क्रोचे ने अपनी पुस्तक 'सौन्दर्य सिद्धान्त' में सहजानुभूति को कला के रूप में स्वीकार किया है। सहजानुभूति एक ऐसी सुन्दर आंतरिक अभिव्यंजना है जो कलाकार को आनन्द मग्न कर देने में सफल होती है। अभिव्यंजना की सफलता उसके सुन्दर रूप में अभिव्यक्त होने पर ही है।

प्राकृतिक सौन्दर्य को बेनेदेतो क्रोचे ने सौन्दर्य का पुनर्निर्माण करने वाली प्रेरणा मात्र माना है। बेनेदेतो क्रोचे ने कला-कर्म को सदैव आन्तरिक माना है। जो कुछ बाह्य है वह काव्य नहीं है। संवेदनाओं को अभिव्यंजना का रूप देते ही कला-कार्य समाप्त हो जाता है। कवि या कलाकार मानस से शब्द प्राप्त कर किसी रूप या प्रकृति को निश्चित कर लेते हैं।

13.6.3 सहजानुभूति और कल्पना

बेनेदेतो क्रोचे ने कलाकार की कल्पना को उसकी आत्मा की सुन्दर दृष्टि माना है। आत्मा की दृष्टि जिस प्रकार की होगी उसी प्रकार का रूप वह बाह्य वस्तु को प्रदान करेगी। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक कलाकार की निजी विशेषता होती है। बेनेदेतो क्रोचे ने आन्तरिक अभिव्यंजना को महत्व देते हुए बाह्य अभिव्यंजना को इतना महत्व नहीं दिया है। उनके अनुसार सहजानुभूति व्यक्तिनिष्ठ होती है जो व्यक्ति में निहित कल्पना के कारण कला की उत्पादक बन जाती है। उन्होंने कल्पना को रूपात्मक निर्माणात्मक, वैशिष्ट्यपूर्ण माना है। आत्मा कल्पना के कारण ही सहज ज्ञान को निर्माण, रूप विधान और अभिव्यंजना के माध्यम से ग्रहण करती है।

13.6.4 कला की अखण्डता

बेनेदेतो क्रोचे ने कला को स्वयं में पूर्ण और उसके सौन्दर्य को अखण्ड माना है। उनके अनुसार सौन्दर्य की मात्रा और कला का वर्गीकरण नहीं हो सकता। उनका मानना है कि कलाकृति को हम खण्डों में; कविता को दृश्यों, उपाख्यान, उपमाओं और वाक्यों में; एक चित्र को अलग-अलग आकृतियों और वस्तुओं, पृष्ठभूमि, पर भूमि आदि में विभक्त करते हैं- यह क्रिया एकता का विरोध करती हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार का वर्गीकरण कृति को उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं, जिस प्रकार जीव को हृदय, मस्तिष्क, धमनियों मांसपेशियों में बाँट देना जीवित प्राणी को शव में बदल देते हैं। उनका मानना है कि कला विभिन्न श्रेणियों और कोटियों में निर्धारित नहीं की जा सकती। जैसे सौन्दर्य का एक अखण्ड प्रभाव है ठीक उसी प्रकार कला सौन्दर्य भी उसकी अखण्डता में रहता है।

13.6.5 विषय और शैली में अभिन्नता

बेनेदेतो क्रोचे अनुभूति और अभिव्यक्ति को एक ही मानते हैं। इसीलिए कला को विषय-वस्तु और उसकी शैली से अभिन्न घोषित करते हैं। उनके अनुसार कलाकार अपनी सहजानुभूति को अभिव्यंजना का रूप देता है तो उसमें कुछ नया नहीं जोड़ता। शैली के द्वारा वह विषय-वस्तु को प्रस्तुत नहीं करता अपितु विषय ही शैली के रूप में प्रकट होता है।

13.6.6 कलाकार के गुण

क्रोचे ने कला सृजन की प्रक्रिया को विश्लेषित करते हुए कलाकार में चार गुणों का होना आवश्यक माना है। वे हैं- सजग इच्छाशक्ति, कला सृजन के विभिन्न साधनों के उपयोग का ज्ञान व अभ्यास, चिंतन और कल्पना शक्ति। सहज सजग इच्छा शक्ति ही कलाकार को सृजन के लिए प्रेरित करती रहती है। यदि कलाकार को कला के माध्यम का ज्ञान नहीं है अथवा उसमें अभ्यास की कमी है तब भी कला की सृष्टि बाधित होगी। कलाकार में चिंतन की क्षमता आपेक्षित है। निरंतर चिंतन अभिव्यक्ति के अविरल प्रवाह को जन्म देता है, जिससे कलाकार आनन्द की अनुभूति करता है। अन्तिम क्षमता कल्पना शक्ति है, जिसके माध्यम से कलाकार कलात्मक बिम्बों का निर्माण कर सकता है।

13.6.7 सामाजिक के संबंध में विचार

अभिव्यंजना को हृदयंगम करने हेतु सामाजिक का सचेत होना भी आवश्यक है। बेनेदेतो क्रोचे के अनुसार सामाजिक के लिए भी कुछ क्षमताएँ अपेक्षित हैं। सामाजिक में तादात्म्यीकरण की क्षमता होनी चाहिए जिससे वह कलाकार द्वारा अनुभूति बिम्बों को पुनः अनुभूत कर सके। इसके लिए उसका तटस्थ होना अनिवार्य है। शीघ्रता, आलस्य, उत्तेजना, और बौद्धिक दुराग्रह या व्यक्तिगत अवधारणाओं के रहते वह कला का सच्चा अनुभव नहीं कर सकता। इसके लिए उसे इन सबसे मुक्त होकर कला का रसास्वादन करना चाहिए। सामाजिक में कला-संबंधी रुचि का होना भी अनिवार्य है।

बेनेदेतो क्रोचे ने कला-सृजन और कला-आस्वादन के कोई स्पष्ट अन्तर नहीं माना। जिस आनन्द की स्थिति में कलाकार कला-सृजन के द्वारा पहुँचता है उसी स्थिति में सामाजिक कला अस्वादन द्वारा पहुँचता है। इतना अवश्य है कि कलाकार की क्षमताएँ अधिक होती हैं जिससे कि वह नेतृत्व करता है और जबकि सामाजिक कलाकार का अनुकरण करता है। क्रोचे ने कलाकार की क्षमता और आलोचक की क्षमता को अभिन्न माना है। उनका स्पष्ट मानना है कि आलोचक को कलाकार के स्तर तक उठना चाहिए।

13.6.8 सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति

बेनेदेतो क्रोचे ने सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति में बहुत बड़ा अन्तर माना है। सामान्य अनुभूति सुख और दुख से जुड़ी है जिसका आधार आर्थिक और व्यावहारिक है। जबकि कला सहजानुभूति से संबद्ध है। सामान्य अनुभूति का क्षेत्र कलाजन्य अनुभूति से पृथक् होता है लेकिन बेनेदेतो क्रोचे ने सामान्य आनन्द और कलाजन्य आनन्द में केवल मात्रा का अन्तर माना है गुण का नहीं। उन्होंने स्पष्ट किया कि नाटक देखते समय जो हम हँसते या रोते हैं या आनन्दानुभव करते हैं वह हमारे सामान्य सुख-दुःख से हलका होता है जबकि सामान्य जीवन का सुख-दुःख वास्तविक और गम्भीर होता है। क्रोचे की विचार धारा को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं-

1. सौन्दर्य सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति है।
2. अभिव्यंजना सहजानुभूति का एक अभिन्न अंग है।
3. कला आन्तरिक अभिव्यंजना है, जो सहजानुभूति के रूप में पूर्ण होती है।
4. सहजानुभूति, अभिव्यंजना और कला तीनों पर्यायावाची हैं।
5. कला में विषय और शैली में अभिन्नता है।
6. कला-सृजन की प्रक्रिया और कला-आस्वादन की प्रक्रिया एक ही है।
7. कला अखण्ड है। इसका तात्त्विक या आंगिक विश्लेषण करना कला की हत्या करना है।
8. सामान्य अनुभूति और कला जन्य अनुभूति में मात्रा का अन्तर है।
9. सहज ज्ञान का सम्बन्ध कला के साथ है और बौद्धिक ज्ञान का संबंध विज्ञान तथा दर्शन से हैं।

13.6.9 अभिव्यंजनावान की विशेषताएँ

श्री सत्यदेव मिश्र ने अभिव्यंजनावान की विशेषताओं को निम्नवत् अभिव्यक्ति दी है-

1. अभिव्यंजनावाद कला, कला के लिए सिद्धान्त का परिपोषक है। कलाकार कला की अभिव्यक्ति के लिए विवश है क्योंकि यह अभिव्यंजना सहजानुभूति का स्वाभाविक उन्मेष है।
2. बेनेदेतो क्रोचे ने सहजानुभूति को ही अभिव्यंजना माना है। उन्होंने अनुभूति और अभिव्यक्ति में उन्होंने कोई भेद नहीं माना है।
3. उन्होंने विषय-वस्तु और शैली में कोई भेद नहीं मानते हुए स्पष्ट स्वीकार किया कि अभिव्यक्त किया हुआ विषय अनुभूत किये गये विषय का ही व्यक्त रूप है।
4. बेनेदेतो क्रोचे की स्पष्ट मान्यता है कि सौन्दर्य अखण्ड है अतः उसे श्रेणी में विभक्त नहीं किया जा सकता।
5. बेनेदेतो क्रोचे समग्रवादी हैं। वे विषय-वस्तु, शैली, पद या भाव- विचार, अलंकार आदि के आधार पर टुकड़ो-टुकड़ो में की जाने वाली कलाकृति की मीमांसा को कलाकृति की हत्या ही मानते हैं। उनका स्पष्ट मानना है कि किसी भी कलाकृति का मूल्यांकन उसके समग्र प्रभाव के रूप में ही किया जाना चाहिए।
6. बेनेदेतो क्रोचे स्पष्ट मानते हैं कि बाह्य अभिव्यंजना के समय कलाकार जीवन तथा जगत के नैतिक बन्धनों से बँध जाता है। उसे अपनी संवेदनाओं का चयन करने के लिए बाधित होना पड़ता है। बाह्य कलाकृति उनकी दृष्टि में विशुद्ध कला-प्रक्रिया नहीं है क्योंकि उसे यहाँ नीति तथा सदाचार के नियमों का पालन करना पड़ता है। पूर्ण व्यक्तित्व के संदर्भ में कवि को सामाजिकता की उपेक्षा नहीं करनी होती।

13.6.10 अभिव्यंजनावाद की सीमाएँ

कतिपय विद्वान, बेनेदेतो क्रोचे के सहज ज्ञान को त्रुटिपूर्ण मानते हैं-

1. बेनेदेतो क्रोचे ने सहजानुभूति को धारणाओं और विचारों से मुक्त माना है। यहीं नहीं उन्होंने सहज ज्ञान को सभी बौद्धिक ज्ञान से मुक्त माना है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार ऐसी सहजानुभूति की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

2. क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति नितान्त आन्तरिक है जो स्थान, काल तथा धारणा से परे है जबकि मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि बिना किसी धारणा के रूप की कल्पना मानव मन के लिए असंभव है।
3. क्रोचे बाह्य अभिव्यंजना को आवश्यक मानकर कलाकार को एक ऐसी स्वच्छन्दता दे देते हैं जो अराजकता और अव्यवस्था में परिणत हो सकती है।
4. क्रोचे ने माना कि कला सहजानुभूति है और सहजानुभूति वैयक्तिक और अभूतपूर्व होती है। वैयक्तिक अनुभूति का पुनर्भाव नहीं होता लेकिन आपत्ति यह है कि यदि अनुभूति का पुनर्भाव नहीं होता तो सहृदय उसका आस्वादन कैसे करेगा?
5. क्रोचे कहते हैं कि कला का अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक कि कलाकार कलम या कूँची नहीं पकड़ता अर्थात् कला तब तक कला है जब तक कि वह मानस प्रक्रिया में रत है। मानस क्षेत्र से निकलकर बाह्य अभिव्यंजना में प्रवृत्त होते ही कला पीछे छूट जाएगी। सामान्य जन उनकी इस कला सम्बन्धी धारणा को हृदयंगम नहीं कर पाते।
6. क्रोचे विषय-वस्तु के चुनाव को भी आवश्यक नहीं मानते। उनकी दृष्टि में कोई भी विषय कला का विषय बनता है पर शर्त है कि उसकी अभिव्यंजना सफल व स्पष्ट हो। इस दृष्टि से तो कलाकार की कोई भी सनक, विकृति, कुरूपता कला के विषय बन जाएंगे।
7. क्रोचे ने कलाकार के मन में अरूप, अस्पष्ट, अर्थहीन प्रभावों की आन्तरिक अभिव्यक्ति को कला कहा है। वस्तुतः कला जीवन से सम्बद्ध है। कलाकार के लिए आवश्यक है कि उसे अभिव्यंजना समाजोपयोगी बनानी पड़ेगी। यह आवश्यक है कि कलाकार के जीवानुभव समग्र मानव जाति के अनुभव हों क्योंकि कला वस्तुतः जीवन की अभिव्यंजना है, कलाकार की व्यैक्तिक अभिव्यंजना नहीं।
8. पाश्चात्य समालोचक जेम्स के अनुसार क्रोचे का सिद्धान्त केवल उसकी ही दिमाग की उपज है, जिसका कहीं अस्तित्व संभव नहीं।

13.6.11 अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद में साम्य और वैषम्य

बेनेदेतो क्रोचे ने सहज ज्ञान को संवेदना तथा प्रभाव से भिन्न माना है। उनके अनुसार संवेदना नितान्त यांत्रिक और निरपेक्ष है जिसमें अन्तर्मन का कोई प्रयोग नहीं रहता। उसके विपरीत सहज ज्ञान में

अन्तर्मन सक्रिय होकर संवेदनाओं से एकाकार हो जाता है। उन्होंने स्पष्ट करते हुए लिखा कि यदि कोई चित्रकार किसी वस्तु की केवल एक झलक मात्र पाता है तो वह सहज ज्ञान नहीं है लेकिन जब वह उसका अन्तर्मन में बिम्ब के माध्यम से प्रत्यक्षीकरण करेगा, उसकी अनुभूति करेगा तो वह सहज ज्ञान है। इस आन्तरिक अभिव्यंजना को ही उन्होंने सहजानुभूति और कला माना है। यह मन के भीतर ही घटित होती है। उन्होंने माना कि मानस काव्य ही काव्य है। कागज पर लिखा काव्य तो अतिरिक्त क्रिया है। आत्माभिव्यंजना के क्षणों में ही कलाकार की कलाकार के रूप में स्थिति है। बाह्य अभिव्यक्ति तो स्मृति की सहायता से दूसरों तक अपनी अनुभूति को पहुँचाने का साधन मात्र है। क्रोचे ने स्पष्ट कहा है कि बाह्य अभिव्यक्ति या शब्दों की उपयोगिता केवल व्यावहारिक है।

क्रोचे और कुन्तक दोनों ही आचार्यों के दृष्टिकोण और सिद्धान्त में अन्तर है, यदि कुछ समानता मिलती भी है तो केवल इसी कारण काव्य-रचना के कुछ सिद्धान्त शाश्वत व सार्वभौमिक होते हैं। कतिपय समानता निम्नवत् हैं-

1. दोनों ने ही काव्य के लिए कल्पना को एक अनिवार्य तत्व के रूप में देखा है। क्रोचे ने सहजानुभूति को कल्पनाजन्य क्रिया माना है। क्योंकि कल्पना ही सहजानुभूति को बिम्बों के माध्यम से मूर्त नहीं करता लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से उसे शक्ति की ओर संकेत करता है जिससे उक्ति-वैचित्र्य और अर्थ में चमत्कार उत्पन्न होता है।
2. दोनों ने ही अभिव्यंजना के सौन्दर्य को अखण्ड रूप में देखा है क्योंकि उनके अनुसार सफल अभिव्यंजना का नाम सौन्दर्य है। इसलिए कुन्तक ने रीतियों के उत्तम, मध्यम या अधम भेद नहीं माने-“न च रीतीनाम् उत्तमाधम-मध्यम भेदेन त्रैविध्यम् व्यवस्थापयितुम् नाट्यमा” इसी प्रकार क्रोचे ने भी अभिव्यक्ति में सौन्दर्य की न्यूनाधिकता को स्वीकार करना अभिव्यक्ति को ही असफल बनाना माना है।
3. दोनों ने ही अभिव्यंजना को काव्य का प्राण तत्व माना है। दोनों के ही अनुसार वस्तु का इतना महत्व है जितना अभिव्यंजना का है, क्योंकि दोनों ने ही सौन्दर्य का निवास वस्तु या भाव में न मानकर उक्ति में माना है।
4. दोनों ही कलावादी आचार्य हैं।

दोनों के ही सिद्धान्त में असमानताएँ निम्नवत् हैं-

1. अभिव्यंजना को ही काव्य स्वीकार करने वाले दोनों आचार्यों के अर्थ में भिन्नता है। क्रोचे द्वारा प्रयुक्त अभिव्यंजना का वह अर्थ नहीं जो कुन्तक का है। कुन्तक ने आलंकारिक उक्ति,

वैधग्यपूर्ण शैली व कलात्मक अभिव्यक्ति पर बल देते हुए चमत्कार पूर्ण उक्ति को काव्य माना। इसके विपरीत दार्शनिक बेनेदेतो क्रोचे ने सहजानुभूति को अभिव्यंजना माना। उनके लिए अनुभूत वस्तु से अलग शैली का कोई अस्तित्व नहीं है। मानस-काव्य को ही काव्य मानते हुए शब्द-बद्ध काव्य को उन्होंने महत्व नहीं दिया। इस दृष्टि से जहाँ कुन्तक अभिव्यंजना को एक बाह्य क्रिया मानते हैं, वहीं बेनेदेतो क्रोचे अभिव्यंजना को आन्तरिक क्रिया स्वीकार करते हैं।

2. कुन्तक के सिद्धान्त में अलंकारों के लिए अवकाश है लेकिन अभिव्यंजनावाद में अलंकार की सत्ता ही अमान्य है। सहज अभिव्यक्ति के रूप में अलंकार आ जाये तो अलग बात है।
3. वक्रोक्ति का आधार कवि-कौशल है। अतः उसका रस से घनिष्ठ और अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, लेकिन अभिव्यंजना सहजानुभूति पर आश्रित होने के कारण रसान्वित होती है।
4. वक्रोक्ति का सम्बन्ध बुद्धि से है। 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' में 'भंगी' शब्द चमत्कार का अर्थ देता है और 'चमत्कार' बुद्धि से ही उत्पन्न किया जा सकता है जबकि अभिव्यंजना कल्पना प्रेरित है।
5. वक्रोक्ति वाद कला के मूर्त रूपों पर आधारित है जबकि अभिव्यंजनावाद में सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया ही सब कुछ है।
6. वक्रोक्ति का सम्बन्ध केवल काव्य से है, अन्य ललित कलाओं से नहीं, जबकि अभिव्यंजना सभी कलाओं में अपेक्षित है। इस दृष्टि से वक्रोक्ति का क्षेत्र अभिव्यंजना से संकुचित है।
7. कुन्तक काव्य में क्रोचे की अपेक्षा वस्तु तत्व को अधिक स्वीकृति देते हैं। जबकि क्रोचे वस्तु को अरूप संवेदन जाल मानते हैं, जिसका अभिव्यंजना के बिना कोई अस्तित्व नहीं है।
8. क्रोचे ने विषय और शैली का भेद नहीं माना है, जैसे फिल्टर में पानी छानने पर जल थोड़े से परिवर्तन के साथ पुनः प्रकट हो जाता है, ठीक उसी प्रकार अभिव्यक्त विषय (विषय शैली) अनुभूत विषय का व्यक्त रूप है। इसके विपरीत कुन्तक की दृष्टि में विषय और शैली में अन्तर हो सकता है। उन्होंने शैली के भेदों में वर्ण-विन्यास वक्रता, पद-परार्ध, वक्रता, प्रबन्ध

वक्रता आदि अनेक भेद माने हैं। कुन्तक ने उक्ति और अभिव्यंजना को अखण्ड माना जबकि कुन्तक की बहिर्मुखी दृष्टि उक्त को खण्ड-खण्ड रूप में देखती है।

9. क्रोचे ने काव्य का लक्ष्य स्वान्तः सुखाय माना है जबकि कुन्तक सहृदय के मन को प्रसन्नता देने का भी लक्ष्य मानते हुए इसे 'परजन हिताय' भी बना देते हैं।
10. क्रोचे ने सहजानुभूति को काव्य की आत्मा माना जबकि कुन्तक ने कवि-व्यापार को। यहाँ क्रोचे सहजानुभूति के रूप में केवल भावन-व्यापार में ही काव्य की आत्मा को देख रहे हैं, रचना-प्रक्रिया को नहीं। वहीं कुन्तक वक्रता को कवि की अन्तः प्रेरणा मानते हुए भी रचना-कौशल के महत्व को भी स्वीकार करते हैं।
11. कुन्तक की दृष्टि में चमत्कार पूर्ण, चमत्कार हीन उक्ति, वार्ता और वक्रोक्ति में भेद है। वहीं क्रोचे की दृष्टि में चमत्कार पूर्ण, चमत्कार हीन, वक्र और ऋजु उक्ति में कोई भेद नहीं है।
12. क्रोचे उस आत्मिक सौन्दर्य को महत्व देते हैं जो उसे सहजानुभूति के क्षण में प्राप्त था न कि उस बाह्य प्रयास को जिसे कुन्तक महत्व देते हैं और जिसे वे अभ्यास द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि कुन्तक और क्रोचे की मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर है। कुन्तक रचना-कौशल पर बल देते हैं जबकि क्रोचे इसके प्रति उदासीन हैं। क्रोचे का तो स्पष्ट मानना है कि आन्तरिक अभिव्यंजना बाह्य अभिव्यंजना को स्वतः ही सुन्दर बना देती है। इसके लिए शाब्दिक अलंकरणों की कोई खास आवश्यकता नहीं है।

क्रोचे की विचारधारा पर भले ही कितने आक्षेप लगे हो, अभिव्यंजनावद साहित्य के क्षेत्र में एक सशक्त और महत्वपूर्ण वाद है। अभिव्यंजना शब्द के अन्दर केवल अभिव्यक्ति ही नहीं अनुभूति पक्ष भी समाहित है। भारतीय समालोचकों में बाबू गुलाबराय, डा० सुधांशु और डा० नगेन्द्र अभिव्यंजनावद से सर्वाधिक प्रभावित हैं। क्रोचे मूलतः दार्शनिक थे, अतः उनका अभिव्यंजनावद दर्शन के क्षेत्र में एक अनूठी कृति है।

बोध प्रश्न -

(2) नीचे दिए गए कथनों में से कुछ सही हैं, कुछ गलत। उपर्युक्त चिह्न लगाकर स्पष्ट कीजिए।

1. सम्पन्न परिवार में जन्म लेने के कारण उनकी स्थिति अच्छी थी।

2. क्रोचे मार्क्सवाद के कट्टर आलोचक थे।
3. क्रोचे का कला संबन्धी मूलग्रंथ इस्टिटिका 1905 में प्रकाशित हुआ।
4. 'ला क्रितीका' पत्रिका 1902 में निकाली गई।
5. क्रोचे अनुभूति और अभिव्यक्ति को भिन्न-भिन्न मानते हैं।

13.7 बेनेदेतो क्रोचे का महत्व और प्रासंगिकता

बेनेदेतो क्रोचे यूरोप के आधुनिक युग के एक ऐसे मूर्धन्य कोटि के विचारक थे जिनके सिद्धान्तों ने यूरोपीय साहित्य-जगत में एक अद्भुत वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। उन्हें अभिव्यंजनावाद का प्रवर्तक माना जाता है। इटली के जन मानस को उन्होंने अपने विचारों से इतने गहरे रूप से प्रभावित किया कि 1900 ई० से 1950 तक की इटली को क्रोचे की इटली कहना ही सही प्रतीत होता है।

क्रोचे मूल रूप से काव्यशास्त्रीय विचारक न होकर आत्मवादी दार्शनिक थे। आरम्भ में भक्तिवाद से प्रभावित क्रोचे आगे चलकर मार्क्सवाद के कट्टर विरोधी बन गये थे। आधुनिक युग के भौतिकवाद के विरुद्ध क्रोचे ने अपने ही ढंग से आत्मा की अन्तः सत्ता की प्रतिष्ठा की थी। काव्यशास्त्र विषय न होने पर भी उन्होंने आत्मा की एक विशिष्ट क्रिया के रूप में सौन्दर्य सिद्धान्त की विवेचना की थी। उनके 'सौन्दर्य सिद्धान्त के प्रभाव ने कला और साहित्य के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में इतना व्यापक रूप धारण कर लिया कि उनके दर्शन की अपेक्षा सौन्दर्य शास्त्र का ही प्रचार और प्रसार अधिक हुआ। उनके इस सौन्दर्य-सिद्धान्त ने ही यूरोप में अभिव्यंजनावाद नामक एक सर्वथा नवीन साहित्यिक-सम्प्रदाय को जन्म दिया था, जो मध्ययुगीन कलावाद का ही एक अभिनव रूप था। अभिव्यंजना को ही सर्वेसर्वा मानने वाले क्रोचे मानते हैं कि अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है।

क्रोचे के पूर्व भी दार्शनिक सौन्दर्यानुभूति के संदर्भ में वस्तु तथा चेतना के सापेक्ष महत्व पर विचार करते रहे। क्रोचे ने कला के संदर्भ में बाह्य जगत की सत्ता तथा उपयोगिता, दोनों को ठुकराया। क्रोचे के काव्य दर्शन में सूक्ष्म उद्भावनाएँ हैं। विषय-निरूपण गंभीर होते हुए भी विशद् है। अतिवादिता से संतुलन अनेक स्थानों पर बाधित होने पर भी बीसवीं शताब्दी के कला विवेचकों और सौन्दर्य शास्त्रियों में वे निःसन्देह स्थायी महत्व के अधिकारी हैं। मूलतः अभिव्यंजनावाद कला की रचना प्रक्रिया का सिद्धान्त है।

क्रोचे प्रासंगिक इसलिए भी हैं उनके प्रभाव के कारण कला और साहित्य को दार्शनिक, बौद्धिकता, नैतिकता, एवं उपयोगिता के नियंत्रण से मुक्ति मिली तथा साथ ही शैली के बाह्य एवं आरोपित चमत्कारिक तत्वों की अपेक्षा अनुकृति की सहज अभिव्यक्ति को बल मिला। अतः कला का लक्ष्य केवल कला या सौन्दर्य मानने वालों की दृष्टि से क्रोचे का महत्व अत्यधिक है।

बोध प्रश्न 3 -

केवल पाँच-छह पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

1. क्रोचे की तद्युगीन परिस्थितियाँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. विषय और शैली में अभिन्नता से कवि का क्या आशय है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

(4) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए

1. क्रोचे नेको ही अभिव्यंजना माना है।

2. क्रोचे नेको संवेदना तथा प्रभाव से भिन्न माना है।

3. सम्पन्न परिवार में जन्म लेने के कारण उनकी.....अच्छी थी।

4. क्रोचे ने काव्य का लक्ष्यमाना है।

5. भारतीय समालोचकों मेंऔरअभिव्यंजनावाद में सर्वाधिक प्रभावित है।

13.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई के उपरांत आप जान चुके हैं कि मूलतः दार्शनिक और सौन्दर्य शास्त्री रहे क्रोचे के पीछे एक ओर कलावादी, व्यक्तिवादी दृष्टि थी तो दूसरी ओर इससे कुछ कम विस्तृत किंतु यथेष्ट

प्रभावशाली अनुभववादी तथा भौतिकवादी दृष्टि। अध्ययन करते हुए उन्होंने अनुभव किया कि कला की सही समझ के लिए मात्र तथ्यों की जानकारी एकत्र करना व्यर्थ है। कलावादी सिद्धान्त के अनुसार कला के मूल्यांकन के लिए सामाजिक, नैतिक, आर्थिक आदि वस्तुपरक कसौटियों का उपयोग अनावश्यक ही नहीं, त्याज्य है। आपने सहजानुभूति के लिए भी कलाकार की चेतना, उसके मानस को ही अंतिम सत्य माना, बाह्य जगत अथवा उसके उपकरणों को नहीं।

13.9 शब्दावली

1. अविरल- निरन्तर
2. सहजानुभूति- मानसिक चित्रों या बिंबों द्वारा संवेगों की अभिव्यंजना ही सहजानुभूति है।
3. आहरित- लिया गया
4. प्रतिपादक - कर्ता, बनाने वाला, प्रस्तुत करने वाला
5. वैयक्तिक - निजी, अपना, प्राइवेट
6. अनुकृति - नकल
7. वैषम्य - अन्तर

13.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न (2) का उत्तर

1. (✓)
2. (✓)
3. (✗)
4. (✓)
5. (✗)

बोध प्रश्न (4) का उत्तर

1. सहजानुभूति
2. सहज ज्ञान
3. आर्थिक स्थिति
4. स्वान्तः सुखाय
5. बाबू गुलाबराय, डॉ० सुधांशु, डा नगेन्द्र

13.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पश्चात्य काव्यानुशीलन, डॉ० मृदुल जोशी, प्र०सं० 2010, प्र० सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
2. पाश्चात्य साहित्य चिंतन, निर्मला जैन/ कुसुम बाँठिया, सं० 2000, प्र० राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लि० जी०-17, जगतपुरी, दिल्ली
3. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, डा० विजयपाल सिंह, प्र०सं०-1999, प्र०- जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, सं० 1999 प्र० विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी।

13.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. बेनेदेतो क्रोचे का जीवन एवं साहित्यिक परिचय देते हुए उसके प्रमुख साहित्य सिद्धान्तों का समीक्षात्मक विवरण दीजिए।
2. 'अभिव्यंजनावाद' से आप क्या समझते हैं ? सविस्तार विवेचना कीजिए तथा अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति सिद्धान्त में साम्य एवं वैषम्य स्पष्ट कीजिए।

इकाई 14 टी0एस0 इलियट : परिचय एवं सिद्धांत

- 14.1 प्रस्तावना
- 14.2 उद्देश्य
- 14.3 इलियट तत्कालीन परिस्थितियाँ और साहित्यिक परिवेश
- 14.4 टी0एस0 इलियट: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ
- 14.5 टी0एस0 इलियट के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु
 - 14.5.1 क्लासिकवाद: अर्थ एवं अभिप्राय
 - 14.5.2 निर्व्यैक्तिकता का सिद्धान्त
 - 14.5.3 कविता के तीन स्वर
 - 14.5.4 वस्तुनिष्ठ समीकरण का सिद्धान्त
- 14.6 काव्यभाषा सम्बन्धी विचार
- 14.7 टी0एस0 इलियट का महत्व और प्रासंगिकता
- 14.8 सारांश
- 14.9 शब्दावली
- 14.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 14.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 14.12 निबंधात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अंतर्गत सम्मिलित है। इस के पूर्व आपने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विषय में विस्तार से अध्ययन कर लिया है।

प्रस्तुत इकाई में आप आधुनिक यूरोप (पाश्चात्य) के सर्वाधिक चर्चित कवि, विचारक एवं साहित्यशास्त्री टी०एस० इलियट के व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व के विषय में विस्तार से अध्ययन करेंगे।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप आधुनिक पश्चिम के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिवेश के अध्ययन के साथ-साथ महान विचारक इलियट के साहित्यिक अवदान एवं प्रासंगिकता को समझ सकेंगे।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप-

1. पाश्चात्य विचारक टी०एस०इलियट के जीवन परिचय तथा तद्युगीन परिस्थितियों से अवगत हो सकेंगे।
2. वर्तमान पाश्चात्य साहित्य के विकास में टी०एस०इलियट की सही परख और पहचान कर सकेंगे।
3. टी०एस०इलियट की विषयवस्तु तथा पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।
4. वर्तमान परिवेश में इलियट की महत्ता और प्रासंगिकता को समझ सकेंगे।

14.3 इलियट: तत्कालीन परिस्थितियाँ और साहित्यिक परिवेश

इलियट की गणना बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रभावशाली और समर्थ समीक्षकों में की जाती है। सन् 1915 से आपने लेखन प्रारम्भ करने वाले इलियट के समय का अंग्रेजी काव्य हार्सोन्मुख और आलोचना दिशाहीन थी। 19वीं शताब्दी के आरम्भ में रोमान्टिक कवियों (वर्ड्सवर्थ कॉलरिज तथा शैली आदि) ने जिस आलोचना का सूत्रपात किया था उसमें कवि की वैयक्तिकता, भावना और कल्पना का प्राधान्य था। इसके बाद वैयक्तिकता के इस अतिरेक को अवैयक्तिकता से संतुलित करने का प्रयास मैथ्यू आर्नल्ड ने किया लेकिन साहित्य की अपेक्षा संस्कृति और काव्य की अपेक्षा धर्म की ओर उन्मुख होने के कारण आपेक्षित सफलता उन्हें नहीं मिली। इसी दौरान 19वीं शताब्दी के

अंतिम चरण में वाल्टर पेटर (1809-93) और आस्कर वाइल्ड (1856-1900) द्वारा प्रवर्तित कलावाद (कला, कला के लिए) अपनी अतिवादी भंगिमा के साथ साहित्य में अवतरित हुआ। इन्हीं में से सेन्ट्सबरी की आलोचना ऐतिहासिक और जीवनी मूलक थी अर्थात् आलोचना की इन पद्धतियों में कवि की प्रधानता और कृति की गौणता थी।

इन सभी की प्रतिक्रिया स्वरूप इलियट ने कहा कि सच्ची आलोचना तथा परिशंसा का लक्ष्य कवि नहीं बल्कि काव्य है। इसी एक कथ्य के माध्यम से इन्होंने पूरी एक शताब्दी की व्यक्तिवादी आलोचना को चुनौती ही नहीं दी वरन् उसे एक नया मोड़ भी दिया। अपने लेख 'ट्रेडिशन एण्ड दि इन्डिविजुअल टेलैन्ट' के द्वारा इन्होंने रोमान्टिक सम्प्रदाय की व्यक्तिवादिता के बदले परम्परा का महत्व स्थापित किया और परम्परा के अन्तर्गत ही वैयक्तिक प्रज्ञा की सार्थकता प्रदर्शित की।

इससे इतर साहित्यिक परिवेश की बात की जाए तो इलियट की सृजनशीलता, आलोचना, कर्तव्य की दृष्टि से ही नहीं अपितु कीर्ति की दृष्टि से भी परस्पर सहायक और पूरक है। सन् 1915 में उनके लंदन पहुँचने पर इन्हें दो समर्थ साहित्यिकारों के निकट संपर्क में आने का मौका मिला। टी0ई0ह्यूम और एजरा पाउण्ड, दोनों बिम्बवादी आन्दोलन के प्रतिभाशाली तथा प्रभावशाली नेता थे। इन दोनों के सम्पर्क में आते ही न केवल इलियट के चिंतन को एक नई दिशा मिली अपितु उन्हें अपार यश भी प्राप्त हुआ।

'दि वेस्टलैण्ड' के प्रकाशित होने से पूर्व इलियट की कुछ कविताएँ और समीक्षाएँ भी आर्यो लेकिन पाठकों को अपनी और आकृष्ट न कर सकीं। 1920 ई0 में इलियट की प्रथम आलोचनात्मक कृति 'दि सैक्रेड वुड' में संग्रहीत लेख 'ट्रेडिशन एण्ड दि इन्डिविजुअल टेलैन्ट' का प्रकाशन न केवल इलियट के लिए अपितु अंग्रेजी साहित्य के लिए भी महत्वपूर्ण घटना साबित हुआ। साहित्य जगत में इस कृति के माध्यम से इलियट ने अभूतपूर्व प्रतिष्ठा पाई।

14.4 टी0एस0इलियट: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ

पाश्चात्य साहित्य जगत में युगान्तकारी और नवीनधारा का आगाज करने वाले विख्यात कवि, नाटककार तथा आंग्ल-अमरीकी नयी आलोचना के जनक टी0एस0इलियट का जन्म 26 सितंबर, 1888 में सेंटलुई(अमरीका) के प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। इनके पितामाह रेवेरेण्ड ग्रीनलीफ इलियट वाशिंगटन यूनिवर्सिटी के संस्थापक तथा 1872 ई0 में उसके चांसलर थे। इनके पिता हेनरी वेयर इलियट एक व्यापारी तथा माँ कवयित्री थीं।

उनकी प्रारम्भिक शिक्षा सेण्टलुई में और उच्च शिक्षा हारवर्ड में हुई। सन् 1909 में बी0ए0 किया तथा एक दो वर्ष फ्रान्स में रहने के बाद सन् 1911 में हारवर्ड वापस लौटकर भारतीय दर्शन का अध्ययन करने लगे। ये हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रो0 इर्विंग बेबिट के शिष्य थे। इनके शिक्षकों में

आयरविंग वैकिवट जैसे मानवतावादी आलोचक तथा जार्ज सांतायना जैसे सौन्दर्यशास्त्री भी थे इलियट पर इन दोनों शिक्षकों का प्रभाव पड़ा। उनके अध्ययन के विषय पूर्व का दर्शन और संस्कृत थे। इनके संस्कृत शिक्षक हारवर्ड के सुप्रसिद्ध विद्वान 'चार्ल्स लैनमैन' थे।

इलियट समकालीन अंग्रेजी कवियों में सर्वाधिक चर्चित व्यक्ति रहे। हारवर्ड के अतिरिक्त इनकी शिक्षा सॉबोन(फ्रांस), फिलिप्स(जर्मनी) तथा ऑक्सफोर्ड(इंग्लैण्ड) विश्वविद्यालयों में भी कुछ समय सम्पन्न हुई।

अपना कार्य-जीवन लड़कों के स्कूल में अध्यापन से शुरू करने वाले इलियट ने 'लायड्स बैंक' में कई वर्ष क्लर्की की और अन्ततः सन् 1917 से पूर्णरूप से लेखन-संपादन और प्रकाशन पर निर्भर रहना शुरू कर दिया। सन् 1913 में इंग्लैण्ड में बसने के बाद इन्होंने ब्रिटिश साहित्यिक पत्रिका 'ईगोइस्ट' के सहकारी संपादन का भार संभालते हुए सन् 1922 में त्रैमासिक समीक्षा-पत्रिका 'क्राइटेरियन' की स्थापना की तथा 1925 में वे 'फेवर एंड फेवर' नामक प्रकाशन संस्थान से जुड़े और अन्ततः उसके निदेशक नियुक्त हुए।

ब्रिटिश नागरिकता (सन् 1927 में) ग्रहण करने के बाद सन् 1948 में इनको साहित्य का नोबेल पुरस्कार और ब्रिटिश 'ऑर्डर ऑफ मेरिट' (ओ0एम0) की उपाधि भी मिली। इलियट दो बार अमरीकी विश्वविद्यालयों में विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में भी आमंत्रित किये गये। आपने सन् 1928 में एंग्लिकन चर्च में दीक्षा ली जिसका इलियट जीवन और चिंतन में विशेष महत्व समझा जाता है।

21वीं सदी के कविता-आन्दोलन को गति और प्रौढ़ता प्रदान करने वाले कवि और आलोचक रहे इलियट की प्रमुख रचनाएँ- 'द लव साँग ऑफ एल्फर्ड प्रूफ्रॉक'(1915), 'द वेस्ट लैंड'(1922) और 'फोर क्वार्टेट्स'(1943) और नाटकों में 'मर्डर' इन द कैथिड्रल'(1935), 'द फेमिली रीयूनियन' (1939) और 'द कॉकटेल पार्टी', (1950) विशेष लोकप्रिय हुई। उनकी समालोचना में 'द सेक्रेड वुड' (1920), होमेज टु जॉन ड्राइडन 'एलिजाबेथेन एसेज'(1932), 'द यूज ऑफ पोएट्री एंड द यूज ऑफ क्रिटिसिज्म'(1933), 'सेलेक्टेड एसेज'(1934) और 'एसेज एन्शोट एंड मार्डन'(1936) विशेष प्रसिद्ध हुई।

काव्य, नाटक, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र पर अपनी लेखनी चलाने वाले इलियट अपने बहुमुखी साहित्य-सृजन तथा मौलिक विचारों के कारण अंग्रेजी-साहित्य के बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक महान् साहित्यकार माने जाते हैं।

बोध प्रश्न 1- नीचे दिए गए कथनों में से कुछ सही है, कुछ गलत। उपर्युक्त चिह्न लगाकर स्पष्ट कीजिए-

- 1) टी0एस0इलियट का जन्म 26 सितम्बर, 1888 में सेंटालुई (अमरीका) के प्रतिष्ठित परिवार में हुआ। ()
- 2) टी0एस0इलियट के पिता रेव0ग्रीनलीफ इलियट थे। ()
- 3) इलियट की प्रारम्भिक शिक्षा सेण्टलुई में और उच्च शिक्षा हारवर्ड में हुई। ()
- 4) इलियट को साहित्य नोबेल पुरस्कार 1948 में मिला। ()
- 5) इलियट के संस्कृत गुरु का नाम प्रो0 इर्विंग बेवित था। ()

बोध प्रश्न 2- दो तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए-

1. इलियट के प्रमुख नाटकों के नाम बताइए?

.....

2. इलियट ने अनेक समालोचना प्रस्तुत की। उनकी विशेष प्रसिद्ध समालोचनाओं के नाम बताइए?

.....

14.5 टी0एस0 इलियट के काव्य-सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु

साहित्य और दर्शन के गहन अध्ययता, कवि और सुप्रसिद्ध समीक्षक टी0एस0इलियट बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रभावशाली और समर्थ समीक्षकों में गिने जाते हैं। इलियट अपना आदर्श साहित्य-चिन्तक अरस्तू को मानते थे। इन्होंने साहित्य की प्राचीन मान्यताओं की पुनः स्थापना की। इन पर बिम्बवाद, प्रतीकवाद, कलावाद और अभिव्यंजनावाद का प्रभाव होने के बाद भी साहित्य में इनके विचार बड़े सन्तुलित थे। बिम्बवादी आन्दोलन में तो एजरा पाउण्ड और टी0एस0इलियट का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इन्होंने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के स्थान पर वस्तुवादी दृष्टिकोण को महत्व प्रदान किया। इनके काव्य-सिद्धान्त को कुछ इस प्रकार से समझा जा सकता है-

14.5.1 क्लासिकवाद

अर्थ एवं अभिप्राय- स्वयं को क्लासिकवादी कहने वाले इलियट क्लासिक का अर्थ परिपक्वता या प्रौढ़ता मानते हैं। उनका निश्चित मानना था कि क्लासिक साहित्य की सृष्टि तभी हो सकती है जब सभ्यता, भाषा और साहित्य प्रौढ़ हो और स्वयं कृतिकार का मस्तिष्क भी प्रौढ़ हो। मस्तिष्क की प्रौढ़ता के लिए इलियट ऐतिहासिक ज्ञान और इतिहास-बोध को जरूरी मानते थे। उनका मानना था कि कवि और साहित्यकार को अपने देश और जाति के इतिहास के साथ-साथ अन्य सभ्य जातियों का भी ज्ञान होना चाहिए। इलियट चरित्र की प्रौढ़ता को भी आवश्यक मानते हैं, क्योंकि उसके बिना आदर्श चरित्र का निर्माण नहीं हो सकता।

इसके साथ-साथ इलियट उत्कृष्ट रचना के लिए भाषा की प्रौढ़ता को भी आवश्यक मानते हैं। भाषा प्रौढ़ हो इसके लिए वे पूर्ववर्ती महान् कवियों और साहित्यकारों की भाषा के अध्ययन को अपेक्षित एवं महत्वपूर्ण मानते हैं। इलियट कहते हैं कि महान् कवि क्लासिक हो, यह आवश्यक नहीं। जहाँ महान् कवि केवल एक विधा में चरम उत्कर्ष तक पहुँचता है और सदा के लिए उसकी सम्भावना को समाप्त कर देता है वहीं क्लासिक कवि वह है जो विधा को ही नहीं, भाषा को भी पराकाष्ठा तक पहुँचाकर उसके आगे के विकास की सम्भावना को समाप्त कर देता है। अतः क्लासिक कवि के लिए मस्तिष्क की प्रौढ़ता, शील की प्रौढ़ता, भाषा-शैली की प्रौढ़ता और दृष्टिकोण की सार्वभौमता अनिवार्य तत्व है। उसमें संकीर्णता और सीमित धार्मिक चेतना नहीं होनी चाहिए। इलियट का क्लासिकवाद और तटस्थता का मत पूर्व के स्वच्छन्दतावाद और व्यक्तिवाद के विरोध में था।

दूसरे चरण में इलियट के परम्परा और इतिहास-बोध की बात की जाए तो वह परम्परा के अन्धानुकरण को नहीं वरन् उसके बोध को जरूरी मानते हैं। ऐतिहासिक बोध से उनका आशय अतीत को वर्तमान में देखना है क्योंकि इतिहास, वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में ही साहित्य के लिए प्रासंगिक होता है और जो आधुनिक दृष्टि में प्रौढ़ता प्रदान करता है। इलियट का परम्परा ज्ञान से आशय रूढ़ि-पालन से नहीं था क्योंकि उसके ज्ञान से उसके प्रति विद्रोह भी पैदा हो सकता है। लेकिन यह स्वीकार्य करना चाहिए या उसके प्रति विद्रोह हो- यह तभी निश्चित हो सकता है, जब उसका सही ज्ञान हो। परम्परा का यही सही ज्ञान एक साहित्यकार को यह ज्ञान देता है कि उसे क्या करना है तथा कृति का परम्परा के बीच मूल्य क्या है? अतः स्पष्ट हो जाता है कि इलियट का मौलिक दृष्टिकोण अतीत को वर्तमान में देखना है।

14.5.2 निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त

इलियट का प्रसिद्ध लेख 'परंपरा और व्यक्ति-प्रज्ञा' इलियट की समस्त आलोचना का आधार है। इनका यह सिद्धान्त कला या कविता में निर्वैयक्तिकता बहुत प्रसिद्ध हुआ। एज़रा पाउण्ड से प्रभावित इलियट का मानना था कि कवि को वैज्ञानिक की भाँति निर्वैयक्तिक होना चाहिए। परम्परा का अनुसरण आवश्यक मानते हुए भी आप वैयक्तिकता के विरोधी हैं। उनका मानना है कि परम्परा के

ज्ञान से आत्मनिष्ठता नियन्त्रित होती है। व्यक्तित्व के सिद्धान्त को न मानने वाले इलियट का मत है कि कवि अपने व्यक्तित्व का अध्ययन नहीं करता है, वह तो किसी वस्तु की अभिव्यक्ति का विशिष्ट माध्यम मात्र है। ऐसे में उसका कर्तव्य बनता है कि वह ईमानदारी के साथ अपने निजत्व से पलायन करके जिसका निरूपण कर रहा हो, उससे पूर्णरूप से एकनिष्ठ हो। वह कहते हैं कि वास्तव में कवि कविता नहीं लिखता, कविता तो स्वयं कवि के माध्यम से प्रकट होती है। समय के चलते उनके इन विचारों में परिवर्तन भी हुआ और उन्होंने निर्वैयक्तिकता के दो रूप स्वीकार किये- प्रथम वह जो कुशल शिल्पी मात्र के लिए सहज या प्राकृतिक होती है तथा दूसरी जो प्रौढ़ कलाकार द्वारा अधिकांश रूप में उपलब्ध की जाती है। अर्थात् उनका आशय है कि कवि के यद्यपि निजी भाव होते हैं, पर वे इस प्रकार अभिव्यक्त होते हैं कि सर्वसाधारण के भाव बन जाते हैं। यही कवि का व्यक्तिगत से पलायन, निर्वैयक्तिकता है।

14.5.3 कविता के तीन स्वर

कविता के तीन स्वर बताने वाले इलियट का कहना है कि प्रथम कविता वह है जिसमें कवि अन्य से नहीं स्वयं से बात करता है, द्वितीय वह जिसमें वह श्रोताओं से बात करता है और तृतीय वह जिसमें कवि स्वयं वक्ता न होकर पात्रों के माध्यम से श्रोताओं से बात करता है। इन्हें हम इस रूप में भी कह सकते हैं- 1. प्रगीत-काव्य, 2 प्रबन्ध काव्य तथा 3 नाटक।

इलियट का इस सम्बन्ध में विचार था कि कविता का अनुवाद नहीं किया जा सकता। वह (कविता) भाव-प्रधान होती है। प्रत्येक राष्ट्र और जाति की अनुभूति शक्ति की अपनी निजी विशिष्टता होती है।

अगर उसके प्रथम प्रकार के स्वर को देखें तो कवि का लक्ष्य सम्प्रेषण अर्थात् दूसरों तक अपने भाव पहुँचाना नहीं होता। वह तो एक प्रकार से भार से व्यथित रहता है और अपनी बात कह उससे छुटकारा पाता है। इस प्रकार की कविता आन्तरिक वस्तु अपना रूप स्वयं निर्मित करने में प्रवृत्त होती है तथा वस्तु और रूप साथ-साथ विकसित होते चलते हैं। इस प्रकार की कविता के सम्बन्ध में इलियट कहते भी है कि कविता स्वयं अवतरित हो जाती है, लिखी नहीं जाती। ऐसी स्थिति में कवि केवल माध्यम होता है। हिन्दी साहित्य की 'नई कविता' इसी का प्रमाण है।

दूसरे स्वर में कविता किसी सजग सामाजिक उद्देश्य, मनोरंजन या उपदेश के लिए के लिए लिखी जाती है। ऐसी कविताओं में कुछ अंश तक 'रूप' पूर्वनिर्धारित होता है। महाकाव्य में भी यही स्वर प्रधान होता है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे और तीसरे स्वरों की कृतियों को इलियट कवि की अचेतावस्था में उद्भूत नहीं मानते। इसमें वह पूर्ण सजग होकर अपने व्यक्तित्व से कृति का निर्माण करता है। वह व्यक्तित्व से पलायन नहीं करता वरन् व्यक्तित्व से निर्माण करता है। इस सम्बन्ध में इलियट ने कहा भी है कि "यदि कवि ने निज से कभी कुछ नहीं कहा, तो उसकी कृति कविता नहीं होगी, शानदार वक्त्र भले ही हो किन्तु यदि कवि ने नितान्त अपने लिए कविता

लिखी है, तो वह एक व्यक्तिगत और अपरिचित भाषा में होगी; जो कविता केवल कवि के लिए होगी वह कविता नहीं हो सकती।” अतः स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यतः कविता में उपरोक्त सभी प्रकार के तत्व विद्यमान रहते हैं।

14.5.4 वस्तुनिष्ठ समीकरण का सिद्धान्त

जब भी कोई कवि या साहित्यकार काव्य रचना में प्रवृत्त होता है तो उसके मूल में प्रेरक भाव कोई एक ही रहता है परन्तु बाद में अनेक भाव, संवेदन तथा विचार परस्पर मिलने लगते हैं और रचना के समापन तक न जाने कितने भावों, संवेदनों तथा विचारों का मिलन उसमें हो चुका होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन अमूर्त भावों का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता और भावक को अप्रत्यक्ष की अनुभूति नहीं हो सकती। ऐसे में प्रश्न उठता है कि इन्हें अनुभूति के योग्य कैसे बनाया जाए अर्थात् कवि के मन से श्रोता के मन तक संप्रेषण कैसे हो? इसी के समाधान हेतु इलियट ने मूर्त-विधान का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि अमूर्त का संप्रेषण नहीं हो सकता, यह सिद्ध है। ऐसे स्थिति में एक ही मार्ग है कि किसी मूर्त वस्तु की सहायता से अमूर्त को संप्रेषित किया जाए। इलियट का इस सम्बन्ध में कथन है, ‘कला में भाव प्रदर्शन का एक ही मार्ग है, और वह यह है कि उसके लिए वस्तुनिष्ठ समीकरण को प्रस्तुत किया जाये। दूसरे शब्दों में ऐसी वस्तु संघटना, स्थिति, घटना-श्रृंखला प्रस्तुत की जाय जो उस नाटकीय भाव का सूत्र हो; ताकि ये बाह्य वस्तुएँ जिनका पर्यवसान मूर्त मानस-अनुभव में हो। जब प्रस्तुत की जायें तो तुरन्त भावोद्रेक हो जाये।’ चाहें तो हम इलियट के इस वस्तुनिष्ठ समीकरण को विभाव-विधान भी कह सकते हैं अर्थात् कलात्मक दृष्टि से यह अनिवार्य है कि भाव की अभिव्यक्ति के लिए जैसा मूर्त-विधान अपेक्षित है वह वैसा ही हो, उसमें कोई कमी या त्रुटि न हो। यदि ऐसा हुआ तो भाव की सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं हो पाएगी और अनुपातत रचना सदोष हो जाएगी। अन्ततः वस्तुनिष्ठता का सिद्धान्त पाश्चात्य साहित्य को इलियट की एक महत्वपूर्ण आलोचनात्मक देन है।

बोध प्रश्न 2 -

1. टी0एस0 इलियट की कविता का क्या उद्देश्य था?

.....

2. बीसवीं शताब्दी के वह तीन समीक्षक कौन हैं जिन्होंने यूरोपीय समीक्षा को गहरे रूप में प्रभावित किया?

14.6 काव्य भाषा सम्बन्धी विचार

कोई भी रचना हो वह अपने आप में किसी न किसी भाव को समाहित किए रहती है। कविता भाव-प्रधान होती है। किसी भी राष्ट्र और जाति की अनुभूति-शक्ति की अपनी निजी विशिष्टता होती है जिसकी अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है। अनुवाद में उसका प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। इलियट भी यही कहते हैं कि कविता अनूदित नहीं हो सकती। ह्यूम ने कहा था कि युग के साथ-साथ कवि की अनुभूति में भी परिवर्तन होता रहता है। अतः परम्पराबद्ध भाषा कवि के नये दृष्टिकोण और अनुभूति को व्यक्त नहीं कर पाती। इसलिए कवि परम्परागत भाषा को छोड़कर नयी भाषा का निर्माण करता है।

कवि की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा ही है। इसी के माध्यम से वह समाज को नवीन संवेदन-शक्ति और भावानुभूतियाँ प्रदान करता है। इन नवीन संवेदनाओं को व्यक्त करने के लिए वह परम्परागत भाषा से संघर्ष करता है और उसे अपनी अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाता है, उसे शक्ति प्रदान करता है तथा शब्दों को नये अर्थ और मुहावरे देता है। कवि की भाषा युग की भाषा के इतनी निकट होनी चाहिए कि श्रोता या पाठक उसे सुनकर या पढ़कर कह उठें कि मैं भी इसी प्रकार से अपनी बात कह सकता। वे मानते थे कि आधुनिक युग की कविता गाने के लिए नहीं बोलने के लिए लिखी जाती है, अतः उसका सम्बन्ध बोलचाल की भाषा से होना चाहिए।

इन सभी विषयों के साथ इलियट ने समीक्षा के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा है। इलियट के अनुसार निष्पक्ष समीक्षा दार्शनिक विवेचक या निष्पक्ष समीक्षक ही कर सकता है, कवि नहीं। कवि तो केवल अपनी कविता के सम्बन्ध में कुछ विचार कर सकता है जिसका केवल सीमित मूल्य होता है। आलोचक में सूक्ष्म व प्रचुर संवेदन शक्ति होनी चाहिए। वह मर्मज्ञ, स्वतन्त्रचेता और पूर्वाग्रह से मुक्त होना चाहिए। समीक्षा का मूलभूत कार्य है रचना की व्याख्या कर उसका बोध कराना तथा उसका आनन्द पाठकों को दिलाना। ऐसा करने से वह लोक की साहित्यिक अभिरूचि बढ़ाता है।

समीक्षा और समीक्षक के साथ इलियट ने धार्मिक साहित्य के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किए। उनका मत है कि धार्मिक साहित्य में काव्यत्व हो सकता है; पर उसे काव्य के लिए पढ़ा नहीं जाता। जो कृति धर्म को काव्य के माध्यम से प्रकट करती है वह उत्कृष्ट नहीं होती, वह प्रचार काव्य है। परन्तु यदि किसी काव्य में बिना प्रयास धार्मिक प्रबुद्धता परिव्याप्त हो, तो वह उत्कृष्ट काव्य हो

सकता है। यदि किसी काव्य में नैतिक, धार्मिक और सामाजिक प्रबुद्धता स्वतः स्फुरित हो तो वह सर्वोत्तम काव्य है। जो साहित्य हमें जीने की कला सिखाये, वह महान् साहित्य है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इलियट बीसवीं शताब्दी के समर्थ समीक्षक थे। उन्होंने उत्कृष्ट और महान् साहित्य को कसौटी भी प्रदान की तथा उसके सृजन की प्रेरणा भी।

14.7 टी0एस0 इलियट का महत्व और प्रासंगिकता

इलियट की गणना बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रभावशाली और समर्थ समीक्षकों में की जाती है। वे आधुनिक युग के न केवल सर्वश्रेष्ठ कवि हैं बल्कि आलोचनात्मक चिन्तवृत्ति के समर्थ व्याख्याता भी हैं। साहित्य के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े सन्तुलित हैं। उन्होंने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के स्थान पर वस्तुवादी दृष्टिकोण को महत्व प्रदान किया।

अपने समय की साहित्याभिरुचि पर इलियट का प्रभाव अप्रतिम है। आपने अंग्रेजी कविता के इतिहास में दरबारी कविता के प्रति रूचि का तिरस्कार किया और परम्परा के महत्वपूर्ण रचनाकारों और युगों का पुनर्मूल्यांकन किया। रोमांटिसिज्म के विरुद्ध अपनी तीव्र प्रतिक्रिया के लिए वे हमेशा याद किये जायेंगे। मिल्टन और उनकी परंपरा की आलोचना करते हुए उन्होंने दांते को, जेकोबियन नाटककारों को, मेटाफिजिकल कवियों को, ड्राइडन और फ्रांसीसी प्रतीकवादियों को साहित्य की वास्तविक 'महान परंपरा' करार देते हुए ऊँचे उठाया। काव्याभिरुचि में परिवर्तन की दृष्टि से उनका यह योगदान उल्लेखनीय माना जाता है। इसमें आश्चर्य नहीं है कि उनके आक्षेपों और वाद-विवादों के केंद्र में रहने के बावजूद बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण आलोचक और 'कवि समीक्षा' के जनक के रूप में इलियट का स्थान पश्चिमी आलोचना में आज भी सुरक्षित है और भविष्य में भी सुरक्षित रहेगा।

बोध प्रश्न 3 - रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

- 1) इलियट के अध्ययन विषय..... थे।
- 2) इलियट की 'द लव साँग ऑफ एल्फर्ड प्रूफॉकमें प्रकाशित हुई।
- 3) ब्रिटिश 'ऑर्डर ऑफ मेरिट' (ओ0एम0) की उपाधि इलियट को सन्..... में मिली।
- 4) इलियट ने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा..... दृष्टिकोण को महत्व प्रदान किया।
- 5) क्लासिक का अर्थ इलियट..... मानते हैं।

14.8 सारांश

इस पूरे विवेचन के बाद यह तो स्पष्ट हो जाता है कि बीसवीं शताब्दी में इलियट पाश्चात्य सभ्यता की एक विशिष्ट देन है। इलियट ने सन् 1915 से अपना लेखन कार्य प्रारम्भ किया तथा हासोन्मुख अंग्रेजी साहित्यालोचना को एक नई दिशा प्रदान की। 20 वीं शती की कविता आन्दोलन को गति और प्रौढ़ता प्रदान करने वाले कवि और आलोचक रहे इलियट अंग्रेजी साहित्य के एक महान आलोचक के रूप में सदैव स्मरणीय रहेंगे।

14.9 शब्दावली

1. हासोन्मुख- गिरती हुई
2. क्लासिकवाद- परिपक्वता या प्रौढ़ता
3. सम्प्रेषण- दूसरे तक पहुँचाना
4. रोमांटिसिज्म- स्वच्छन्दतावाद

14.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क. बोध प्रश्न 1 का उत्तर

1. (✓)
2. (✗)
3. (✓)
4. (✓)
5. (✗)

ख. बोध प्रश्न 3 का उत्तर

1. पौरास्त्य दर्शन और संस्कृत
2. सन् 1915

3. सन् 1948
4. वस्तुवादी
5. परिपक्वता या प्रौढ़ता

14.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र-सं० 1999, प्र० विश्व विद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, 221001
2. पाश्चात्य साहित्य-चिंतन, निर्मला जैन, कुसुम बाँठिया सं०-2000, प्र० राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा०लि०जी 17, जगतपुरी, दिल्ली-110057
3. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र, डॉ० देशराज सिंह भाटी, प्र०1999, प्र० अशोक प्रकाशन 2615, नई सड़क, नई दिल्ली-6
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, डॉ० विजयपाल सिंह, प्र०सं०-1999, प्र० जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
5. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, देवेन्द्रनाथ शर्मा, प्र०स० 1984, प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23 नयी दिल्ली-110002

14.12 निबंधात्मक प्रश्न

3. इलियट का जीवन एवं साहित्यिक परिचय देते हुए उसके प्रमुख साहित्य सिद्धान्तों का समीक्षात्मक विवरण दीजिए।
4. निर्व्यक्तिकता से आप क्या समझते हैं ? सविस्तार विवेचना कीजिए तथा इलियट के प्रमुख साहित्य सिद्धान्तों का परिचय देते हुए साहित्य के परिप्रेक्ष्य में उसके महत्व को प्रतिपादित कीजिए।

इकाई 15 मार्क्सवाद

- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 उद्देश्य
- 15.3 मार्क्सवाद के उदय की पृष्ठभूमि और प्रेरणा स्रोत
- 15.4 मार्क्सवाद की अवधारणा
 - 15.4.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
 - 15.4.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद
- 15.5 मार्क्सवाद के प्रमुख तत्व/विशेषताएँ
- 15.6 मार्क्सवाद और हिन्दी साहित्य
- 15.7 मार्क्सवाद और हिन्दी समालोचना
- 15.8 सारांश
- 15.9 शब्दावली
- 15.10 उपयोगी संदर्भ पुस्तकें

15.1 प्रस्तावना

‘मार्क्सवाद’ शब्द अंग्रेजी के ‘मार्क्सिज्म’ का हिन्दी रूपांतर है। मार्क्सवादी चिन्तन का उद्भव कार्लमार्क्स (1818-1883 ई.) के विचारों से होता है। यह जीवन का सम्पूर्ण दर्शन माना जाता है। मार्क्सवादी दर्शन का मूल लक्ष्य परिवर्तन है। चूँकि परिवर्तन मूलतः क्रियाशीलता का प्रतीक है, इसलिए कुछ विद्वान मार्क्सवाद को क्रियात्मक दर्शन भी स्वीकार करते हैं।

इस इकाई में मार्क्सवाद के उदय की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए उसकी अवधारणाओं, प्रेरणा स्रोतों और मूल विचार बिन्दुओं को स्पष्ट किया गया है।

प्रस्तुत इकाई में हिन्दी साहित्य में मार्क्सवाद के प्रभावों की चर्चा करते हुए प्रगतिवादी साहित्य की प्रवृत्तियों की विवेचना की गई है। साथ ही हिन्दी समालोचना में मार्क्सवादी प्रभावों को विश्लेषित किया गया है जिनका अध्ययन हिन्दी साहित्य और हिन्दी समालोचना को समझने में अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा।

15.2 उद्देश्य

इससे पूर्व की इकाइयों में आप पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के प्रमुख साहित्य सिद्धान्तों से परिचित हो चुके हैं। इस इकाई में आपका परिचय मार्क्सवाद से कराया जायेगा। इसे पढ़कर आप -

- 1 मार्क्सवाद की पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगे।
- 2 मार्क्सवाद दर्शन के विविध प्रेरणा-स्रोतों के बारे में जान सकेंगे।
- 3 मार्क्सवाद की अवधारणा और स्वरूप को समझ सकेंगे।
- 4 मार्क्सवाद के दार्शनिक और सामाजिक पहलुओं को भली-भाँति जान सकेंगे।
- 5 मार्क्सवादी विचारधारा के हिन्दी साहित्य से परिचित हो सकेंगे।
- 6 हिन्दी समालोचना में मार्क्सवादी प्रभाव को समझ सकेंगे।

15.2 मार्क्सवाद के उदय की पृष्ठभूमि और प्रेरणा स्रोत

मार्क्सवाद 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का दर्शन है। इसका उदय तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हुआ। कार्लमार्क्स के समय में औद्योगिक क्रान्ति ने यूरोप में, विशेषतः इंग्लैंड में जटिल आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न कर दी थीं। पूँजीपतियों के शोषण से श्रमिकों की स्थिति गिरती जा रही थी। राज्य इसमें हस्तक्षेप नहीं करता था। फलतः

पूँजीपतियों और श्रमिकों में वर्ग-संघर्ष प्रारम्भ हो गया था। इस संघर्ष में मार्क्स ने स्वयं श्रमिकों का साथ दिया। अपने समय में बदलती परिस्थितियों के प्रति कार्लमार्क्स में शुरूआती दौर में केवल भावनात्मक प्रतिक्रिया थी किन्तु बाद में मार्क्स ने तर्क और वैज्ञानिक पद्धति से इसका गहन अध्ययन किया और आने वाले निष्कर्षों को सैद्धान्तिक रूप दिया। मार्क्सवाद का मूल दर्शन 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' है द्वन्द्व-सिद्धान्त वस्तुतः 'डायलेगो' ग्रीक शब्द से बना है जिसका वास्तविक अर्थ वाद-विवाद करना होता है। प्राचीनकाल में ग्रीक में वाद-विवाद की परम्परा थी जिसमें लोग एक-दूसरे की बातों में तार्किक असंगतियों से अपना विरोध प्रकट करके सत्य का अन्वेषण करते थे। कुछ ऐसे विचारक भी थे जो यह मानते थे कि सत्य की उत्पत्ति दो विरोधी बातों के संघर्ष से होती है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के प्रमुख विचारक प्लेटो की दार्शनिक रचनाएँ भी इस पद्धति का अनुसरण करती हैं। प्लेटो यह मानता था कि द्वन्द्व अर्थात् डायलेक्टिस सत्य को पाने का एक बौद्धिक साधन है। ग्रीकवासियों की द्वन्द्व-कल्पना की मूल प्रकृति को आधुनिक विचारक हीगेल ने ग्रहण किया। हीगेल के अनुसार मनुष्य का सम्पूर्ण इतिहास विरोधी तत्वों के आपसी संघर्षों से निर्मित हुआ है। हीगेल प्रत्ययवादी विचारक था।

कार्लमार्क्स अपने समकालीन और पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विचारों से अत्यंत प्रभावित रहा है। मार्क्सवादी दर्शन की स्थापना के मूल में इनका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इस आधार पर मार्क्सवाद के मुख्यतः चार दार्शनिक स्रोत हैं:-

- 1 ग्रीक भौतिकवाद
- 2 क्लैसिकल जर्मन दर्शन
- 3 फ्रांसीसी समाजवाद
- 4 क्लैसिकल ब्रिटिश समाजवाद

1- ग्रीक भौतिकवादी विचारक डेमाक्रेटस (460-361 ई.पू) और हेरेक्लिटस (540-475 ई.पू) से मार्क्स ने यह ग्रहण किया कि वास्तविकता भौतिकवादी है और इसकी यथार्थ स्थिति निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। भौतिकवादी प्रकृति निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। हेरेक्लिटस ने इससे आगे बढ़कर इस सत्य की ओर भी संकेत किया कि भौतिकवादी प्रकृति में परिवर्तन भी एक निश्चित पद्धति या प्रणाली से होता है। समूचा परिवर्तन विरोधी तत्वों के संघर्ष से होता है। अतः परिवर्तन ही सत्य है और संघर्ष ही वह पद्धति है जिससे परिवर्तन होता है।

2- क्लैसिकल जर्मन दर्शन के अन्तर्गत कार्लमार्क्स प्रत्ययवादी दार्शनिक हीगेल (1771-1831) और फायरबाख (1804-1872) से गहरे प्रभावित रहे हैं। जर्मन दार्शनिक हीगेल का विचार था कि सृष्टि का सारा परिवर्तन विरोधी तत्वों के संघर्ष से होता है। हीगेल की द्वन्द्वात्मक परिवर्तन

प्रणाली को 'परिवर्तनत्रयी' के नाम से जाना जाता है। इस प्रणाली के अनुसार सत्य का कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता। परिवर्तन मात्र ही सत्य है। कार्लमार्क्स ने हीगेल से इसी सत्य को ग्रहण किया किन्तु हीगेल की 'परिवर्तनत्रयी' का सिद्धान्त मनुष्य के विचारों और चेतना के स्तर पर प्रतिष्ठित हुआ था जबकि कार्ल मार्क्स ने इसकी व्यवहारिकता स्वीकार की। हीगेल के प्रत्ययवादी दर्शन से कार्लमार्क्स को पदार्थवादी दर्शन की ओर मोड़ने में जर्मन दार्शनिक फायरबाख (1804-1872 ई.) की दार्शनिक मान्यताओं का महत्वपूर्ण योगदान है। फायरबाख भौतिक पदार्थ को ही सत्य मानता है। इसी आधार पर मार्क्स ने यह स्वीकार किया कि भौतिक पदार्थ सत्य है और विचार उसकी छाया है। इस तरह हीगेल और फायरबाख के दर्शन को समन्वित करके कार्लमार्क्स ने 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के सिद्धान्त को जन्म दिया जो मार्क्सवादी दर्शन का मूल आधार है।

3- फ्रांस का समाजवादी दर्शन समाजवाद के आदर्शों पर प्रकाश डालता है। समाजवादी क्रान्ति किस प्रकार हो, किन वर्गों को किस प्रकार से क्रान्ति के लिए प्रस्तुत किया जाए ये बातें मार्क्स ने फ्रांस के समाजवादियों से ग्रहण करते हुए वैज्ञानिक समाजवाद की प्रतिष्ठा की जो एक सम्पूर्ण और व्यापक सामाजिक जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकृत हुआ।

4- क्लैसिकल ब्रिटिश अर्थशास्त्र की प्रेरणा से मार्क्स ने श्रमिकों को सामाजिक महत्व प्रदान किया। ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों के अनुसार किसी पदार्थ को मूल्य अर्थात् वैल्यू प्रदान करने की क्षमता केवल श्रम में है। इस विचार के आधार पर मार्क्स ने यह सिद्धान्त बनाया कि प्रत्येक पदार्थ का मूल्य श्रम द्वारा निर्मित होता है। पूंजीपति श्रमिक को उसके श्रम का उचित मूल्य न देकर उसे केवल उतना ही देता है जितना उसके जीवन के निर्वाह के लिए आवश्यक होता है। इस प्रकार वह निर्मित मूल्य की कीमत मुनाफे के रूप में अपने पास रख लेता है और अन्ततः श्रमिकों का शोषण करता है। मार्क्स ने इसे 'सरप्लस वैल्यू' का सिद्धान्त कहा है।

15.3 मार्क्सवाद का दर्शन

15.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि मार्क्सवाद सृष्टि और समाज का एक समन्वित दर्शन है। इस दर्शन का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सृष्टि और समाज के भौतिकवादी अध्ययन का एक विशेष दृष्टिकोण है। हम अपने दैनिक जीवन में देखते हैं कि संसार की प्रत्येक वस्तु अंततः नष्ट हो जाती है। मानव जीवन और जगत में जन्म-मृत्यु और सृजन-विनाश शाश्वत है। सृष्टि का जीवन उसकी गतिशीलता में है। गतिशीलता के कारण ही सृष्टि में परिवर्तन का शाश्वत क्रम चलता रहता है। मानव जीवन और प्रकृति में परिवर्तन की यह अंतहीन यात्रा सृष्टि के आरम्भ से ही चलती रही है। इस व्यापक सत्य के आधार पर मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दर्शन की स्थापना की। मार्क्स का मानना है कि सृष्टि में परिवर्तन एक निश्चित नियमों के अनुसार होता है ये नियम

विज्ञान के नियम की तरह स्थिर और सार्वभौमिक हैं। कार्लमार्क्स के अनुसार सृष्टि का पदार्थ (मैटर) अपने रूप में निरन्तर परिवर्तित होता रहा है। परिवर्तन का आधार द्वन्द्वात्मक है। हर एक परिस्थिति के मूल में संघर्ष है। संघर्ष से ही विकास होता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विकास के तीन चरण माने गये हैं। पहला, प्रत्येक पदार्थ के विरोधी तत्व उसी में निहित रहते हैं किन्तु वे कुछ समय तक दबे रहते हैं, अर्थात् पदार्थ की स्थिर अवस्था को 'वाद' कहते हैं जिसे मार्क्स ने 'थीसिस' कहा है। कालान्तर में उस अवस्था (वाद) के विरोधी तत्व प्रकट रूप से 'वाद' का विरोध करने लगते हैं। उस अवस्था को 'प्रतिवाद' अर्थात् 'एंटीथीसिस' कहते हैं। 'वाद' और 'प्रतिवाद' के द्वन्द्व अर्थात् संघर्ष से एक तीसरी अवस्था का जन्म होता है जो उन दोनों अवस्थाओं से भिन्न होती है और जिनमें उन दोनों अवस्थाओं (वाद व प्रतिवाद) के अंश निहित रहते हैं। इस तीसरी अवस्था को 'संवाद' अर्थात् 'सिंथीसिस' कहते हैं। 'वाद' से 'संवाद' तक की अवस्थाओं का विकास मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तन की ओर होता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के संदर्भ में विकास के इस सिद्धांत को 'विकासत्रयी' अर्थात् 'डेवलपमेंट ट्रायो' कहते हैं विकास की दृष्टि से द्वन्द्व सिद्धान्त के निम्नलिखित चार सूत्र हैं -

- 1 विरोधों की एकता
- 2 विरोधों का आपसी संघर्ष
- 3 इस संघर्ष से एक नयी समन्वित अवस्था का जन्म
- 4 वाद से संवाद तक का परिवर्तन

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की हीगेल और फायरबाख के द्वन्द्व-दर्शन से तुलना -
मार्क्सवाद के प्रेरणा-स्रोत के सन्दर्भ में आप यह जान चुके हैं कि अपने दर्शन में कार्लमार्क्स हीगेल और फायरबाख के दर्शन से प्रभावित था किन्तु मार्क्स का दर्शन हीगेल और फायरबाख से कुछ बातों में भिन्न है। जर्मन विचारक हीगेल प्रत्ययवादी था। ग्रीक की वाद-विवाद की प्राचीन परम्परा से हीगेल ने यह तथ्य ग्रहण किया कि दो विरोधी मतों में संघर्ष होता है और उसी संघर्ष से नये मत की सृष्टि होती है। इस प्रणाली में संघर्ष अनिवार्य है। उसी से सत्य का जन्म होता है। हीगेल के अनुसार मनुष्य का सम्पूर्ण इतिहास विरोधी तत्वों के आपसी संघर्ष से निर्मित हुआ है। प्रत्ययवादी विचारक होने के कारण हीगेल पदार्थ (मैटर) को प्रधान नहीं मानता। अतः उसका द्वन्द्व-दर्शन मनुष्य के बाहरी इतिहास और प्रकृति पर लागू न होकर उनके सापेक्ष प्रत्ययों पर लागू होता है। हीगेल के अनुसार सर्वप्रथम मनुष्य के मस्तिष्क में विरोधी प्रत्ययों में संघर्ष होता है और बाहरी इतिहास उन संघर्षों की छाया है।

भौतिकवादी होने के नाते कार्लमार्क्स प्रत्यय को गौण और पदार्थ को प्रधान मानता है। वह मनुष्य के सम्पूर्ण इतिहास को बाहरी प्रकृति और समाज में देखता है हीगल और मार्क्स के द्वन्द्व सिद्धान्तों में प्रधान तत्व के रूप में केवल प्रत्यय और पदार्थ की भिन्नता है। यद्यपि दोनों का दार्शनिक दृष्टिकोण एक ही है। दोनों की समता इस बात में है कि वे द्वन्द्वात्मक प्रणाली को ही परिवर्तन का मूल आधार मानते हैं।

द्वन्द्व-सिद्धान्त की यह समता सत्य के गत्यात्मक रूप का दर्शन कराती है। हीगल के लिए सत्य प्रत्यय में है तो मार्क्स के लिए जीवन की भौतिक परिस्थितियों में। जर्मन दार्शनिक फायरबाख स्वयं को न तो भौतिकवादी मानता था और न आदर्शवादी किन्तु उसके दर्शन में कुछ अंश ऐसे हैं जो भौतिकवादी हैं और जिनसे मार्क्स प्रभावित था। फायरबाख के अनुसार मनुष्य ही उसके दर्शन का केन्द्र बिन्दु है और वही समूची सांस्कृतिक परम्परा का केन्द्र बिन्दु है।

फायरबाख के भौतिकवाद से मार्क्स का भौतिकवाद कई अर्थों में भिन्न है। आदर्शवादियों की तरह मार्क्स यह नहीं मानता कि मनुष्य की चेतना (प्रत्यय) ही सब कुछ है और जड़ पदार्थ उसकी छाया है और न ही भौतिकवादियों की तरह यह मानता है कि जड़ पदार्थ ही सब कुछ है और मानव चेतना केवल निष्क्रिय अनुभवों की भोक्ता है। मार्क्स के अनुसार चेतना और बाह्य परिस्थितियों में संघर्ष होता है। यह संघर्ष निश्चित भौतिकवादी परिस्थितियों में जन्म लेता है। इसलिए मनुष्य को समझने के लिए उसी ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन आवश्यक है। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मनुष्य को उसकी ठोस परिस्थितियों की सापेक्षता में देखता है और उनके आन्तरिक संघर्षों के अनुसार ही उनके परिवर्तन को स्वीकार करता है। इस तरह सृष्टि और प्रकृति का यह दृष्टिकोण चेतना और पदार्थ के समन्वित रूप को व्यक्त करता है।

15.3.2. ऐतिहासिक भौतिकवाद

ऐतिहासिक भौतिकवाद मनुष्य के इतिहास और समाज के विकास के संदर्भ में कार्ल मार्क्स के विशिष्ट सामाजिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। इसे सर्वप्रथम कार्लमार्क्स ने अपने लेखों में व्यक्त किया था। ऐतिहासिक भौतिकवाद मनुष्य के इतिहास और समाज की एक विशिष्ट व्याख्या-पद्धति है। इसके अनुसार मनुष्य का सामाजिक जीवन उसकी आर्थिक, राजनीतिक और भौगोलिक परिस्थितियों द्वारा अनुशासित होता है। इन परिस्थितियों में आर्थिक परिस्थितियों का विशेष प्रभाव रहता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद में इतिहास की रहस्यात्मक शक्तियों का कोई महत्व नहीं है। इस तरह कार्लमार्क्स के मूल दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तरह ऐतिहासिक भौतिकवाद का दृष्टिकोण भी पदार्थवादी अर्थात् भौतिकवादी ही है। अतः द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सामाजिक विचार को ही ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा जाता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद जीवन की भौतिक परिस्थितियों पर ही जोर देता है। भौतिक परिस्थितियों से तात्पर्य सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों से है। इनमें भी मनुष्य के चरित्र-निर्माण में आर्थिक परिस्थितियों की विशेष भूमिका होती है। ऐतिहासिक

भौतिकवाद के अनुसार जीवन-यापन के लिए जो साधन हैं और जिनके उपार्जन के लिए जिस उत्पादन प्रणाली की आवश्यकता है, वही हमारे समूचे सामाजिक अस्तित्व को अनुशासित करती है। प्रत्येक मनुष्य के जीने के लिए भोजन और अन्य सामाजिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इनके उत्पादन के औज़ार, जनता और उत्पादन शक्ति के संयोग से ही उत्पादन शक्तियों का जन्म होता है। साथ ही, उत्पादन के सम्बन्ध में मनुष्य एक-दूसरे के निकट आता है जिससे आर्थिक मानवीय सम्बन्धों की सृष्टि होती है। इस प्रकार उत्पादन प्रणाली और मानवीय सम्बन्धों से ही समाज का इतिहास निर्मित होता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद को निम्नलिखित सूत्रों से समझा जा सकता है -

1. मनुष्य का सामाजिक जीवन अपनी आर्थिक परिस्थितियों से विशेष रूप से अनुशासित होता है।
2. उत्पादन के साधन (यंत्रादि), जनता और उत्पादन शक्तियों से ही उत्पादन की शक्तियाँ निर्मित होती हैं जो समाज के ढाँचे को प्रभावित करती हैं।
3. कोई भी सामाजिक व्यवस्था स्थायी नहीं होती उसमें परिवर्तन होता रहता है क्योंकि उत्पादन निरन्तर गतिशील है। इसलिए मनुष्य विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार की उत्पादन-प्रणाली की रचना करता है।
4. उत्पादन के समूचे परिवर्तन उत्पादन शक्तियों के परिवर्तन के नाते होते हैं जिनका प्रभाव मनुष्य के आर्थिक सम्बन्धों और सामाजिक व्यवस्था पर भी पड़ता है। फलतः सामाजिक विकास में इन दोनों की अन्तःक्रियाएँ चलती रहती हैं।
5. उत्पादन और उत्पादन शक्तियों में परिवर्तन के कारण मानव समाज में अबतक निम्नलिखित प्रकार की सामाजिक व्यवस्था स्थापित हो चुकी है।

1. प्रारम्भिक साम्यवाद
2. दास व्यवस्था
3. सामन्तवाद
4. पूँजीवाद
5. समाजवाद

नोट - यहाँ छठी अवस्था के रूप में उदारीकृत आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत भूमण्डलीकृत सामाजिक व्यवस्था को भी सम्मिलित किया जा सकता है जो पिछले दो दशक से निर्माण की ओर अग्रसर है।

6 . ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार मानव समाज का इतिहास निश्चित नियमों से परिचालित है। यही इतिहास की मूलभूत एकता और गत्यात्मकता का कारण है।

7. आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप ही सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक व्यवस्था की रचना होती है।

15.4 मार्क्सवाद के प्रमुख तत्व

मार्क्सवादी विचारधारा के निम्नलिखित प्रमुख तत्व हैं -

1 . **साम्यवाद** - साम्यवाद (कम्युनिज़्म) मार्क्सवादी विचारधारा की प्रमुख अवधारणा है। व्यक्ति विशेष के बदले सामूहिक रूप से सार्वजनिक उत्पादन, प्रबन्धन और उपभोग के सिद्धान्त पर आधारित समाज व्यवस्था साम्यवादी समाज-व्यवस्था कहलाती है। इस विचारधारा का चरम विकास मार्क्सवाद में हुआ। साम्यवादी, समाज में शोषक (पूँजीपति) और शोषित (श्रमिक), बुर्जुआ (आभिजात्य) और सर्वहारा (सामान्यजन)-इन दो वर्गों की सत्ता मानता है। साम्यवाद की स्थापना में इन दोनों वर्गों में संघर्ष अनिवार्य है। वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति के द्वारा साम्यवाद की स्थापना होती है। अतः मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग को संगठित होने पर विशेष जोर दिया है। क्रान्ति का समर्थन, शोषित वर्ग को मजबूत करने तथा शोषक वर्ग का विरोध करने वाला साम्यवादी प्रगतिशील कहलाता है।

2 . **वर्ग-संघर्ष**- मार्क्स के अनुसार समाज मुख्य रूप से दो वर्गों में बँटा हुआ है - शोषक वर्ग और शोषित वर्ग। इन वर्गों की आर्थिक आवश्यकताएँ भिन्न हैं जिनके अनुरूप इनकी सांस्कृतिक, धार्मिक, नैतिक परम्पराएँ और स्वार्थ हैं। वर्गों की विषमता के फलस्वरूप और अपने-अपने वर्गीय स्वार्थों के कारण इन दो वर्गों में प्रायः संघर्ष होता है। साम्यवादी समाज की स्थापना में मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को स्वाभाविक और अनिवार्य तत्व माना है जिसकी चरम परिणति क्रान्ति में होती है।

3 . **वर्गहीन समाज**- मार्क्स के अनुसार जब उत्पादन के साधनों पर सामूहिक नियंत्रण होता है तब समाज में शोषक या शोषित कोई वर्ग नहीं रहता। फलतः वर्गहीन समाज में शोषण भी नहीं होता। शोषण से मुक्त समाज वर्गहीन समाज कहलाता है। मार्क्स वर्गहीन समाज के दो रूप मानता है- प्रारम्भिक समाज जिसमें मनुष्य का इतिहास प्रारम्भ होता है, और साम्यवादी समाज, जिसकी रचना पूँजीवाद के उपरांत हुई। इसमें प्रथम समाज आदिम रूप होने के कारण कम विकसित तथा दूसरा आर्थिक ओर सामाजिक दृष्टि से अधिक विकसित है।

4. **क्रान्ति-** मार्क्स ने क्रान्ति को परिवर्तन का महत्वपूर्ण और अनिवार्य साधन माना है। शोषक और शोषित वर्गों के बीच उपजे वर्ग-संघर्ष की चरम परिणति क्रान्ति में होती है। क्रान्ति से ही शोषण का अंत होता है। शोषित वर्ग का संगठन और शोषक का विरोध क्रान्ति के लिए आवश्यक है। इसलिए मार्क्स ने नारा दिया- 'संसार के श्रमिकों एक हो जाओ क्योंकि तुम्हें अपनी गुलामी के सिवाय और कुछ नहीं खोना है।' क्रान्ति के संदर्भ में समाजवादी और साम्यवादी के दृष्टिकोण में पर्याप्त अंतर है। समाजवादी प्रायः शान्तिमय तथा लोकतांत्रिक उपायों से क्रान्ति के पक्ष में है। इसके विपरीत साम्यवादी व्यवस्था परिवर्तन के लिए सशक्त क्रान्ति का समर्थक है। वे समाजवाद को क्रान्ति का प्रथम सोपान और साम्यवाद को क्रान्ति का अंतिम सोपान मानते हैं। रूस में हुई साम्यवादियों की सशस्त्र क्रान्ति इसका उदाहरण है।

5. **सर्वहारा वर्ग-** मार्क्स के अनुसार समाज में दो मुख्य वर्ग हैं -शोषक और शोषित। शोषित वर्ग ही सर्वहारा वर्ग है जिसमें श्रमिक, मजदूर, भूमिहीन किसान-मजदूर आते हैं। मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन में सर्वहारा वर्ग की भूमिका को महत्वपूर्ण माना है क्योंकि उसके अनुसार सर्वहारा वर्ग ही क्रान्ति कर सकता है जो सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक है। सर्वहारा वर्ग ही परिवर्तन के लिए शक्ति, साहस और बुद्धि रखता है। वह परिवर्तन की आकांक्षा भी रखता है।

15.5 मार्क्सवादी हिन्दी साहित्य

मार्क्सवादी विचारों से प्रेरित हिन्दी साहित्य 'प्रगतिवादी साहित्य' कहलाता है जिसका रचनाकाल छायावाद के पतन के बाद 'प्रगतिवादी युग' अथवा 'प्रगतिवाद' के नाम से प्रतिष्ठित है। हम कह सकते हैं कि मार्क्सवाद का साहित्यिक रूपांतर हिन्दी में 'प्रगतिवाद' है, ठीक उसी तरह जिस तरह राजनीति में मार्क्सवाद को साम्यवाद के रूप में जाना जाता है। प्रगतिवाद की मूल प्रेरणा मार्क्सवाद से विकसित हुई है। हिन्दी साहित्य में यह साम्यवादी आदर्शों से प्रेरित वह आन्दोलन है जिसने समस्त साहित्यिक चेतना को सामाजिक यथार्थ की ओर अग्रसर किया। मार्क्सवादी दर्शन के आलोक में सामाजिक चेतना और भावबोध को प्रतिष्ठित करना प्रगतिवादी साहित्य का मुख्य लक्ष्य था। इसका उद्देश्य था जनवादी शक्तियों को संगठित करके मार्क्सवाद के आधार पर निर्मित नये मूल्यों की साहित्य में प्रतिष्ठा करना। 'प्रगतिवाद की आत्मा साम्यवाद में थी, दृष्टि रूस के साहित्यिक इतिहास की ओर थी, प्रेरणा राजनीतिक मंतव्यों द्वारा अनुशासित थी। उसकी खोज सर्वहारा के रूप में उस नये मानव की थी जो समस्त पतनशील प्रवृत्तियों के विरोध में उपर्युक्त स्थापनाओं को विकसित कर सके। इसकी साहित्यिक चेतना सैद्धान्तिक रूप से प्रगतिशील थी। इसलिए साहित्यिक आन्दोलन को 'प्रगतिशील आन्दोलन' के नाम से भी जाना जाता है। प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि - देश-काल की बदलती परिस्थितियों के दबाव के फलस्वरूप जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी बदलता है जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में एक नये आन्दोलन के रूप में दिखाई पड़ती है। प्रगतिवाद की स्थापना में भी राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य पर तेजी से बदलती परिस्थितियों की

महत्वपूर्ण भूमिका है। देश की राजनीतिक परिस्थितियाँ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के प्रभाव से तेज़ी से बदल रही थीं। स्वतंत्रता आन्दोलन में गांधी जी के अहिंसा-सत्याग्रह सिद्धान्तों से युवा पीढ़ी के उग्र विद्रोह की अभिव्यक्ति नहीं हो पा रही थी। फलतः देश में असंतुष्ट युवा वर्ग तेज़ी से उभर रहा था। विश्व में साम्यवाद के उभरते 'क्रान्तिकारी प्रभाव के फलस्वरूप सन् 1934 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ जिसने किसान-मजदूर के संगठनों पर ज़ोर दिया। राजनीति में कम्युनिस्ट पार्टी के उदय के साथ ही वामपंथी शक्तियों का प्रभाव बढ़ने लगा मजदूर-आन्दोलन तेज़ हो उठे। रूस में साम्यवाद को व्यापक जनस्वीकृति मिल चुकी थी। सामंतवादी और पूँजीवादी विभीषिकाओं को कुचलकर सर्वहारा वर्ग नये अधिनायक के रूप में स्थापित हो चुका था। देश में राजनीतिक दासता के चलते पूँजीवादी और सामंतवादी शक्तियों के बढ़ते शोषण से देश की आम जनता भयावह गरीबी, अशिक्षा और भूख से पीड़ित थी। द्वितीय विश्वयुद्ध की त्रासदी और बंगाल के अकाल ने उसे और भयानक बना दिया।

इन सब परिस्थितियों से साहित्य जगत कैसे अछूता रह सकता था? तत्कालीन छायावाद की अति वैयक्तिक सूक्ष्म कल्पनाएँ और रूमानी वासनाओं में रमने वाली कविताएँ युग के अनुकूल नहीं पड़ रही थीं। छायावादी काव्य अलंकृत संगीत होकर रह गया था। स्वप्नों में रमने वाली उसकी आत्मा मानों सहमी-सहमी थी। छायावाद धीरे-धीरे अपने पतन की ओर बढ़ रहा था। सन् 1936 में 'भारतीय प्रगतिशील आन्दोलन' की स्थापना हुई। प्रेमचन्द इसके प्रथम अधिवेशन के सभापति हुए। प्रेमचन्द गोर्की साहित्य के साम्यवादी दर्शन से प्रभावित होकर अपने उपन्यासों में इसकी अभिव्यक्ति करने लगे थे। सन् 1937 में शिवदान सिंह चौहान ने 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक लेख लिखा। इसमें इन्होंने हिन्दी के कवि-लेखकों को ललकारा-''हमारा साहित्यिक नारा कला, कला के लिए नहीं वरन कला-संसार को बदलने के लिए है।'' अतः साहित्य किसके लिए और किसलिए? जैसे प्रश्न महत्वपूर्ण हो उठे। इन प्रश्नों ने भी छायावादी कवियों को आत्मचिंतन के लिए बाध्य किया। छायावाद के प्रमुख कवि सुमित्रानन्दन पंत ने स्वीकार किया-''छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा क्योंकि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावनाओं का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था।'' कोई भी आयातित विचारधारा किसी देश में एकाएक आन्दोलन नहीं बन जाती। उसे अनुकूल परिस्थितियों में पनपने और विकसित होने में समय लगता है। प्रगतिवाद मार्क्सवाद से प्रेरित एक वैचारिक आन्दोलन था। उसके विकास की प्रारम्भिक अवस्था छायावादोत्तर काल में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता में देखी जा सकती है। इसी समय पंत और निराला जैसे छायावादी कवि भी प्रगतिशील कविताएँ लिखने लगे थे। पंत की 'युगवाणी' और निराला का 'कुकरमुत्ता' प्रगतिशील काव्य संग्रह है। इसी के साथ केदारनाथ अग्रवाल (युग की गंगा), नागार्जुन (युगधारा), त्रिलोचन (धरती), शिवमंगल सिंह सुमन (प्रलय, सृजन) प्रगतिवाद के कवि हैं। रांगेव-राघव, मुक्तिबोध,

भारतभूषण अग्रवाल और रामविलास शर्मा ने कविता के साथ ही गद्य विधाओं में भी प्रगतिवादी साहित्य की रचना की।

सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का साहित्य का मुख्य उद्देश्य मानने के कारण प्रगतिवादी साहित्य अपनी संवेदना में जनवादी है। इसमें जन-सामान्य के कटु यथार्थ, संघर्ष, आर्थिक विषमता, शोषण आदि की प्रभावशाली अभिव्यक्ति हुई है। सामंत, सत्ता और पूँजीपतियों के पाखण्ड, शोषण, दमन के विरुद्ध उग्र तेवर और संगठित विद्रोह द्वारा परिवर्तन की उद्दाम आकांक्षा प्रगतिवादी साहित्य के मुख्य संस्कार हैं। प्रगतिवादी कवियों के कतिपय काव्य उदाहरणों में प्रगतिवादी काव्य प्रवृत्तियों के संकेत देखे जा सकते हैं -

काटो काटो काटो काटो , साइत और कुसाइत क्या है।

मारो मारो मारो मारो , हिंसा और अहिंसा क्या है ॥ -केदारनाथ अग्रवाल

तुम भी रणचंडी बन जाओ

मैं क्रान्ति कुमार का अनुचर। - शिवमंगल सिंह 'सुमन'

फिर वह एक हिलोर उठी, गाओ।

वह मजदूर-किसानों के स्वर कठिन हठी

कवि हे, उनमें अपना हृदय मिलाओ !

उनके मिट्टी के तन में है अधिक आग, है अधिक ताप,

उनमें कवि हे! अपने विरह-मिलन के पाप जलाओ !

काट बुर्जुआ भावों की गुमठी को, गाओ। - शमशेर बहादुर सिंह

घुन खाए शहतीरों पर की बारह खड़ी विधाता बाँचे,

फटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिस्तुइया नाचे,

बरसाकर बेबस बच्चों पर मिनट-मिनट पर पाँच तमाचें,

इसी तरह से दुखरन मास्टर गढ़ता है आदम के साँचे। - नागार्जुन

प्रगतिवादी कवियों ने साहित्य की संवेदना के साथ ही उसकी भाषा को भी छायावादी रंगीन कोहरे से निकालकर जनजीवन से जोड़ा। प्रगतिवादी कवियों ने जन सामान्य में

प्रचलित भाषा को ही अपनाया। प्रतीक, मुहावरे, बिम्ब, चित्र, काव्य-शैली आदि सभी जन-जीवन से ही लिए गए हैं। सर्वहारा वर्ग के प्रतीक को व्यक्त करता केदारनाथ अग्रवाल का एक प्रकृति चित्र दृष्टव्य है -

एक बीते के बराबर, यह हरा ठिगना चना बाँधे मुँरैठा शीश पर, छोटे गुलाबी फूल का

सजकर खड़ा है !

साधारण जन और साधारण प्रकृति का साहचर्य प्रगतिवादी कवियों की काव्य-क्षमता की प्रमुख शक्ति है। इसी तरह के एक अन्य चित्र में परिवार और प्रकृति रागात्मक रूप से सम्पृक्त होकर प्रभावशाली बन पड़े हैं -

धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने मैके में आई बेटी की तरह मगन है !

भाषा-शैली की दृष्टि से प्रगतिवादी कविताओं में प्रारम्भ के दौर में अभिधात्मक शैली की प्रधानता के कारण सपाट बयानी अधिक है। यह प्रवृत्ति प्रगतिवाद के आखिरी दौर तक देखी जा सकती है। फलतः प्रगतिवादी काव्य में कलात्मक सौन्दर्य का अभाव रहा है। समीक्षा - प्रगतिवाद की शक्ति मुख्यतः पुरातन आदर्शवादी मनोवृत्ति को सामाजिक यथार्थ की ओर प्रवृत्त करने तथा छायावादी आध्यात्मिक मूल्यों के स्थान पर भौतिकवादी मूल्यों को प्रतिष्ठित करने में लगी रही। आर्थिक और वर्ग-संघर्ष मूलक सामाजिक सम्बन्धों को प्रमुखता देकर प्रगतिवाद ने हिन्दी साहित्य में परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ा। अपनी सीमाओं के कारण हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद अत्यंत अल्पजीवी ही रहा। प्रगतिवाद के पतन अथवा अवसान का मुख्य कारण था-भारत की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना से उसका एकात्म न हो पाना। हिन्दी के अधिकांश प्रगतिशील लेखक/कवि प्रायः उस जन-जीवन से दूर रहे हैं जो उनकी काव्य का मुख्य प्रेरणा-स्रोत हैं। इसलिए प्रगतिवादी साहित्य मार्क्सवाद का प्रचार साहित्य बन कर रह गया। प्रगतिवाद के पतन पर डॉ० नगेन्द्र की यह टिप्पणी अधिक तर्क संगत लगती है - 'प्रगतिवादी साहित्य प्रचार बनकर रह गया। सामाजिक जीवन की संश्लिष्ट वास्तविकताओं से कटकर केवल सिद्धांत का प्रचार करने का परिणाम यह हुआ कि कवि अपने परिवेश से सम्बद्ध न रहकर पहले लाल सेना और लाल रूस का फिर बाद में लाल चीन का गीत गाने लगा। प्रचार का एक दूसरा खतरा यह हुआ कि कवियों ने जन-जीवन से अपने को सम्बद्ध किये बिना जन-जीवन का गीता गाना शुरू किया। अतः अनुभव के स्थान पर फार्मूला, कविताओं की प्रेरणा बना।'

15.6 मार्क्सवाद और हिन्दी समालोचना

मानवीय स्वतंत्रता एवं अस्तित्व को लेकर उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय साहित्य में विचार और संवेदना के स्तर पर क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन का श्रेय मार्क्सवाद को है जिसमें

सर्वहारा वर्ग के अस्तित्व को प्रतिष्ठित करने का प्रबल आग्रह दिखाई पड़ता है। इस आग्रह के पीछे मुख्य रूप से औद्योगिकीकरण की कटुता और पूँजी के असमान वितरण से उत्पन्न सामाजिक मूल्यों का छिन्न-भिन्न हो जाना है। मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित हिन्दी समालोचना को 'प्रगतिवादी समालोचना' के नाम से जाना जाता है। प्रगतिवादी समालोचना का मूल आधार मार्क्सवादी चिन्तन है। जैसाकि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि भारत में सन् 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ ही मार्क्सवाद को लेकर एक नवीन चिन्तन-पद्धति का जन्म हो चुका था। हिन्दी जगत भी इससे अछूता न रह सका। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित प्रगतिशील लेखकों व कवियों की रचनाएँ सामने आने लगीं थीं। इन्हीं रचनाओं के साथ सैद्धान्तिक मूल्यांकन की दृष्टि में भी बदलाव आया। फलतः प्रगतिवादी समालोचना के अन्तर्गत आलोचना के नए प्रतिमान स्थापित हुए। प्रगतिवादी समालोचना का मूल आधार जनवादी मूल्यों (जिनका सम्बन्ध मार्क्सवादी यथार्थवाद से है) की स्थापना है। सैद्धान्तिक रूप से इसकी साहित्यिक नीति उपयोगितावादी है अतः इसमें आभिजात्य कला रुचियों, संस्कारों और भावनाओं के प्रति विरोध ही नहीं अपितु आक्रोशपूर्ण विद्रोह भी है। संक्षेप में, प्रगतिवादी हिन्दी समालोचना की सैद्धान्तिक मान्यताओं को मार्क्सवादी चिन्तन के अनुरूप निम्नलिखित बिन्दुओं से समझा जा सकता है -

1. आनन्द साहित्य का लक्ष्य नहीं, वह साधन मात्र है।
2. परिवर्तन और क्रान्ति के लिए प्रेरणा और उत्साह का संचार करना ही साहित्य का उद्देश्य है
3. केवल सुन्दर पक्ष का उद्घाटन लेखक की पूँजीवादी प्रकृति का द्योतक है।
4. साहित्य में मानव सापेक्ष सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति को प्राथमिकता।
5. कोमल और आलंकारिक भाषा का प्रयोग, चमत्कारपूर्ण ऊहात्मक शैली को प्रगतिवादी समीक्षा में सामाजिक हास का प्रतीक बताया गया है।

मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी हिन्दी समालोचकों में शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, नागार्जुन, प्रकाशचंद गुप्त, मन्मथनाथ गुप्त, अमृत राय आदि उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों ने प्रगतिवादी मूल्यों के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन करते हुए प्रगतिवादी समालोचना के नए प्रतिमान प्रस्तुत किये। मार्क्सवादी समालोचक शिवदान सिंह चौहान ने सर्वप्रथम सन् 1937 में 'विशाल भारत' में 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक लेख लिखकर प्रगतिवादी आलोचना की नींव डाली। 'प्रगतिवाद' (1946), 'साहित्य की परख' (1948), 'आलोचना के मान' (1958), 'साहित्य की समस्याएँ' (1959), 'साहित्यानुशीलन' उनके प्रमुख समालोचना ग्रन्थ हैं। इनमें लेखक ने मार्क्सवादी आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष को स्पष्ट करने के साथ ही हिन्दी साहित्य को उसकी कसौटी पर यथासम्भव संतुलित ढंग से परखने का प्रयास किया है। प्रकाश चन्द गुप्त दूसरे उल्लेखनीय समालोचक हैं। 'नया हिन्दी साहित्य' (1946), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'

(1950), तथा 'हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा' (1953) उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। इनमें सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण विवेचन सामान्य होकर रह गया है। मार्क्सवादी समालोचकों में रामविलास शर्मा की समालोचना दृष्टि सबसे अधिक पैनी और स्पष्ट है। 'प्रगति और परम्परा' (1948), 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' (1954), 'आस्था और सौन्दर्य' (1956) आदि उनके उल्लेखनीय समालोचना निबन्धों के संग्रह हैं। वर्ग-भेद पर आधारित समाज की पहचान को उन्होंने साहित्यकारों के लिए आवश्यक माना है। कहीं-कहीं वर्ग-भेद पर अधिक जोर देने के कारण उनकी समीक्षा शैली अतिवाद का शिकार होकर विकृत हो गयी है। अन्य उल्लेखनीय समालोचकों में अमृत राय (नयी समीक्षा) और नामवर सिंह ('इतिहास और आलोचना, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ') प्रमुख हैं।

15.7 सारांश

मार्क्सवाद प्रसिद्ध विचारक कार्ल मार्क्स (सन् 1818-1883 ई०) की देन है। मार्क्सवादी चिन्तन ने विश्व में साहित्य, समाज, अर्थनीति और राजनीति को गहरे प्रभावित किया और चिन्तन के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। मार्क्सवाद का मूल दर्शन है -द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। द्वन्द्व सिद्धान्त की उत्पत्ति की प्रेरणा वस्तुतः प्राचीनकाल में ग्रीस में प्रचलित वाद-विवाद परम्परा से मिली थी जिसमें लोग वाद-विवाद के द्वारा सत्य का अन्वेषण करते थे। उनका मानना था कि सत्य की उत्पत्ति दो विरोधी बातों के संघर्ष से होती है। इस पद्धति को सर्वप्रथम प्रत्ययवादी विचारक हीगेल ने ग्रहण किया और 'द्वन्द्वात्मक परिवर्तन पद्धति' की स्थापना की। हीगेल का विचार था कि मनुष्य का सम्पूर्ण विकास दो विरोधी तत्वों के संघर्ष से हुआ है। सत्य का कोई रूप निश्चित नहीं होता। परिवर्तन मात्र सत्य है। हीगेल का 'परिवर्तनत्रयी' का सिद्धान्त मनुष्य के विचारों और चेतना के स्तर तक सीमित था।

जर्मन दर्शनिक फायरबाख (सन् 1804-1872) ने प्रत्यय (चेतना) की अपेक्षा पदार्थ को महत्व दिया। उसके अनुसार भौतिक पदार्थ ही सत्य है और विचार उसकी छाया है। इस तरह हीगेल और फायरबाख के चिन्तन को समन्वित करके कार्ल मार्क्स ने 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' की स्थापना की। कार्ल मार्क्स का मानना है कि सृष्टि में परिवर्तन शाश्वत है। अतः परिवर्तन ही सत्य है। परिवर्तन भी निश्चित नियमों के अनुसार होता है। ये नियम सभी देशकाल में समान हैं। परिवर्तन का आधारभूत कारण द्वन्द्व अर्थात् संघर्ष है। संघर्ष से ही विकास होता है।

15.8 शब्दावली

द्वन्द्व	-	दो वस्तुओं या व्यक्तियों में संघर्ष
गौण	-	कम महत्व का

गत्यात्मक	-	गतिशील
प्रत्यय	-	चेतना
भोक्ता	-	भोगनेवाला
भौतिकवादी	-	पदार्थ को प्रधान मानने वाला
परिवर्तनत्रयी	-	परिवर्तन के तीन प्रकार
सर्वहारा	-	सभी प्रकार से हीन अवस्था को प्राप्त

15.9 सहायक ग्रन्थ सूची

1. हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1): संपा0 धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास: संपा0 डॉ0 नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
3. प्रगतिवाद की रूपरेखा: मन्मथनाथ गुप्त, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।
4. प्रगतिवाद पुनर्मूल्यांकन : हंसराज रहबर, नवयुग प्रकाशन, दिल्ली।
5. हिन्दी की मार्क्सवादी कविता: सम्पत ठाकुर, प्रगति प्रकाशन, आगरा।
6. हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद: विजयशंकर, सरस्वती मंदिर, जतनवर, बनारस।
7. प्रगतिवाद की रूपरेखा: शिवचंद, किताबमहल, इलाहाबाद।
8. प्रगतिवाद एवं समीक्षा: धर्मवीर भारती, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

15.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए। तथा कार्लमार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर हीगल और फायरबाख के द्वन्द्व दर्शन के प्रभाव की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।
2. मार्क्सवाद के प्रेरणा-स्रोतों पर प्रकाश डालते हुए ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या कीजिए

इकाई 16 आधुनिकतावाद, उत्तर-आधुनिकतावाद

- 16.1 प्रस्तावना
- 16.1 उद्देश्य
- 16.3. आधुनिकतावाद: अर्थ एवं स्वरूप
 - 16.3.1 आधुनिकतावाद: पृष्ठभूमि एवं वर्गीकरण
 - 16.3.2 आधुनिकतावाद और हिन्दी साहित्य
- 16.4 उत्तर-आधुनिकता क्या है?
 - 16.4.1 उत्तर- आधुनिकता की प्रस्तावना
 - 16.4.2 उत्तर-आधुनिकता के मुख्य बिन्दु
 - 16.4.3 आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता
 - 16.4.4 उत्तर-आधुनिकता के विभिन्न मत
 - 16.4.5 उत्तर-आधुनिकता और हिन्दी साहित्य
 - 16.4.6 उत्तर-आधुनिकता की सीमा
 - 16.4.7 उत्तर-आधुनिकता का प्रदेय
- 16.5 सारांश
- 16.6 शब्दावली
- 16.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 16.8 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 16.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 16.10 निबन्धात्मक प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई से पूर्व में आपने साहित्यशास्त्र एवं हिन्दी आलोचना एवं पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्त का अध्ययन किया। भारतीय साहित्यशास्त्र में आपने विभिन्न आलोचना सिद्धान्त जैसे रस क्या है, काव्य का प्रयोजन क्या है, काव्य के हेतु कौन-कौन से हैं तथा रस, अलंकार, ध्वनि, औचित्य, वक्रोक्ति, रीति जैसे काव्य सिद्धान्तों का अध्ययन किया। इसके पाश्चात्य आपने पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की परम्परा को पढ़ा।

इसी क्रम में इस इकाई में आप आधुनिकतावाद तथा उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद की सैद्धान्तिकी का अध्ययन करेंगे और जानेंगे कि आधुनिकतावाद, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से युक्त विचारधारा है। औद्योगिकीकरण के पश्चात् मध्यकालीन जीवन दर्शन एवं मूल्यों की प्रतिक्रिया में आधुनिकतावाद के विचारों का उदय हुआ।

उत्तर-आधुनिकता को लेकर अभी भी भ्रम की स्थिति बनी हुई है। इस इकाई में आप आधुनिकतावाद एवं उत्तर-आधुनिकतावाद के महत्वपूर्ण सूत्रों को समझेंगे।

16.2 उद्देश्य -

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप -

आधुनिकता की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।

आधुनिकता के विभिन्न मतों से परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

आधुनिकता और उत्तर -आधुनिकता के भेद को समझ सकेंगे।

उत्तर -आधुनिकता के अर्थ, तात्पर्य को समझ सकेंगे।

उत्तर-आधुनिकता के तर्क, विचार एवं सिद्धान्त की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

उत्तर -आधुनिक हिन्दी साहित्य से परिचित हो सकेंगे।

16.3. आधुनिकतावाद: अर्थ एवं स्वरूप

आधुनिकतावाद वह दर्शन था जिसने स्वीकृत पुराने सारे प्रतिमानों एवं मूल्यों पर प्रश्नचिह्न लगाया। यह विश्वास की जगह तर्क एवं भाव की जगह बुद्धि पर केन्द्रित है। आधुनिकतावाद के मूल शब्द आधुनिक आंग्ल भाषा के मॉडर्निटी का हिन्दी रूपान्तरण है, जो स्वयं लैटिन भाषा के Modernus शब्द से उत्पन्न है। आधुनिक शब्द 'अधुना' अव्यय से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ

है- 'हाल का', 'इस समय', 'वर्तमान', इत्यादि साधारणतया आधुनिकता का अर्थ वर्तमान से है। आधुनिकता का एक अर्थ प्राचीनता का विरोध है। इस तर्क के अनुसार प्राचीन मान्यताओं से विपरीत आधुनिकता विवेकजन्य, तर्कयुक्त वर्तमान का बोध है। इस विचारधारा का निर्माण मनुष्य ने अपनी तार्किकता के आधार पर किया है। प्राचीनता जहाँ प्रथाओं एवं मान्यताओं का अतार्किक अनुपालन है वहीं आधुनिकता मान्यताओं व नियमों के बौद्धिक एवं तार्किक परीक्षण से विकसित होती है। एडनर्ड शिल्स के अनुसार तार्किक बौद्धिकता ही आधुनिक समाज को प्राचीन से पृथक करती है। आधुनिक समाज में मनुष्य की विवेकशक्ति द्वारा वर्तमान समाज के बौद्धिक पुनर्गठन का नाम है आधुनिकता। बौद्धिक पुनर्गठन के परिणाम स्वरूप ही आधुनिक युग में अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए। आइंस्टीन के सापेक्षतावाद ने सिद्ध कर दिया कि सत्य सापेक्ष होता है। वैज्ञानिक कार्य-कारण पद्धति ने ईश्वर के स्थान पर व्यक्ति को स्थापित कर दिया। कृष्ण कुमार ने औद्योगीकरण को आधुनिक समाज की मुख्य पहचान बताया है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में परिवर्तन का आधारभूत कारण वैज्ञानिक आविष्कार ही है। इस दृष्टि से कृष्ण कुमार ने आर्थिकता को आधुनिकता की केन्द्रीय प्रवृत्ति माना है। मार्क सोलोमन ने भी कृषि-प्रधान समाज से औद्योगिक शहरों में परिवर्तन होने को आधुनिकता कहा है। आधुनिकता की एक निष्पत्ति 'व्यक्तिवाद की विजय' में हुई है। जान नाएसबिट एवं पेट्रिसा एबरडेन्स ने 'व्यक्ति' को आधुनिकता का मुख्य विषय माना है। प्राचीन समाज का व्यक्ति जहाँ अलौकिक आस्थाओं एवं चमत्कारों में विश्वास करता था, वहीं आधुनिक व्यक्ति इन सभी बंधनों से मुक्त हुआ। अतः आधुनिकता वह विचारधारा है जो व्यक्ति एवं उसके लौकिक जीवन को महत्वपूर्ण मानता है। टालकट पार्सन्स तथा राल्फ दारेनदोरफ ने आधुनिकता को संगठनात्मक-संरचनाकरण से जोड़ कर विश्लेषित किया है। उनके अनुसार आधुनिकता वही प्रक्रिया है जो सम्पूर्ण समाज की संरचना की पुनर्गठन की माँग करती है। पार्सन्स का कहना है कि नौकरशाही का व्यवस्थित संगठनात्मक स्वरूप, अर्थ का व्यवहार, सार्वभौमिक-विधिक तथा लोकतांत्रिक व्यवस्था इत्यादि द्वारा आधुनिकता को निर्धारित किया जा सकता है। दारेनदोरफ के अनुसार आधुनिकता अपने समग्र रूप में एक नवीन जीवन शैली को इंगित करती है। इस प्रकार भौतिकवादी, बुद्धिवादी, धर्मनिरपेक्षता, व्यक्ति केन्द्रित समाज, प्रशासनिक नौकरशाही व्यवस्था, वर्तमान एवं तर्क केन्द्रीयता आधुनिकता की पहचान माने जा सकते हैं।

बोध प्रश्न 1-

1. आधुनिकतावाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसकी प्रमुख विशेषता 10 पंक्तियों में लिखिए।
2. आधुनिकतावाद में बुद्धिवाद का क्या महत्व है। 10 पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

16.3.1 आधुनिकतावाद: पृष्ठ भूमि एवं वर्गीकरण

जैसा कि हमने अध्ययन किया, वैज्ञानिक कार्य-कारण पद्धति ने एक नवीन दृष्टिकोण को जन्म दिया, जिसे आधुनिकता कहा गया। आधुनिकता की कुछ मूलभूत मान्यताएँ थीं जैसे-मानववाद, बुद्धि, तर्क, वर्तमान, बोध, संरचना, इत्यादि। इसी क्रम में यहाँ हम आधुनिकता की अवधारणा को उसके प्रमुख मतों के संदर्भ में समझने की कोशिश करेंगे।

(1) **बुद्धिवाद** - बुद्धिवाद आधुनिक समाज की प्रमुख विशेषता है। बुद्धिवाद का आधार तर्क है। यानी तर्क पर आधारित चिन्तन को बुद्धिवाद कहा गया है। इसकी मान्यता के अनुसार मानवीय बुद्धि ही सत्य की नियंता है। बुद्धिवाद के आरम्भ का संबंध पुनर्जागरण कालीन सुधारों से है। मध्यकालीन अवधारणा में वैचारिक ऊर्जा का स्रोत धर्म था, किन्तु आधुनिक काल में धर्म का स्थान तर्क ने ले लिया। विलियम ऑफ ऑक्कम, मार्टिन लूथर, केल्विन आदि सुधारवादी चिन्तकों ने बुद्धि द्वारा प्रेरित विचारों को प्रश्रय दिया। फ्रांसीसी दार्शनिक रेने देकार्त को 'आधुनिक बुद्धिवाद का जनक' माना जाता है। देकार्त ने तर्क के माध्यम से बुद्धि की है। देकार्त ने तर्क के माध्यम से बुद्धि की प्रतिष्ठा की। देकार्त के अनुसार वे सभी वस्तुएँ जो विचार की जा सकती हैं, केवल उन्हीं का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है। इसी कारण देकार्त ने व्यक्ति/मानव का अस्तित्व स्वीकार किया। 'मेरा अस्तित्व है क्योंकि मेरे सोच सकता हूँ' को बुद्धिवाद का आधार माना जाता है। इस चिन्तन का सीधा अर्थ था कि चूँकि ईश्वर का अस्तित्व हमारे विचारों से परे है, इसलिए उसका अस्तित्व नहीं है। निकोलो मैकियावेली ने राजनीति एवं साहित्य के संदर्भ में बुद्धिवाद को प्रतिष्ठित किया। उसने कहा कि राज सत्ता किसी ईश्वरीय विधान द्वारा संचालित न होकर मनुष्य की बुद्धि द्वारा नियंत्रित होती है या हानी चाहिए। इसी क्रम में सुधारवादी चिन्तकों मार्टिन लूथर तथा केल्विन का योगदान भी महत्वपूर्ण है। उन्होंने चर्च तथा पोप गुरुओं के अनैतिक व घृणित कार्यों को अनावृत्त करके धर्मगुरुओं के प्रति जनमानस के अन्दर चेतना निर्मित करने में महत्वपूर्ण कार्य किया। मार्टिन लूथर ने धर्म तथा अध्यात्म को आन्तरिक अनुभव माना तथा किसके लिए किसी घोषित किया। केल्विन ने कहा कि धर्मग्रन्थों की रचना ईश्वरीय न होकर व्यक्तियों द्वारा की गई है। थॉमस हॉब्स के अनुसार यह सृष्टि एक यंत्र है जो यांत्रिक नियमों से संचालित होता है, न कि किसी ईश्वरीय सत्ता से। हॉब्स अध्ययन का विषय मानव प्रकृति को ही मानने पर बल देता है। हॉब्स ने कहा है कि बुद्धि से ही व्यक्ति की स्मरण-शक्ति, कल्पना शक्ति तथा विचार शक्ति उत्पन्न होती है। बुद्धियुक्त होने के कारण मनुष्य राज्य का निर्माण अपनी शान्ति के लिए समझौता सिद्धान्त द्वारा करता है। इस सिद्धान्त के नियमों का पालन तर्क सिखाता है।

उपर्युक्त आधुनिक बुद्धिवाद दर्शन का पूर्ण स्वरूप उदारतावादी विचारधारा में पया जाता है। उदारतावाद का बल बुद्धियुक्त व्यक्ति केंद्रित व्यवस्था की स्थापना पर था। उदारतावाद के प्रवर्तक जॉन लॉक के अनुसार प्रकृति के नियम मनुष्य की तर्क बुद्धि से संचालित होते हैं। लॉक तर्करहित

ईसाइयत की विचारधारा को अस्वीकार करता है। लॉक विचारों की उत्पत्ति को संवेदना तथा प्रत्यक्ष बोध से जोड़ता है। संवेदना तथा प्रत्यक्ष बोध को मनुष्य की बुद्धि द्वारा विश्लेषित किया जाता है। इस प्रकार लॉक विवक तथा अनुभव युक्त विचारधारा का समर्थन करता है। ग्रोशियश विवकेयुक्त व्यवहार का समर्थन करता है। वह मनुष्य की तर्क-शक्ति को ही संपूर्ण प्राकृतिक नियमों का आधार घोषित करता है। इस बौद्धिक-क्रान्ति को 'ज्ञानोदय' कहा गया। इस पर विचार करते हुए इमैनुएल कांट ने लिखा है- "ज्ञानोदय मनुष्य को उस दशा से मुक्ति दिलाता है जिसमें वह अपने-आप को बहुत छोटा समझने लगा है.... इसलिए नहीं कि उसमें ज्ञान की कमी है, बल्कि इसलिए कि उसमें अपने ही बल-बूते पर इस ज्ञान का प्रयोग करने के लिए संकल्प और साहस की कमी है।"

उपरोक्त विवेचनाओं से स्पष्ट है कि आधुनिकता की स्पष्ट अवधारणा बुद्धिवादी तार्किकता में फलीभूत होती है।

(2) सार्वभौमिकतावाद

आधुनिकता की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता सार्वभौमिकतावाद है। सार्वभौमिकतावाद वह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है जो तर्क व विज्ञान के नियम को प्रत्येक परिस्थितियों में समान रूप से लागू करने का पक्षधर है। सम्पूर्ण मनवीय समाज को इन नियमों के द्वारा बिना किसी अपवाद के समझा जा सकता है। सार्वभौमिकतावाद इस तथ्य पर आधारित है कि समस्त विश्व के व्यक्तियों की प्रकृति में एकरूपता है। अतः सम्पूर्ण विश्व एक ही सार्वभौमिक नियम के द्वारा संचालित है। सार्वभौमिकतावाद के तत्व सर्वप्रथम 'स्टोइक-दर्शन' में प्रस्फुटित हुए। स्टोइकवादियों का मानना था कि मनुष्य का विवक प्राकृतिक नियमों का प्रतिनिधि है। विवक पर आधारित नियम ही प्राकृतिक कानून है जो सुनिश्चित एवं सार्वभौमिक है। दर्शन के अनुसार मानव-मानव में कोई अन्तर नहीं है। तात्पर्य यह है कि एक ही बुद्धि सर्वत्र व्याप्त है तथा उसका प्रत्येक गतिविधियों पर सम्पूर्ण नियंत्रण है। इस विचारधारा द्वारा ही सर्वप्रथम सामनता, भ्रातृ-भावना, विश्व बंधुत्व और प्राकृतिक नियमों ने कहा है कि संसार में कोई भी वस्तु किसी दूसरी वस्तु के साथ इतना गहरा सादृश्य नहीं रखती, जितना कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ। समानता के इसी सादृश्य के आधार पर उसने माना कि सभी मनुष्य एक ही सार्वभौमिक कानून के द्वारा संचालित हैं। सार्वभौमिकतावाद के समर्थक विद्वानों में सन्त पाल, सन्त अम्ब्रोज, सन्त आगस्टाइन, सन्त ग्रेगोरी प्रथम, पोप ग्लेसियस प्रथम आदि हैं। पुनर्जागरण से प्रभावित वैज्ञानिक विकास ने भी सार्वभौमिक समाज निर्मित करने में अपनी भूमिका निभाई। प्रमुख वैज्ञानिकों उदाहरणस्वरूप कौपर निकास गैलेलियो, न्यूटन, कैपलर तथा फ्रांसिस बेकन ने मनुष्य सत्य तक पहुँचने के लिए विज्ञान का माध्यम चुना। उनके अनुसार विज्ञान एवं तर्क द्वारा ऐसे नियमों को सृजित किया जा सकता है जो सम्पूर्ण मानव समाज में एक समान लागू हो सकते हैं। पृथ्वी द्वारा सूर्य के परिक्रमण का सिद्धान्त एवं न्यूटन का नियम इत्यादि ने आधुनिक समाज में सार्वभौमिकता के महत्व को प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

(3) **व्यक्तिवाद** - आधुनिकतावाद के आधार विशेषताओं में 'व्यक्तिवाद' को भी माना जाता है। इस मत के अनुसार सभी प्रकार के चिन्तन का केन्द्र व्यक्ति ही हैं व्यक्ति की भूमिका सर्वोपरी है। एडवर्ड चेनी, पोप इत्यादि ने व्यक्तिवाद को प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वस्तुतः व्यक्तिवाद सम्बन्धी आधुनिक-चिन्तन अपने मूल रूप में बौद्धिक जागरण के पश्चात् आया इसकी पृष्ठभूमि में मध्यकालीन धार्मिक संस्थाओं की अमानवीय निरंकुशता थी। धार्मिक संस्थाओं ने चर्च, पोप या ईश्वर को केन्द्र में रखकर व्यक्ति के महत्व को अत्यन्त तुच्छ बना कर उपस्थित किया था। व्यक्तिवाद ने वे सभी विचार-सिद्धान्त गलत सिद्ध किये जो व्यक्ति के तर्क पर सिद्ध नहीं किये जा सकते। समाज के सभी परिप्रेक्ष्यों को व्यक्ति की कसौटी पर कसकर देखने की बात कहीं गई। प्रश्न उठता है कि क्या आधुनिक काल से पूर्व व्यक्ति की महत्ता नहीं थी? उपनिषद् की यह उक्ति प्राचीन हैं- 'नहि मनुष्यात् श्रेष्ठतर किञ्चित्' अर्थात् मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। लेकिन यहाँ हमें सावधान रहना होगा कि मनुष्य की श्रेष्ठता पशु-पक्षी, जानवर, प्रकृति के सन्दर्भ में कही जा रही है। मनुष्य से भी श्रेष्ठ-उच्च ईश्वर है और सारे मूल्य उसी में केन्द्रित हैं। आधुनिक युग का व्यक्तिवाद ईश्वर की जगह मनुष्य को केन्द्रित करता है। आधुनिक युग में व्यक्ति-केन्द्रित अध्ययन प्रारम्भ होने के पश्चात् विचारकों ने मानव स्वभाव की विभिन्न व्याख्याएँ की तथा मानववाद के अनुरूप विभिन्न नये अनुशासनों का जन्म भी इसी क्रम में हुआ। राजनीति-दर्शन के प्रतिनिधि विचारक निकोली मैकियावेली ने नैतिकता, धर्म तथा राजनीति के सम्बन्धों को मानववाद के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया। मैकियावेली पहला विचारक था जिसने राजदर्शन को मानव केंद्रित बना दिया। इसी प्रकार टॉमस हाब्स तथा जॉन लॉक के विचारों का केन्द्र भी व्यक्ति ही है। फ्रांसीसी विचारक माण्टेस्क्यू ने निरंकुश शासन व्यवस्था तथा धार्मिक कट्टरता की प्रतिक्रिया में 'शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त' प्रस्तुत किया। डेविड ह्यूम, हैल्वेटियस तथा हॉलश आदि उपयोगितावादी विचारकों ने निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति आनन्द तथा पीड़ा नामक दो प्रेरक शक्तियों के वशीभूत होकर कार्य करता है। जॉन स्टुअर्ट मिल व्यक्ति की स्वतंत्रता पर विशेष बल देता है। वह मनुष्य के मस्तिष्क को समाज-परिवर्तन का निर्धारक मानता है। मिल की मान्यता है- 'विचारों को खिलने दो, उन्हें अभिव्यक्त होने दो, उन्हें जंजीरों में मत बाँधो। विचार मानव समाज के विकास, उसके उत्थान के लिए आवश्यक प्रेरणा स्रोत हैं।' हरबर्ट स्पेन्सर ने व्यक्तिवाद की नयी व्याख्या प्रस्तुत की। उसने कहा कि व्यक्ति का विकास प्राकृतिक ढंग से उसी तरह स्वतंत्रतापूर्वक होना चाहिए, जिस तरह मानव के अतिरिक्त किसी अन्य जीव का होता है। स्पेन्सर राजसत्ता को स्वतंत्रता के क्षेत्र में एक बुराई मानता है।

आधुनिकतावाद के प्रतिष्ठा के उपरान्त इस पर प्रश्न चिह्न भी लगाया जाने लगा। पहला प्रश्न चिह्न इसके बुद्धिवाद को लेकर था। मनोवैज्ञानिक अध्ययन ने बुद्धि के विज्ञान की जगह व्यवहार के विज्ञान पर बल दिया। मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य क्या करता है ? की बजाय मनुष्यों क्यों और किस लिए करता है? जैसे प्रश्नों पर बल दिया। सामाजिक वातावरण के साथ ही मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों पर भी बल दिया जाने लगा। मनोवैज्ञानिक मैक्डुगल ने मनुष्य की 12 मूल प्रवृत्तियों को मुख्य माना। इसी

क्रम में फ्रायड ने चेतनावस्था के साथ अचेतनावस्था के सत्य को भी प्रमाणित किया। समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने आधुनिकता को लक्ष्य करके सामाजिक क्रियाओं को चार प्रकार के वर्गों में विभक्त किया- उद्देश्य क्रियाएँ (तर्क का प्रयोग), मूल्य परक तार्किक क्रियाएँ (कर्ता-तर्क साध्य के रूप में, साधन का निर्धारण-सामाजिक मूल्य के रूप में), अनुभवात्मक अथवा संवेगात्मक क्रियाएँ, परम्परागत क्रियाएँ। टालकर पार्सन्स इस सम्बन्ध में मानव क्रियाओं की तीन कोटियाँ करता है- संज्ञानात्मक अभिप्रेरक, कैथेटिक अभिप्रेरक (व्यक्ति का संवेगात्मक अथवा अनुभवात्मक जुड़ाव), मूल्यांकनात्मक अभिप्रेरक। इसी प्रकार विल्फ्रेदो पारेतो ने कहा कि सामाजिक संन्दर्भ में विज्ञान तार्किक व प्रयोगात्मक तो है, परन्तु साथ ही वह प्रयोगात्मक समरूपता के नियम का पूर्णतः पालन नहीं करता। विलियम जोन्स ने बुद्धिवाद की एकांगिता पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए कहा कि सत्य वास्तव में आस्था-विश्वास है। उसने कहा कि धर्म, नैतिकता, मूल्य जैसे प्रश्नों का उत्तर हृदय से ही मिल सकता है, मस्तिष्क द्वारा नहीं। इसी प्रकार फ्रेडरिक नीत्शे भी किसी शाश्वत सत्य की बुद्धिवादी अवधारणा की निन्दा करता है। जर्मनी के विचारकों मैक्स होर्वाइमर तथा थियोडोर विसेग्रन्ड आडोर्नी ने भी ज्ञानोदय के तर्कवाद की आलोचना की। उन्होंने तार्किक बौद्धिकवाद को वर्चस्व के रूप में देखा है। तार्किक आधुनिकतावाद की आलोचना करते हुए युरगेन हेबरमास ने संचारात्मक तर्क की उपयोगिता की बात की। हेबरमास ने ज्ञान को तीन कोटियों में विभाजित किया है।

1. आनुभाविक/ विश्लेषणात्मक ज्ञान
2. ऐतिहासिक ज्ञान
3. विवेचनात्मक ज्ञान

हेबरमास विज्ञान के तकनीकी नियंत्रण के अतिरिक्त आर्थिक, सामाजिक-राजनीतिक हितों की पूर्ति को भी उतना ही आवश्यक मानता है। इसीलिए हेबरमास ने विवेचनात्मक सिद्धान्त को संचार से जोड़ा है। हर्वर्ट मार्क्यूज ने आधुनिकता की आलोचना करते हुए लिखा कि आधुनिक समाज के अत्यधिक विकसित जन सम्पर्क के साधनों का प्रयोग एक निश्चित वर्ग यानी पूँजीपति वर्ग ही करता है। पूँजीपति वर्ग तार्किक युक्ति का प्रयोग कर अन्य वर्ग के असंतोष को संवेदना शून्य बना देता है। अमरीकी विचारक एरिक फ्रॉम के अंतर्गत मनुष्य के अकेलेपन की पीड़ा का चित्रण किया है कार्ल पॉपर ने आधुनिकता के पूर्ण सत्य के दावे पर प्रश्न चिह्न लगाया। उसने कहा कि मानवीय ज्ञान हमेशा ही अपूर्ण रहता है, अतः सत्य को प्राप्त कर लेने का वैज्ञानिक दावा करना असत्य ही है। एलेस्डायर मैकिंटाइर तथा चार्ल्स टेलर ने आधुनिक व्यक्ति केन्द्रित अध्ययन की आलोचना की है। उन्होंने कहा कि व्यक्ति का 'स्व' समान के 'पर' से अलग नहीं है। चार्ल्स टेलर का आग्रह समाज से कटे हुए व्यक्ति के बजाय समाज से जुड़े हुए व्यक्ति केन्द्रित अध्ययन को विकसित करने पर बल दिया।

अतः उपर्युक्त आलोचना- प्रत्यालोचना से स्पष्ट है कि आधुनिकता की आवधारणा सामन्ती मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया में विकसित हुई थी। आधुनिकता के उदय को ज्ञानोदय के उदय के रूप में देखा गया है, क्योंकि मध्यकाल के भाववाद, आस्था, विश्वास, ईश्वर की जगह इसने बुद्धि, तर्क, व्यक्तिवाद, मानववाद को प्रतिष्ठित किया। लेकिन एक समय बाद बुद्धि- तर्क की अधिकता के प्रति भी विद्वानों के मन में अनिश्चित एवं संशय की भावना पनपी। तर्क ज्ञान के लिए आवश्यक है लेकिन क्या केवल तर्क से सत्य तक पहुँचा जा सकता है? विज्ञान मानव सभ्यता के विकास के लिए आवश्यक है लेकिन क्या केवल विज्ञान ही मनुष्य को सुखी- सभ्य बना सकता है? ऐसे प्रश्नों ने आधुनिकता की सीमाएँ स्पष्ट कर दी। ज़ाहिर है ऐसी पृष्ठभूमि में उत्तर-आधुनिकतावाद का जन्म हुआ। अगले खण्ड में आप उत्तर- आधुनिकतावाद की प्रमुख अवधारणा से परिचित होंगे।

16.3.2 आधुनिकतावाद और हिन्दी साहित्य

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल व्यापक रूप से आधुनिकताबोध से संचालित और प्रभावित रहा है। भारतेन्दु कालीन नवजागरण के मूल में आधुनिकतावादी चेतना ही काम रही है, जिसने पुराने मूल्यों को आधुनिक सन्दर्भों में देखने की दृष्टि प्रदान की। महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्य रीतिकालीन संस्कारों से मुक्ति के सन्दर्भ में ही लिखा गया है। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती', 'साकेत' तथा हरिऔध 'प्रियप्रवास' इसी चेतना से लिखा गया है। छायावादी साहित्य (विशेषकर कविता, नाटक) व्यापक रूप से पुनरूत्थानवादी चेतना से आप्लावित है। प्रगतिवादी साहित्य के केन्द्र में प्रगतिशील चेतना काम कर रही है, जो ईश्वर की जगह मानव को केन्द्र में रखती है। हिन्दी साहित्य का प्रयोगवादी कविता व्यापक रूप से आधुनिकतावादी चेतना से संचालित रहा है। आधुनिकतावादी अवधारणाओं अंतर्विरोध, विसंगति, बिडम्बना, संत्रास की दृष्टि से नई कविता विशेष महत्वपूर्ण है। मोह भंग की कविता, जनवादी कविता एवं उत्तर - आधुनिक कविता व्यापक रूप से आधुनिक विमर्शों से जुड़ी हुई हैं।

बोध प्रश्न - 2

(क)- नीचे कुछ कथन दिये गए हैं। इनमें से कुछ सही हैं तथा कुछ गलत। उपयुक्त चिह्न लगाकर स्पष्ट कीजिए।

1. आधुनिक आंग्ल भाषा के मार्टेनिटी शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है।
2. आधुनिक शब्द की व्यंजना 'वर्तमानकालिक बोध' से है।
3. आधुनिकता अतीत पर बल देती है।
4. आधुनिकता बोध ईश्वर को केन्द्र में रखता है।

5. आधुनिकता के केन्द्र में आस्था -विश्वास है।

(ख)- रिक्त स्थानों पूर्ति कीजिए।

1. को आधुनिक बुद्धिवाद का जनक कहा जाता है।
2. ने धर्म तथा आत्मा को आन्तरिक अनुभव माना।
3. सार्वभौमिकवाद का सिद्धान्त..... का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।
4. आधुनिकतावाद ने ईश्वर की जगह..... को प्रतिष्ठित किया।
5. जॉन स्टुअर्ट मिल..... पर विशेष बल देता है।

16.4 उत्तर-आधुनिकता क्या है?

अकादमिक क्षेत्र में उत्तर -आधुनिकता अभी भी एक जटिल प्रत्यय, जिसकी स्पष्ट अवधारणा सुनिश्चित नहीं हो पाई है। हाँलाकि पश्चिमी दर्शन और समीक्षा जगत में इस पर कम नहीं लिखा गया है। पिछले कुछ दशकों में सर्वाधिक प्रभावशाली आन्दोलन के रूप में उत्तर-आधुनिकता को स्वीकृति एवं मान्यता मिली है। प्रश्न है कि उत्तर-आधुनिकता क्या है? क्या यह आधुनिकता का अगला चरण? क्या यह आधुनिकता से एकदम भिन्न है? क्या यह भाषाई आन्दोलन है? क्या यह तकारवादी आन्दोलन है? क्या यह 'अन्त' की घोषणा करने वाला आन्दोलन है? उत्तर- आधुनिकता की स्थिति क्या समाज को विनाश की ओर ले जा रही है? क्या उत्तर- आधुनिकता की स्थिति क्या समाज के विकास की स्वाभाविक परिणति है? क्या उत्तर- आधुनिकता भय-सृजन की संयुक्त परिणति है? जाहिर है ढेरों ऐसे प्रश्न हैं जो उत्तर-आधुनिकता को समझने में हमारी मदद कर सकते हैं। उत्तर आधुनिकता शुद्ध रूप में न केवल भाषाई आन्दोलन है, न अकादमिक आन्दोलन। यह अलग बात है कि इस आन्दोलन में भाषा को सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है। उत्तर-आधुनिकता को 'डी कान्स्ट्रक्शन' भी कहा गया है। डी कान्स्ट्रक्शन' के तीन बीज बिन्दु हैं- भिन्नता (डिफरेन्स), निशान और आलेखन (आर्क राइटिंग)। भिन्नता और निशान का सम्बन्ध साहित्य की भाषिक संरचना से है और आद्यलेखन का सम्बन्ध अनकहे की तलाश से। भिन्नता से तात्पर्य चिह्न की दो क्रियाओं से है- भिन्नता और विलम्बना। भिन्नता का यहाँ अर्थ है कि जो वह है वह दूसरा नहीं है तथा विलम्बन का अर्थ है ऐसे कुछ जो पूरे रूप में पाठ में उपस्थित नहीं है या स्थगित है। निशान या पदचिह्न कुछ है जिससे अनुपस्थिति तक पहुँचा जा सकता है। दरिदा के अनुसार साहित्य में भाषा का नहीं निशान की अनुपस्थिति का महत्व है। वस्तुतः भाषा का मौन अन्तराल निशान टेक्स ही है। प्रत्येक शब्द या सृजनात्मक शब्द अपने आप में अपर्याप्त या अपूर्ण होता है। वह जितना कहता है उससे अधिक अनकहा रह जाता है यानी शब्दों में विलोपीकरण की शक्ति निहित रहती है। भाषागत सभी चिह्न हमें उस दिशा की ओर ले जाते हैं कि जो चिह्न में नहीं है। फिर प्रश्न है कि उनकी सार्थक

तलाश कैसे हो? वस्तुतः चिह्नों में कुछ निशान मौजूद रहते हैं, जो हमें अनुपस्थित अर्थ की ओर ले जाते हैं। अनुपस्थित अर्थ ही आद्यलेखन है। श्रेष्ठ साहित्य या भाषा अपने आप में इतनी सामर्थ्यवान होती है कि विशालतर छवियाँ अपने आप में धारण किए हुए होती हैं। वस्तुतः सही अर्थों में भिन्नता, निशान या आद्यलेखन उत्तर- आधुनिक टूल्स(औजार) हैं, जिसके आधार पर समकालीन यथार्थ तक पहुँचा जा सकता है।

16.4.1 उत्तर- आधुनिकता की प्रस्तावना

उत्तर-आधुनिकता जटिल और ऐतिहासिक पद है, जिसका जन्म कम्प्यूटर युग, दूर संचार माध्यम तथा टेक्नोलॉजी आदि की नयी परिस्थितियों के कारण हुआ है। उत्तर-आधुनिकतावाद में 'उत्तर' शब्द एक 'मूड' की ओर संकेत करता है, जो हमेशा 'अन्त' की बात करता है। वह अन्त किसी भी रूप में हो सकता है। जैसे यह तो 'लेखक की मृत्यु', 'कलाकार की मृत्यु', या सबसे विद्रूप के साथ 'इतिहास के अन्त' के रूप में सामने आता है। इसमें तर्क, यथार्थ, विचारधारा, इतिहास तथा रूप सबके नकार की घोषणा मिलती है। एक प्रकार से यह एक अराजकतावादी निहिलिस्ट प्रवृत्ति है, ऐसा भ्रम होता है। वस्तुतः इनके नकार का एक विशेष प्रयोजन है।

उत्तर-आधुनिकतावाद का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। सबसे पहले जॉन बार्थ ने 1967 ई0 में कला के सन्दर्भ में इस पद का प्रयोग किया था। 1979 में प्रकाशित ल्योतार की "द पोस्ट मॉडर्न कंडीशन ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज" तथा 1984 में प्रकाशित फ्रेडरिक जैम्सन की 'पोस्ट ऑफ लेट कैप्टलिज्म में उत्तर- आधुनिकता की बुनियादी मान्यताएँ मिलती हैं, किन्तु जॉक देरिदा की पुस्तक 'ग्रामटोलॉजी' डी-कान्स्ट्रक्शन की आधारशिला ही है। जॉक देरिदा ने अपने तर्क से यह सिद्ध किया कि पुराने सारे दर्शन, तर्क, विचारधाराएँ 'सत्य के हाशिए' हैं। भाषा का कार्य 'हाशिए की खोज' है। इस क्रम में उत्तर-आधुनिकतावाद के तीन केन्द्रीय प्रस्ताव हैं- समग्रतावादी सार्वभौमिक शक्तियों का नकार, तर्कवाद का नकार और आधुनिकतावादी सक्षमता का नकार। पश्चिमी जगत ने अपनी ज्ञानोदयी भंगिमा के कारण एक केन्द्रीकृत विश्व का निर्माण किया था, जिसमें सार्वभौमिक सिद्धान्त पर बल देने की बात थी। केन्द्रीकृत विश्व ओर कुछ नहीं 'पूँजीवादी विश्व ही है, जिसने अपने साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के तहत शेष दुनिया (तीसरी दुनिया) के देशों को अपने अन्तर्गत कर लिया था। यह धारणा पश्चिम के तर्कवाद में निहित है। एडोर्नो होर्खीमार ने बताया कि किस तरह पश्चिम का विमर्श रहा है। मनुष्य को जीना है तो विकास करना है। विकास करना है तो प्रकृति पर नियंत्रण पूर्ण नियंत्रण जरूरी है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की अधिकांश ज्ञानोदय धारणाएँ इसी उद्देश्य से प्रेरित थीं। आगे एडोर्नो ने लिखा है हर प्रगति के साथ ही दमन भी चलता रहता है। पश्चिम का समूचा तर्कशास्त्र अन्तर्विरोधों रहित अवस्था, प्राप्त करने का तरीका है जो मूलतः नियंत्रण के रास्ते से आता है।

16.4.2 उत्तर-आधुनिकता के मुख्य बिन्दु

उत्तर- आधुनिकता के केन्द्र में न केवल उत्पादन है या अर्थव्यवस्था है बल्कि उपभोक्ता समाज है। ऐसी परिस्थिति के निर्माण उद्योगों की बढ़ती संख्या तथा लोगों की उत्पादन की अधिकता के कारण हुआ। अब उपभोक्तियों के लिए बाजार भरा हुआ था। शर्त यह थी कि उपभोक्तियों की क्रय शक्ति कैसे बढ़े?। वस्तुओं पर से उद्योगपतियों का अधिकार समाप्त होने तथा वस्तुओं की गुणात्मकता की ओर उपभोक्तियों का ध्यान आकृष्ट होने से नई स्थिति सामने आई। बहुत सारा तैयार माल सस्ते दामों में बिकने लगा, तदन्तर पूँजीवादी व्यवस्था के सामने एक भीषण संकट पैदा हुआ, क्योंकि विक्रय हेतु भविष्य में किसी नये बाजार की सम्भावना समाप्ति पर भी, बाजार में एक प्रकार का ठहराव आ गया। ऐसी परिस्थितियों में पूँजीपतियों ने अपने सामान बेचने हेतु विकासशील देशों के ऊपर दबाव बनाया। फलतः नये बाजार की खोज के लिए तीसरी दुनिया के देश बड़ी सम्भावना के रूप में उभरे। विकसित देशों ने अपना माल बेचने के लिए विज्ञापनों का सहारा लिया। विज्ञापन संस्कृति में तकनीकी विशेषज्ञों की माँग बढ़ी। अब जरूरत का स्थान इच्छा ले लेती है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति में इच्छा अनन्त हो गई बौद्रिआ ने इसे 'छल' कहा। उत्तर-आधुनिकता में तकनीक मुख्य हो गई। माध्यम मुख्य हो गये। मार्शल मैक्लुहाल ने साधन को साध्य घोषित करते हुए मीडियम ही मैसेज' का नारा दिया। आधुनिकता ने जिसे अप्रस्तुति योग्य करार दिया था। (अपने ज्ञान और तर्क की तुला पर), उसे उत्तर-आधुनिकता ने केन्द्र में खड़ा कर दिया। जैसे नारी, दलित, पिछड़े इत्यादि। केन्द्र का अर्थ यहाँ मुख्यधारा में लाना ही था, इन की केन्द्रीयकरण करना। क्योंकि उत्तर-आधुनिकता केन्द्रीयकरण को अस्वीकार करके विकेन्द्रीयकरण पर बल देती है।

16.4.3 आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता

आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता क्या एकदम भिन्न प्रत्यय है? विकास की दो मंजिलें हैं? या आधुनिकता का सहज विकास उत्तर-आधुनिकता है? इन प्रश्नों पर विचारकों में परस्पर विरोध की स्थिति है। लेकिन एक बात प्रायः चिंतकों ने स्वीकार की है कि उत्तर-आधुनिकता की समझ के बिना आधुनिकता की समझ प्राप्त नहीं की जा सकती। उदाहरण के तौर पर हम देखें कि 'वेस्टलैण्ड' और बुल्फ के 'लाइट हाऊस' में मानवीय आत्मनिष्ठता के वर्तमान खण्डित दृष्टिकोण को प्रकट करते समय आधुनिकता दुःख, एकाकी भाव के रूप में दिखता है। आधुनिकतावादी मानते हैं कि कला जीवन में अर्थ की खोज का नाम है। कला जीवन को व्यवस्था प्रदान करता है। जो कि आधुनिक जीवन में कहीं खो गया है। इसके ठीक विपरीत उत्तर-आधुनिकतावाद जीवन के विखंडित टुकड़ों में दुःख और खोने के एहसास की बजाय उसमें आनन्द तलाशता है। वही दुःख को उत्सव की तरह देखता है। फिल्मी गीतों के उदाहरण से हम आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के अन्तर को बखूबी समझ सकते हैं। आधुनिकतावादी मूड की अभिव्यक्ति कुछ इस प्रकार होगी-

दुनिया में हम आए हैं तो जीना ही पड़ेगा, जीवन है अगर ज़हर तो पीना पड़ेगा।

जिंदा हूँ इस तरह कि गमे जिंदगी नहीं, जलता हुआ दिया हूँ मगर रोशनी नहीं।

इसके विपरीत उत्तर-आधुनिकतावादी मूड की अभिव्यक्ति कुछ इस प्रकार होगी-

हर फ्रिक को धुएँ में उड़ाता चला गया, मैं जिंदगी का साथ निभाता चला गया

बर्बादियों का जश्न मनाना कबूल था, बर्बादियों का शोक मनाता चला गया।

आज में ऊपर आसामाँ नीचे, आज में आगे, जमाना है पीछे।

आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के पाथर्क्य-विवेचन के सन्दर्भ में फ्रेडरिक जेमसन ने पूँजीवाद के तीन स्वरों की चर्चा की है-

1. बाजार पूँजीवादी: जिसमें भाप के इंजन का आविष्कार हुआ। इसका समय 18वीं से उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध का है।
2. एकाधिकार पूँजीवाद: उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से लेकर बीसवीं सदी के मध्य तक का समय। इस काल में बिजली और अति ज्वलन मोटर इंजनों का आविष्कार हुआ। इस काल में आधुनिकतावाद कहा गया है।
3. उपभोक्ता पूँजीवाद: वर्तमान युग। इस स्थिति में ज्यादा जोर सामानों के क्रय, विक्रय और मार्केटिंग पर रहता है। उपभोग पर इसमें सर्वाधिक बल रहता है। तकनीक और माध्यम पर इसमें सर्वाधिक बल रहता है। इसे ही उत्तर-आधुनिकता कहा गया है।

आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के सम्बन्धों के प्रश्न पर जहाँ मार्शल मैक्लुहाल और बौद्रिया दोनों में विरोध मानते हैं, वहीं ऐलेक्स कॉलिनिकस का विचार है कि उत्तर-आधुनिकतावाद की मूल प्रवृत्तियों आधुनिकतावाद में निहित हैं। ल्योतार ने उत्तर-आधुनिकता को आधुनिकता का अगला चरण माना है। हेबरमास भी दोनों में विरोध की स्थिति नहीं देखता।

16.4.4 उत्तर-आधुनिकता के विभिन्न मत

उत्तर-आधुनिकता के सम्बन्ध में विद्वान दो शिवरों में बँटे हुए हैं। एक शिविर में इसे क्रान्तिकारी कहा जाता है तो दूसरे शिविर में अर्थहीन और आतंकवादी। लियोतार्द के अनुसार उत्तर-आधुनिकतावाद आधुनिकता के भीतर की ही एक प्रवृत्ति है जो किसी चीज पर विलाप नहीं करती। वही यर्थाथ, क्रमबद्धता और समग्रता की धारणा को अस्वीकार करती है। हेबरमास उत्तर-आधुनिकतावाद में भी आधुनिकता की कुद विशिष्टताओं को बनाए रखना चाहता है। डेरिदा का बल अनकहे और अनुपस्थिति की तलाश पर ज्यादा है। ल्योतार ने 'महावृत्तान्तों के प्रति अविश्वसनीयता' की प्रवृत्ति को उत्तर-आधुनिकता के सन्दर्भ में समझा। आधुनिकता के समग्रतावाद को ल्योतार ने निरंकुश

माना और संदेशवाद को बहुलतावाद में बदला। उत्तर-औद्योगिक समाज में चूँकि 'ज्ञान की उत्पादक' हो गया इसलिए ल्योतार ने महावृतांत (महाविचार, महानायक आदि) को भविष्यहीन कहा। फ्रेडरिक जेमसन ने उत्तर-आधुनिकतावाद को 'वृद्ध पूँजीवाद के सांस्कृतिक तर्क' के रूप में देखा जिसमें बहुराष्ट्रीय निगमों की तकनीक और उपभोक्तावादी विचार सक्रिय है। एनस हैलर के लिए उत्तर-आधुनिकतावाद अन्ततः बहुलतावाद है जो उत्तर-औद्योगिक समाज का परिणाम है। हैबर मास के लिए उत्तर-आधुनिकता एक योजना है, उपलब्धि नहीं। जॉन मैकग्वाल ने लिखा है उत्तर आधुनिकता एक ऐसी फिसलनदार पदावली है कि हम उसे आसानी से स्थिर नहीं कर सकते।

16.4.5 उत्तर-आधुनिकता और हिन्दी साहित्य

जैसा कि पूर्व में कहा गया कि उत्तर-आधुनिकता को लेकर उसके विचारकों में ही मतभेद ही स्थिति है तो सामान्य पाठक और आलोचक उसे सही रूप में समझ सकेंगे, यह मुश्किल है। भारतीय संदर्भ में उत्तर-आधुनिकता पर विचार करते हुए डॉ० बच्चन सिंह ने टिप्पणी की है- "इसमें (उत्तर आधुनिकता में) तर्क" यर्थाथ, इतिहास, रूप सबका नकार है। यह एक अराजकतावादी निहलिस्ट प्रवृत्ति है। अपने यहाँ तो अभी पूरी तरह से आधुनिकतावाद ही नहीं है, उत्तर-आधुनिकतावाद तो दूर की स्थिति है।" लेकिन खुद अगली ही पंक्ति में बच्चन सिंह इसके प्रभाव को स्वीकारते प्रतीत होते हैं, जब वे कहते हैं- "पर एतदजन्य उपभोक्तावाद ने हमारी संस्कृति और मूल्यों पर आक्रमण करना शुरू कर दिया है।" तात्पर्य यह कि विचारकों का पुराना दल अभी भी उत्तर-आधुनिकता में सब कुछ नकारात्मक ही देखता है औ उसे सम्पूर्ण रूप में खारिज करने की वकालत करता है, लेकिन युवा आलोचकों ने उत्तर-आधुनिकतावाद में सम्भावना भी देखी है। देरिदा ने भाषा को केन्द्र में करने अनुपस्थित अर्थों की तलाश की है। साहित्य के सन्दर्भ में गार्सिया मार्केज के 'एकान्त के सौ वर्ष' जैसी कृतियाँ उत्तर आधुनिकतावादी साहित्य की केन्द्रीय कृति है। मार्केज ने एक नये प्रकार के शिल्प को जन्म दिया, जिसे 'जादुई यर्थाथवाद' कहा गया है। प्रश्न है 'जादुई यर्थाथवाद' क्या है? वस्तुतः यर्थाथ अब पहले जैसा सपाट नहीं रह गया है। तंत्र-व्यवस्था- मनुष्य का मन और सामाजिक स्थितियाँ पहले से कहीं ज्यादा जटिल, सूक्ष्म हो गई हैं, उन्हें किसी दर्शन-विचार के माध्यम से हल नहीं किया जा सकता। यर्थाथ के उद्घाटन के लिए या यर्थाथ तक पहुँचने की जादुई शैली का नाम है जादुई यर्थाथवाद। हिन्दी साहित्य में दलित, स्त्री, आदिवासी साहित्य इस आन्दोलन के उभार है। मनोहर श्याम जोशी का कसप, हरिया हरक्युलीन की हैरानी जैसे उपन्यास को उत्तर-आधुनिकतावादी कहा गया है। विनोद कुमार शुक्ल का उपन्यास 'दीवार में एक खिड़की रहती थी', गोविन्द मिश्र का 'पाँच आंगनों वाला घर', सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए' तथा उदयप्रकाश की लम्बी कहानियाँ तिरिक्ष, वारेन हेस्टिंग्स का साँड़, पीली छतरी वाली लड़की' जैसी कृतियाँ उत्तर-आधुनिक कृतियाँ ही हैं। उदाहरण के लिए 'हरिया हरक्युलिस की हैरानी' में मनोहरश्याम जोशी ज्ञान की सिर्फ बहिर्गत अस्तित्व को प्रश्नांकित करने हैं तो प्रकारान्तर से वह यह सिद्ध करते हैं कि यर्थाथ का ज्ञान सिर्फ प्रयोगशालाओं, शास्त्रों, अकादमिक बहसों में नहीं रहता, बल्कि अनुभव में भी रहता है और

अनुभव की प्रक्रिया प्रचलित ज्ञान को चुनौती दे सकती है। हरिया हरक्यूलिस जिस ज्ञानी संसार के लिए पगलेठ है उस पगलेठ की नजर में यह ज्ञानी संसार स्वयं एक पगलेठ संसार है। ज्ञानोदय पर अनुभाव की बहाली उत्तर आधुनिकता साहित्य का प्रस्थान है। तिरिक्ष कहानी में जिस प्रकार 'व्यवस्था' कहानी नायक को पागल करके मारती है, इस क्रम में व्यवस्था की जटिलता स्वयं उजागर हो जाती है। दीवार में एक खिड़की रहती थी में जिस प्रकार के माध्यम से, व्यवस्था को नाकर कर फंतासी के माध्यम से खिड़की का रूपक तैयार किया गया है। वह उत्तर-आधुनिकतावादी विरोध ही है। पीली छतरी वाली लड़की में जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था, स्त्री देह, सामाजिक दमघोंटू यर्थाथ पर जादुई यर्थाथवाद की विजय दिखाई गई हैं। वह आधुनिकता पर उत्तर-आधुनिकतावादी विजय ही है।

16.4.6 उत्तर-आधुनिकता की सीमा

उत्तर आधुनिकतावाद पश्चिमी ज्ञानोदय के विरुद्ध खड़ा हुआ, जो आधुनिकतावाद का आधार रहा है। यह ज्ञानोदय के आधारभूत सिद्धान्तों को प्रश्नांकित करता है। समाजशास्त्र, इतिहास और दर्शन के बने-बनाये स्वीकृत सिद्धान्तों को उत्तर-आधुनिकता किसी नये सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है? इसका उत्तर नहीं में है। क्योंकि उत्तर- आधुनिकता स्वयं कोई सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं करता, यह उसकी एक सीमा हसे सकती है। उसका तर्क है कि जो भी सिद्धान्त निर्मित होगा। वह अधूरा होगा। स्पष्ट है कि उत्तर-आधुनिकतावादी मुकम्मल परिभाषा सम्भव नहीं है, क्योंकि यह स्वयं समग्रता विरोधी है।

उत्तर-आधुनिकतावाद की सीमा निर्धारित करते हुए हम यह कह सकते हैं कि यह आधुनिकतावाद की कमियों की ओर तो शारा करता है, लेकिन स्वयं किसी सिद्धान्त देने से पीछे हट जाता है। अतः उत्तर-आधुनिकतावाद एक भ्रामक विचारधारा के तौर पर हमारे सामने उपस्थित होता है। यह विचारधारा इतिहास रहित एक ऐसे विखंडित समाज को निर्मित करने का एक अमूर्त प्रयत्न है। जिसकी कोई निश्चित दिशा स्पष्ट नहीं है। एक ऐसे समाज को निर्मित करने पर बल देता है, जिसकी कोई निश्चित संरचना नहीं है।

16.4.7 उत्तर-आधुनिकता का प्रदेय

साहित्यशास्त्र को उत्तर-आधुनिक समीक्षा की बड़ी देन है-आलोचनात्मक दूरी की। जिसे आप चुनौती देते हैं, आप उसमें शामिल होते हैं। यहाँ आलोच्य विषयवस्तु और आलोचक के बीच की दूरी खत्म हो जाती है। जॉक देरिदा स्वयं कहता है- पाठ के बाहर कुछ नहीं। बहुलतावाद उत्तर-आधुनिकता का वह अस्त्र है जिससे केन्द्रीकृत वैश्विक पूँजी का विखण्डन किया जा सकता है, यह उत्तर-आधुनिकता का नैतिक पक्ष हो सकता है। उत्तर-आधुनिकता अतीत को न व्यर्थ मानता है न आदर्श। इसकी ऐतिहासिकता यही है कि यह उपलब्ध इतिहास को प्रश्नांकित तरीके से जटिल बनाता है। इतिहास अब बदल जाता है। अब हमारे समक्ष जो इतिहास का पाठ प्रस्तुत होता है, वह केन्द्रीय पाठ नहीं होता बल्कि बहुलतावादी सम्पूर्णता का पाठ होता है। यह आधुनिकता के ज्ञानोदय,

जिसमें विज्ञान का सत्य, ज्ञान का सत्य, राजनीति का सत्य, धर्म-अध्याय, साहित्य-संस्कृति का सत्य जैसी शाश्वत अवधारणाएँ लिपटी हुई हैं, को अपने विखण्डनवादी पाठ के द्वारा गल्प में तब्दील कर देता है। यह पाठ की निश्चितता को अनिश्चित मत में, केन्द्रीयता को बहुलता में तथा अन्तिम को अन्तिम में रूपान्तरित कर देता है। ऐसी अवस्था में विज्ञान ज्ञान का, राजनीति व्यवस्था का तथा साहित्य संस्कृति का गल्प हो उठता है। उत्तर-आधुनिकता में सबको जगह है। यहाँ कुछ भी विशिष्ट नहीं सब सामान्य है। आधुनिकता के शिखर पर कलाकार अपनी विशिष्टता के कारण अजनबीपन का शिकार हो गया था। उसे उत्तर-आधुनिकता ने दूर किया। उत्तर-आधुनिकता सम्पूर्णतावाद का निषेध करता है।

बोध प्रश्न - 3

(क)- निम्नलिखित शब्दों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

1. विखंडनवाद के बीज बिन्दुओं पर 10 पंक्तियों में विचार व्यक्त कीजिए।
2. उत्तर-आधुनिकतावाद के इतिहास पर संक्षिप्त चर्चा 10 पंक्तियों में कीजिए।
3. उत्तर-आधुनिकता के उपभोक्तावादी संस्कृति को 10 पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

(ख)- वाक्य के सामने सही अथवा गलत लिखिए।

1. उत्तर-आधुनिकता में भिन्नता पर बल दिया गया है।
2. फ्रेडरिक जैम्सन उत्तर- आधुनिकतावादी लेखक है।
3. 'ग्रामैटोलॉजी' पुस्तक का लेखक फ्रेडरिक जैम्सन है।
4. उपभोक्तावादी संस्कृति को बौद्रिदा ने 'छल' कहा है।
5. डॉ० बच्चन सिंह ने उत्तर-आधुनिकता को अराजकतावादी प्रवृत्ति मानते हैं।

16.5 सारांश

आधुनिकता का प्रयोग हम मुख्यतः दो संदर्भों में करते हैं- काल के अर्थ में एवं प्रवृत्तियों के अर्थ में। आधुनिकता ने आस्था-विश्वास की जगह तर्क एवं भाव की जगह बुद्धि पर बल दिया। ईश्वर का स्थान मानव ले लेता है और अतीत का स्थान वर्तमान। किसी ने इसका लक्षण वैज्ञानिक कार्य-कारण पद्धति माना है तो किसी ने औद्योगिक कारण को। किसी ने इसे व्यक्तिवाद की विजय के रूप में देखा है तो किसी ने समाज की पुर्नसगहना एवे संरचनाकरण से जोड़ा है। आधुनिकता की अवधारणा बुद्धिवाद, सार्वभौमिकतावाद, व्यक्तिवाद से संचालित रही है। उत्तर-आधुनिकता

आधुनिकता का अलग चरण है। आधुनिकता का सम्बन्ध जहाँ औद्योगिकीकरण से है, वहीं उत्तर-आधुनिकता का सम्बन्ध यंत्रीकरण से। अर्थात् उत्तर-आधुनिकता, यंत्रों के अत्यधिक प्रयोग के बाद उत्पन्न हुई वैचारिक दर्शन का नाम है। उत्तर-आधुनिकता किसी भी जड़ सैद्धान्तिकी के नकार से विकसित होता है। इस क्रम में कभी लेखक की मृत्यु, 'कविता की मृत्यु' को कभी 'इतिहास के अन्त' की घोषणा की जाती है। उत्तर-आधुनिकतावादी भाषा की खोज 'हाशिए की खोज' है। इस क्रम में उत्तर-आधुनिकतावाद के तीन केन्द्रीय प्रस्ताव हैं- समग्रतावादी सार्वभौमिक शक्तियों का नकार, तर्कवाद का नकार और आधुनिकतावादी सक्षमता का नकार। आधुनिकता के केन्द्र में तर्क और ज्ञानोदय र्थे आधुनिकता ने तर्क की कसौटी पर जिसे हाशिये पर धकेल किया था। उत्तर-आधुनिकता ने केन्द्र में खड़ा कर दिया। जैसे स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, आदिवासी - विमर्श।

16.6 शब्दावली

आधुनिकता-	औद्योगिकी के पश्चात् उत्पन्न नवीन दर्शन
उत्तर-आधुनिकता-	यंत्र केंद्रित दर्शन
सापेक्षतावाद-	किसी मत, व्यक्ति को सामाजिक मूल्यों के सापेक्ष देखने की दृष्टि
उदारतावाद-	बुद्धियुक्त व्यक्ति केंद्रित व्यवस्था
बुद्धिवाद-	तर्क पर आधारित चिंतन
सार्वभौमिकतावाद-	तर्क-विज्ञान के नियम को समान रूप से लागू करने का सिद्धान्त
व्यक्तिवाद-	व्यक्ति की भूमिका को केंद्रीय मानने का दर्शन।

16.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 2 (क)

1. सही
2. सही
3. गलत
4. गलत
5. गलत

(ख)-

1. रेने देकार्त
2. मार्टिन लूथर
3. आधुनिकता
4. मनुष्य
5. स्वतंत्रता

बोध प्रश्न 3 (ख)

1. सही
2. सही
3. गलत
4. सही
5. सही

16.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीच शब्द- बच्चन सिंह
2. आलोचना से आगे- सुधीश पचौरी, राधाकृष्ण प्रकाशन

16.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ऑफ ग्रामेटोलॉजी - डेरिदा
2. कंज्यूमर सोसाइटी- ज्याँ बौद्रिआ

16.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. आधुनिकता के प्रमुख प्रवृत्तियों को स्पष्ट कीजिए।
2. आधुनिकता एवं उत्तर-आधुनिकता के साम्य- वैषम्य पर प्रकाश डालिए।

इकाई 17 संरचनावाद, उत्तर संरचनावाद, शास्त्रवाद, नव्यशास्त्रवाद, नई समीक्षा

- 17.1 प्रस्तावना
- 17.2 उद्देश्य
- 17.3 आलोचनात्मक संदर्भ
 - 17.3.1 संरचनावाद
 - 17.3.2 उत्तरसंरचनावाद
 - 17.3.3 शास्त्रवाद
 - 17.3.4 नव्यशास्त्रवाद
 - 17.3.5 नई समीक्षा
- 17.4 काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
 - 17.4.1 संरचनावाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
 - 17.4.2 उत्तरसंरचनावाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
 - 17.4.3 शास्त्रवाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
 - 17.4.4 नव्यशास्त्रवाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
 - 17.4.5 नई समीक्षा: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
- 17.5 सारांश
- 17.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 17.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 17.8 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 17.9 निबन्धात्मक प्रश्न

17.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई से पूर्व आप ने 'भारतीय काव्यशास्त्र की सम्पूर्ण परम्परा का अध्ययन किया .आप ने जाना कि काव्य का लक्षण क्या है . काव्य लिखने का प्रयोजन और उसके हेतु कौन से है . रस का स्वरूप क्या है तथा रसनिष्पत्ति तथा साधारणीकरण की प्रक्रिया क्या है. भारतीय काव्यसिद्धान्त के अंतर्गत रस के अतिरिक्त आपने अन्य काव्य-सिद्धान्तों का अध्ययन कर लिया है। आपने यह भी अध्ययन कर लिया कि भारतीय साहित्य सिद्धान्त में काव्य की आत्मा के प्रश्न पर एकमत नहीं बन पाया है।

साथ ही आप ने पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्त का सामान्य एवं आलोचनात्मक परिचय प्राप्त कर लिया है। आप जान चुके हैं कि 'प्लेटो, अरस्तू की शास्त्रीय परम्परा आधुनिक काल में लौजाइनस, मैथ्यू आर्नल्ड, रिचर्ड्स , क्रोचे, इलियट से होती हुई विभिन्न काव्य - सिद्धान्तों तक पहुँची है। आधुनिक युग के दो प्रमुख काव्य - सिद्धान्तों मार्क्सवाद एवं अस्तित्ववाद का पर्याप्त प्रभाव साहित्य पर पड़ा है। इसी प्रकार आधुनिकतावाद एवं उत्तर - आधुनिकतावाद संबंधी विचारधारा से आधुनिक साहित्य का निकट का सम्बन्ध है।

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत इसी क्रम में यहाँ आप संरचनावाद, उत्तरसंरचनावाद, शास्त्रवाद, नव्य शास्त्रवाद एवं नई समीक्षा आन्दोलन का विस्तार से परिचय प्राप्त करेंगे।

17.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

'संरचनावादी' आन्दोलन की पृष्ठभूमि एवं उसकी प्रमुख विशेषता से अवगत हो सकेंगे।

'उत्तरसंरचनावाद' के सामाजिक - सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को समझ सकेंगे।

'शास्त्रवाद' की बुनियादी मान्यताओं का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

'नव्य शास्त्रवाद' की उपपत्तियों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

'नई समीक्षा' काव्यान्दोलन के मतों का परीक्षण प्राप्त कर सकेंगे।

प्रमुख काव्य - आन्दोलनों के बहाने प्रमुख विचारकों के मतों का परिचय प्राप्त का सकेंगे।

17.3 आलोचनात्मक संदर्भ।

17.3.1 संरचनावाद

फर्डोनांद सासूर (1857 - 1913) ने भाषा में संरचनावाद की नींव डाली यह रूसी - रूपवाद के लगभग समांतर हुआ। इसीलिए आधुनिक संरचनावादी और उत्तर - संरचनावादी सासूर को अपना जनक मानते हैं। सासूर मानते हैं कि भाषा एक व्यवस्था है। वह चिह्नों की निर्मिति है। चिह्न जो मनमाने और भेदपरक होते हैं। एक भाषाई चिह्न में दो तत्व होते हैं। एक स्वरूपित (लिखित) और दूसरा उसका विचार। पहला तत्व व्यंजक है और दूसरा व्यंग्य। मसलन 'पेड़' शब्द पढ़ या सुनकर हम एक व्यंजक प्राप्त करते हैं जो तुरंत ही हमारे मन में पेड़ का चिह्न बन जाता है। शब्द अर्थ की परस्परता का मनमाना अथवा नियमरहित होना ही वह तत्व है जो सासूर ने भाषा विज्ञान और संरचनावाद को दिया। सासूर के यहाँ यर्थाथ और उसके बोध यानी वस्तुगत यर्थाथ और दिमाग के बीच की खाई बहुत साफ थी। सासूर मानते थे कि दुनिया का ज्ञान बहुत जटिल रूपों में आता है, वह भाषा के भीतर से आता है। जटिल होने के कारण इसके वाहक चिह्न स्वतंत्र होते हैं। यह स्वतंत्रता ही शब्द और अर्थ को अलग देती है। शब्द यर्थाथ की खिड़की नहीं बनते। वे यर्थाथ के शीशे नहीं बनते, दर्पण नहीं होते बल्कि शब्द अपने साथ अन्य तमाम व्यंजकों को लिये आते हैं। सासूर मानते हैं कि भाषा के बिना ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश संभव नहीं है। हमारा यर्थाथ इस तरह, अनेक भाषाओं के द्वारा पैदा अपने भीतर के समय और वैषम्य से बनता है। विचार और अर्थ की यह परम्परा नए संरचनावाद का प्रथम बिन्दु है। नए संरचनावादियों में समाजशास्त्री नृतत्व - विज्ञानी क्लोड लेबी स्ट्रास और रोलॉ बार्थ प्रमुख हैं। स्ट्रास तथा बार्थ ने संरचनावाद को एक पूरे विज्ञान के रूप में विकसित करने की कोशिश की। सातवें दशक में स्ट्रास, बार्थ, फूको, अल्सूसर, लाकाँ आदि ने अपने - आपने मार्ग से आकर संरचनावाद को एक पूरे विज्ञान के रूप में विकसित करने की कोशिश की है। यह कोई एकीकृत भाषागत अथवा साहित्यगत आन्दोलन नहीं था लेकिन इसका असर बहुत व्यापक हुआ। संरचनावाद विचार की एक प्रवृत्ति के रूप में स्थापित हुआ।

संरचना क्या है? संरचना स्थापत्य कला में, विभिन्न अंगों की व्यवस्था का नाम है, जिसमें हर चीज एक - दूसरे से सम्बद्ध हो जाती है, जिसमें अलग - अलग तत्व एक दूसरे से जुड़ जाते हैं, जिसमें एक निश्चित रूप उभरता है, जो अनेक स्तरीय संरचना के लिए 'मॉडल' यानी आदर्श होता है, अंतिम संरचना होता है। यह अंतिम संरचना जो हर छोटी -से- छोटी संरचना में होती है, 'अर्थ' का केन्द्र होती है। वह हर चीज को मायने देती है। संपूर्णता का विचार, आत्म-नियमन का विचार और रूपान्तरण का विचार, ये तीन विचार संरचनावाद का सार है। हर स्थिति संपूर्ण है, सकल है। वह अपने नियमों से परिचलित है। वह लगातार रूपान्तरित होती है।

अब तक का ज्ञान, आवयविक संरचना के मुकाबले रूपात्मक (मनुष्याकत) संरचना का विचार नए संरचनावाद का सार है। संरचनाओं का रूपांतरण वाला तत्व इस नए संरचनावाद की एकमेव विशेषता है जो मानता है कि संरचनाएँ रूपांतरित होती हैं, इसीलिए उनका अध्ययन उपयोगी है ज्ञान के लिए रूपांतरण के तत्व में ही संरचनावाद को संस्कृति के क्षेत्र में प्रवेश करने का अवसर दिया। नए संरचनावादी प्रायः संस्कृति के रूपाकारों को संरचना के रूप में लेते हैं। वे उनकी प्राथमिकता तथा अन्य निर्णायक विशेषताओं की खोज करते हैं जिनमें उस रूप में गति आती है, आत्मानुशासन आता है, सपूर्णता आती है। यह सब उन्हें सतह पर ही मिलता है, रूप में ही मिलता है। सासूर ने बहुत पहले कहा था कि रूपों के भीतर गहरे में बहुत सी संरचनाएँ काम करती हैं। संरचनावादी वह प्रयत्न है जो गहनता में उतर कर छिपे तंत्र को, संरचना को देखता है। संरचनावादी होने के लिए जरूरी है कि किसी संरचना में दो चीजें अनिवार्यतया हों: (क) वह रूपात्मक हों, रूपांतरण करने वाली हो, वह सिर्फ अनुभववादी स्थिति न हो। (ख) वह यानी संरचना अपने, सामाजिक समग्र के साथ एक-एक स्तर पर उपलब्ध हो।

लेवीस्ट्रास ने समाज शास्त्रों में संरचनावादी अध्ययन के लिए तीन चीजें अनिवार्य बताईं (क) अध्ययन योग्य वस्तु सर्वाभौमिक सत्ता रखने वाली हो, वह हर समाज में उपस्थित हो, (ख) उनकी पद्धति एक रूप वाली हो, (ग) वे सुपरिभाषित हो। संरचनावाद का अवदान यह है कि इसने समूचे जीवन को भाषा की संरचनाओं में सुव्याख्येय और सुपरिभाषेय सिद्ध किया। साहित्यिक संरचनावाद को इस भाषिक संरचनावाद का एक पूरक हिस्सा भर है। साहित्यमें संरचनावादी सिद्धान्त में हम पाते हैं कि लेखक का लोप रूप की वापसी, विज्ञान सम्मत विश्लेषण क्षमता आदि बातें पहले भी हुईं लेकिन संरचनावाद ने इन्हें पूरे शास्त्र का रूप दे दिया। लेवीस्ट्रास पहले बड़े चिंतक हुए जिन्होंने सासूर के इस संरचनावाद को आगे बढ़ाया और संरचनात्मक विज्ञान की अवधारणा विकसित की। सासूर और स्ट्रास की अवधारणाओं के समांतर रोलॉ बार्थ ने साहित्य की संरचनावादी व्याख्या प्रस्तुत कीं। उन्होंने संस्कृति को 'भाषा' माना। इस भाषा के 'चिह्न' चुने, संरचनाएँ चुनी और बताया कि आधुनिक संस्कृति की संरचना भाषा की तरह है। बार्थ ने आलोचना को एक स्वतंत्र काम बना डाला। उन्होंने बताया कि चिह्न विज्ञान (भाषागतवस्तु या पाठ) से आगे निकल जाती है। वह ऐसी दूसरी भाषा हो जाती है जो पहली भाषा से आगे जाती है। यह पद्धति संरचनावाद का असली विमर्श है। रचना के चिह्नों की संहिता को आगे बढ़ाना और उन्हें आजाद कर देना। हर संरचना एक हद के बाद अपनी संहिता को स्वाभाविक बनाने लगती है, इसलिए उसे बार-बार देखना पड़ता है। इसीलिए बार्थ एक क्रान्तिकारी नतीजे पर पहुँचे कि संरचनावाद एक पद्धति, वह एक कर्म है, व्यवहार है, वह 'पाठ का उन्मुक्त व्यवहार' है। वह एक सतत पाठ है। बार्थ ने अस्तित्ववाद की नायकत्व के नैतिक सिद्धान्त को चुनौती दी। 'राइटिंग डिग्री जीरो' में बार्थ लिखते हैं साहित्य एक संचार है, भाषा है, पाठ है। बार्थ साहित्य में समान्य का अंत देखते हैं। बार्थ समस्या में साहित्य पाते हैं। रोला बार्थ 'पढ़ने' को आलोचना नहीं मानते। आलोचना कर्म पढ़ने के कर्म से भिन्न है। एक

अच्छा पाठ, अवधानपूर्वक पाठ, अधिक से अधिक एक पाठ का शब्दशः दुहराव - भर है। आलोचन का काम 'एक पाठ के लिए एक अर्थ का निर्माण' है। सिर्फ 'अर्थ खोलना नहीं'। इसका कारण है कि पाठ की संरचना 'एक अर्थ' नहीं रखती। संरचना के चिह्न और संहिता अनेकार्थ की स्थिति पैदा करती है। 'पाठ' हमेशा बहुलार्थी या अनेकार्थी होता है। संरचनावाद की यह व्यवस्था जो पाठ से अर्थ की उपस्थितियों को चिह्नों की स्वतंत्र लीला पर निर्भर मानती है, वहाँ किसी के निजी अर्थ की कोई गुंजाइश नहीं है। यही वर संरचनावादी सिद्धांत में विषयी (लेखक) का विकेंद्रण है। यह यही वर बिंदु है जहाँ बार्थ अचानक उत्तर-संरचनावादी सूत्रों के संकेत देते हैं जिनका पूर्ण विकास जॉकदेरिदा के विमर्श में देखने को मिलता है।

17.3.2 उत्तर-संरचनावाद

उत्तर-संरचनावाद सिर्फ एक पद्धति की तरह नहीं आया, वह एक दार्शनिक रूप की तरह भी आया। यूरोप के मौजूदा चिंतन पर इसकी गहरी छाप है और आज के भूमंडलीय यथार्थ में यह एक भूमंडलीय अवधारणा की तरह पढ़ा जा सकता है। उत्तर-संरचनावाद, उत्तर औद्योगिक युग की राजनीति भी कही जा सकती है और विखंडन भी। उत्तर-संरचनावाद विचार-पद्धति सातवें दशक के मध्य में आरम्भ हुई। विकराल राज्यसत्ताओं के सामने मानव अधिकारों की माँग, आधुनिक जकड़बंदी से छटपटाकर पीछे लौटकर धार्मिक एवं तत्ववादी चिंतन में शाखा ढूँढ़ना मूलतः उत्तर - आधुनिक स्थितियों को स्वीकार करना था।

उत्तर-संरचनावाद संरचनावाद के सीमान्तों की प्रतिक्रिया में शुरू हुआ। लेवीस्ट्रॉस द्वारा विकसित संरचनावाद में निरकुंशता के तत्त्व सबसे पहले (1950) लाकाँ ने खोजे। लाकाँ ने बताया कि स्ट्रोस की पद्धति मनुष्य समाज को अतंतः एक मशीन की तरह सुपरिभाषेय और कथनीय बनाती है। यह खतरनाक है। वह मनुष्य को केंद्र में नहीं रखती। 1981 के असपस मिशेल फूको ने 'मैडनेस एंड सिविलाइजेशन' में अच्छी तरह सिद्ध किया कि किस तरह हमारे आधुनिक विज्ञान एवं समाज विज्ञान दमनकारी है। लाकाँ ने मनोविज्ञान में, फूको ने सांस्कृतिक रूपों के क्षेत्र में और सुई अल्थुरूर ने सिद्धान्त के क्षेत्र में यात्राएँ सातवें दशक में शुरू कीं। लेकिन उत्तर-संरचनावादी दिशा में सबके निर्णायक दस्तावेज सातवें दशक के मध्य में जॉक देरिदा के 'स्पीच एंड फिनोमिना', 'राइटिंग एंड डिफरेंस' तथा 'आफ ग्रामाटोलॉजी' जैसे अध्ययन के रूप में आया। बार्थ 'पाठ' के अर्थनिर्माण के लिए 'पाठ' को 'सघन' नहीं करते बल्कि फैलाते -बिखेरते हैं। पढ़ने के दौरान पाठक द्वारा चुने गए किसी पद 'वाक्य' मुहावरे से पाठ की संरचना संभव है। इसी से अर्थ की बहुलता मिलती है। बार्थ बताते हैं कि साहित्य के निर्माण में पाँच संहिताएँ काम करती हैं। पहली संहिता व्याथावादी होती है और 'पाठ' में संभव होती है। दूसरी, चिह्न संहिता (सेमी कोड) जो मूल विचार को तय करती है। तीसरी है प्रतीकात्मक संहिता जिससे अर्थ बहुमुखी होता है। चौथी संहिता कार्य-व्यवहार की होती है। पाँचवीं संहिता सांस्कृतिक वातावरण की होती है। इन संहिताओं के भीतर ही 'पाठ' अपने 'अर्थ'

का निर्माण करता है। रोला बार्थ कहते हैं कि ये पाँच संहिताएँ एक ऐसा संजाल बनाती हैं, जिसमें से होकर सारा पाठ गुजरता है। संक्षेप में बार्थ के संरचनावादी सिद्धान्तों ने पाठ को एक निर्विकल्प स्थिति प्रदान की। विचारधारा और पॉजिटिविज्म ने एक एक दौर में अपने को 'स्वभाविक' बना लिया था, संरचनावाद ने उसे असवाभाविक और अवांछित करार दिया। 'रचना' पाठ बनी जिसे 'निर्मित' किया जा सकता है। और जिसे पुनर्निर्मित किया जा सकता था और जरूरी होने पर जिसे तोड़ा (विखंडित किया) जा सकता है। विखंडन से पाठ के 'निर्माण की प्रविधि' को समझा जा सकता है, 'पाठ का निर्माण' ही असली पाठ है, लेखकीय अनुभवों तक पहुँचना नहीं।

विखंडन क्या है? इस पर देरिदा कहते हैं विखंडन विचार को निरस्त करता चलता है। विचारधारा जो पश्चिमी दर्शन का सत्तावादी भ्रम है। विचारधारा यानी तर्क जो पश्चिमी समाज का संचालक रहा है। विखंडन इस तर्क को व्यर्थ करता है। विखंडनवादी दृष्टि में सब बराबर है। आलोचना, दर्शन, भाषाविज्ञान, नृविज्ञान आदि तमाम मानव विज्ञान देरिदा के लिए विखंडन वस्तु है। सभी कुछ देरिदा का लक्ष्य है। पॉल द मान ने 'ब्लाइंडनेस ऐंड इनसाइट' में नव्यालोचनाओं का विखंडन किया है और पाया कि रचना में आधारभूत रूपकों को दूढ़ने के लिए नव्यालोचना को पढ़ना अंततः एक ऐसी 'अंधता' है जो नव्यालोचना की अंतर्दृष्टि में ही निहित है। देरिदा ने कहा कि यह पश्चिमी विमर्श का अपराध है कि वह भाषा के खेल को नष्ट करता है, उसे एक अर्थ प्रदान करना चाहता है जैसा कि 'वाक्' (वाणी) में होता है। वाक् में (वाचित) एक अर्थ उपस्थित होता है वक्ता का आशय। 'विमर्श' की प्रक्रिया को इसके लिए उलटना जरूरी है। विखंडन में पाठ - प्रक्रिया अलग होती है। पढ़ने का ढग बदलना होता है। साहित्यक पाठ (टैक्सट) को अलग से पढ़ा जाना होता है पाठ इसलिए नहीं पढ़े जाने चाहिए कि अंतर्दृष्टि खोजनी है, बल्कि उन अंधताओं को पाना है जो अंतर्दृष्टि की सीमा होती है। पाठ की 'स्वायत्त्रता' को इस क्रम में तोड़ दिया जाता है। यह विखंडनात्मक पाठ ही देरिदाई विखंडन का स्रोत है। देरिदा के अनुसार 'पाठक' एक कार्रवाई है, 'भेद' की भाषा है। 'भेद' स्थापना है। यही अलग चीज है। देरिदा बताते हैं कि बोला गया शब्द (वाक्) बोलने वाले की दरकार रखता है ताकि प्रामाणिकता पा सके। सासूर लिखित को जीवनरहित भाषा मानता है। बोला गया शब्द सीधा अर्थ देता है। लेकिन लिखित शब्द की सत्ता (शुद्ध उपस्थिति) को खो देता है। देरिदा कहते हैं कि लेखन भाषा की पूर्वशर्त है। वह 'वाक्' से पहले रहती है। इसलिए लेखन को दोयम नहीं कहा जा सकता। लेखन, देरिदा के लिए एक स्वतंत्र खेल या लीला है। लीला का यह तत्व, अनिश्चय का यह तत्व संचार के हर रूप में मौजूद रहता है। लेखन इसीलिए अर्थ का 'अनंत दबपदला' ('डिस्प्लेसमेंट') है जो भाषा का अनुशासन करता है और इकहरा नहीं रहने देता और उसे स्वतः प्रामाणिक बनाता है। सारी समस्या शब्दार्थ की है। 'शब्द' के बाद 'अर्थ' कि अर्थ के बाद है 'शब्द' ? 'लिखित' को दोयम रखने के प्रयत्नों को देरिदा पश्चिमी दर्शन के इतिहास में खोजकर सिद्ध करते हैं। देरिदाइस तरह भाषा और विचार के सम्बन्ध को 'उलट' देते हैं। यही विखंडन है। यह निर्णायक है। यही विखंडन की हिंसा है। यही देरिदा संरचनावाद को 'विखंडन'

की पूर्व - शर्त कहते हैं। सासूर ने संरचना को उस बिन्दु तक पहुंचाया जहाँ वह अपनी संरचना में कैद हो गया। 'विखंडन' एक ऐसी रणनीति बनाता है, जो दिए गए 'पाठ' के तत्वों का क्रम उलटा कर देता है और उन विरोधों (तनाव) को तोड़ देता है जिस पर 'पाठ' टिका होता है विखंडन इस प्रकार एक कार्रवाई (स्ट्रैटेजिक) है। पढ़ने की कार्रवाई पढ़ना जो पाठ से बंधा है और जो 'बंद' नहीं है। देरिदा के लिए लेखन एक ही साथ तमाम सांस्कृतिक कर्म का स्रोत है और अपने भीतर निहित ज्ञान को 'दबाने' वाला भी है। विखंडन इस 'लेखन' की कैद में दब रहे 'अर्थ' को मुक्ति देता है। इसीलिए देरिदा कहते हैं 'पाठ' के बाहर कुछ नहीं है।

देरिदा की मौलिकता यह है कि उनका विखंडन सत्यता का दावा करनेवाले 'तर्क' को उसी के विरोध में खड़ा करके देखता है और उस में छिपे हुए अर्थ को खोजता है। यह देरिदा की 'पाठात्मक रणनीति' (पढ़ने का ढंग) है।

देरिदा संरचनावाद को एकदम व्यर्थ नहीं कहते। वे सिर्फ यह बताते हैं कि अंत में संरचनावाद भाषा की कैद में बंद हो जाता है। देरिदा मानते हैं कि संरचनावाद ने इस प्रश्न को लगभग अंतिम ऊँचाई से उठाया कि क्या भाषा चीजों को तय करती है? देरिदा कहते हैं कि भाषा चीजों को स्थिर करते हुए स्वयं जब स्थिर होने के लिए अभिशप्त हैं तो वह अपनी कैद बना लेती है। संरचनावाद की यही बड़ी सीमा है कि वह अपनी कैद अपने-आप है।

डॉ. सुधीश पचौरी के अनुसार उत्तर - आधुनिक विखंडन के कुछ सूत्र इस प्रकार हैं।

1. क्रम का उलटना, विखंडन का प्रथम कदम है। क्रम उलटने से जो शून्य बनते हैं उनमें हस्तक्षेप किया जा सकता है। कार्य-कारण श्रृंखला उलटने से विखंडन शुरू होता है।
2. विखंडन करते हुए हमें देखना होगा कि पाठ जो बात कहना चाहता है उसे 'दबाता' कैसे है? इसके लिए विखंडन उन्हीं सिद्धान्तों का सहारा लेता है जिन्हें वह विखंडित करता है।
3. कारण - कार्य के उलटने से कार्य - कारण बन जाता है। कार्य से कारण की ओर आया जाता है।
4. लेखन वाक् का पूरक है। वाक् स्वयं एक पूरक हुए पाठ लेखन का पूरक है। पूरकों की एक श्रृंखला है साहित्य और कुछ नहीं।
5. विखंडन पाठ का केंद्र नहीं ढूँढ़ता ताकि उसकी सारी समस्याएँ एक बार में ही समाप्त हो जाएँ।
6. पार्थक्य वह गति है जिससे भाषा बनती है।

7. इतिहास कोई विशेष अधिकार वाला क्षेत्र नहीं, वह भी एक पाठ है।
8. उलटना एक खेल है। अर्थ इसी में छिपा है।
9. 'विखंडन' कोई सिद्धान्त नहीं है जो किसी शास्त्र का रास्ता दिखाए।
10. प्रतिरोपण या कलम लगाना ही असली हस्तक्षेप है। 'पठन' स्वयं एक प्रतिरोपण है।
11. प्रतिरोपण की यह पद्धति विचार की परम्परागत प्रक्रिया को भंग कर देती है और नई प्रक्रिया शुरू करती है। वह नियों, चित्रों, शब्दरूप, और अर्थ के नए संबंध बनाती है।
12. लेखन इस तरह एक पूरक कर्म है। पूरक यानी एक प्रयत्न। बाहर से किया गया। पूरक ही 'पार्थक्य' पैदा करता है।
13. विखंडन में परस्पर विलोम तत्व इस प्रकार चलते हैं - उपस्थिति - अनुपस्थिति। वाक् लेख। दर्शन - साहित्य। शाब्दिक अलंकारगत। केंद्रीय - उपकेंद्रीय या हाशिए वाले। उपस्थिति अर्थ के मुकाबले अनुपस्थिति अर्थ, वाणी का विलोम लेखन, दर्शन का विलोम साहित्य, शब्दों की जगह अलंकार, केंद्र के विलोम उपकेंद्र (अथवा इसका उलटा क्रम) हर वक्त रहता है।
14. शास्त्रहीनता विखंडन की मूल विशेषता है। हर विज्ञान को 'पाठ' की तरह 'पढ़ना' और उसकी एक निजी पद्धति विकसित करना एक शास्त्रहीन स्थिति पैदा कर देता है।
15. दर्शन केंद्रवादी है। साहित्य उभयकेंद्रवादी। दर्शन एक सत्य, एक, तर्क, एक व्यवस्था देखता है, साहित्य हर बार नया अर्थ।
16. विखंडन अनुपस्थिति अथवा, परिव्यक्त या निकाल दिए गए में दिलचस्पी रखता है।
17. विखंडन स्त्रियों, दलितों, कवियों, देवताओं, तथा पागलो के पास भी 'सत्य' का होना मानता है। वह मानता है कि औरतें कवि, देवता, पागल, हाशिए के लोग, सब जिन व्यवस्थाओं में रहते हैं, वे उनमें अपनी हाशियाकृत स्थिति से 'सत्य' प्राप्त कर सकते हैं। वे ऐसे सत्य खोज सकते हैं जो 'सर्वानुमति' को गलत सिद्ध करते हैं और जो अभी तक के रूप (समीक्षा) में दिखाई नहीं दे सकते।
18. पाठ का अंदरूनी तर्क वैसा ही है जैसा पौधे की 'कलम लगाना' (प्रतिरोपण) पौधे में बाहर से नई कलम लगाना, जोड़ना, घटाना, साफ करना रोपना यही विखंडन की रणनीति की कार्रवाई है।

19. सत्य संरचना में भी हो सकता है और वहाँ भी जहाँ वह संरचना नहीं है। सत्य जितना उपस्थित होता है, उतना ही अनुपस्थित भी हो सकता है।
20. विंखडन सत्य का नया सिद्धान्त नहीं है बल्कि 'पाठ' का सिद्धान्त है, लेखन का सिद्धान्त है। वह उन शून्यों में जाता है जहाँ सत्य हो सकता है।
17. विंखडन कोई तयशुदा विमर्श नहीं है।
22. हरेक पाठ एक अधूरा (या गलत) पाठ (मिसरीडिंग) होता है इसीलिए हर बार पाठ नया और नया होता है।
23. विंखडन दुहराव (पाठ) बिखराव (उलटक्रम) द्वारा पैदा किया जाता है। यह एक सूत्रीय नियम नहीं देता।
24. विंखडन की मौलिकता यह है कि वह अंतिम सत्य कहने का दावा नहीं करता।

17.3.3 शास्त्रवाद

हिंदी में 'अभिव्यंजनावाद' या 'शास्त्रवाद' शब्द अंग्रेजी के शब्द 'क्लासिज्म' के पर्याय रूप में प्रयोग किया जाता है। प्रारम्भ में क्लासिज्म या क्लासिक (आभिजात्यवाद) श्रेष्ठता के वाचक हो गए थे। 'क्लासिक' शब्द का व्यवहार ऐसी वस्तु रचना के लिए होने लगा जो किसी भी सभ्यता के श्रेष्ठ अंश का प्रतिनिधित्व करते हों। 'क्लासिक' शब्द की व्याख्या करते हुए डॉ. देवराज ने लिखा है कि वह रचना जो हर युग में अपनी अर्थवत्ता के साथ अपनी प्रासंगिकता बनाये रखे वह 'क्लासिक' है। इसी के समानान्तर 'आभिजात्यवाद' शब्द का व्यवहार होता है। 'शास्त्रवाद' शब्द भी इन्हीं के समानार्थी है। शास्त्रवाद प्रवृत्ति की शुरुआत अरस्तू से होती हुई होरेस तक स्थिर होती है। कविता में बुद्धि विवेक एवं संयम का आग्रह शास्त्रवाद की पहचान बनें। अरस्तू के विवेचन ने शास्त्रीय नियमावली, रूप की स्थिरता और अनुशासन को अनिवार्य बनाने वाली 'शास्त्रवादी पद्धति' को प्रचलित किया। प्रारम्भ में 'शास्त्रवाद' से किसी वर्ग, सामाजिक श्रेणी एवं ऐतिहासिकता का बोध होता था किन्तु कालान्तर में 'शास्त्रवाद' का अर्थ ऐसी रचनाओं से लगाया जाने लगा जो आदर्श का अनुकरण कराने में सक्षम हों अर्थात् युग - प्रवर्तन की क्षमता रखती हों। हाँलाकि यह कोई सार्वभौमिक नियम नहीं है। 'शास्त्रवाद' में ऐतिहासिकता और नियमद्धता अनिवार्य रूप से जुड़े हुए हैं। संक्षेप में हम कुछ बिन्दुओं के माध्यम से 'शास्त्रवाद' को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

1. 'शास्त्रवाद' में मौलिक सृजन के बजाय साहित्यके प्राचीन कला रूपों के प्रति आकर्षण या उनके अनुकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस धारा के रचनाकार ऐतिहासिक एवं प्राचीन रचनाओं के अनुवाद एवं व्याख्या करने पर ज्यादा जोर देते हैं।

2. 'शास्त्रवाद रचना को उद्देश्यपूर्ण ढंग से रचित कृति मानता है। इस धारा में जीवन की व्यापक दृष्टि, परिष्कृत रूचि, परिष्कृत शैली, विवके - भावना, रूप - आकार के प्रति सन्तुलन एवं सादगी, सरलता के साथ महान् विचारों को ग्रहण करने की क्षमता पर बल दिया जाता है।
3. 'शास्त्रवाद' कला एवं साहित्य के वस्तुनिष्क रूप पर जोर देता है। स्वच्छन्दतावादी कला में आत्मनिष्ठता पर ज्यादा जोर होता है, वहीं 'शास्त्रवाद कला के ठोस सामाजिक आधार को ज्यादा मान्यता प्रदान करता है। 'शास्त्रवाद कला का सौन्दर्य उन सामाजिक तत्वों से स्थिर करता है जो सभी रचना को समान रूप से निर्मित करने में मदद करते हैं।
4. 'शास्त्रवाद में स्वच्छन्दतावादी भावाधिक्य की बजाय भावों के संयम एवं गरिमा पर बल है।
5. 'शास्त्रवाद' कला के निर्व्यक्तिक रूप का विरोधी होता है। वह रचना को सामाजिक आधार पर अर्थात् किसी देश की सभ्यता - संस्कृति के आधार पर विकसित करने पर ज्यादा बल देता है।
6. 'शास्त्रवाद' में व्यक्ति की अपेक्षा वस्तु को (समाज को) ज्यादा महत्व मिलता है।

'शास्त्रवाद' की कुछ अपनी शर्तें होती हैं। एक सीमा के बाद यह रूढ़ हो जाता है। शायद इसीलिए इसकी प्रतिक्रिया 'नव्य 'शास्त्रवाद' के रूप में हुई।

17.3.4 नव्य शास्त्रवाद

'शास्त्रवादी चिंतन वस्तुतः प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य चिंतन की देन था। हालांकि उसका विस्तार आधुनिक काल तक हमें देखने को मिलता है। 'शास्त्रवाद के नये रूप को 'नव्य शास्त्रवाद' कहा गया। 'नव्य 'शास्त्रवाद' कुछ अंशों में पन्द्रहवीं शती के पुनर्जागरण से भी प्रभाव ग्रहण करता है लेकिन सही अर्थों में नव्यशास्त्रवाद का विकास सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में हुआ। नवयशास्त्रवाद ने शास्त्रीयता, संयम, विवके, स्पष्टता और व्यवस्था को केंद्रीय महत्व दिया। इंग्लैण्ड में सत्रहवीं शताब्दी से ही नव्य - आभिजात्यवाद का प्रभाव दिखने लगा था बेन जॉनसन, जान ड्राइडन, इलेकजेंडर पोप तथा सैमुअल जॉनसन प्रमुख नव्य शास्त्रवादी रचनाकार के रूप में उभरे। इस वर्ग की प्रतिनिधि रचना पोप की 'एस्से ऑन क्रिटिसिज्म' हैं। शास्त्रवाद से नव्य शास्त्रवाद की भिन्नता यह रही कि इसने विवके, संयम, तथा अनुशासनप्रियता को तो स्वीकार किया लेकिन उच्चवर्गीय मानसिकता से किनारा भी किया। उच्चवर्गीय मानसिकता के बजाय नव्य शास्त्रवादियों ने लेखक के सामाजिक दायित्व पर बल दिया। इसके लिए आवश्यक था कि लेखक अपनी रचना में उच्च नैतिक और सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमानों को समावेश करे। नव्य शास्त्रवादी अंग्रेजी साहित्य में तर्क, बुद्धिपक्ष की प्रधानता, संयम सन्तुलन एवं आदर्शवाद की प्रचुरता मिलती है। किन्तु नव्य शास्त्रवाद को दार्शनिक आधार 18 वीं शताब्दी में जर्मनी में मिला। गेटे, शिलर, ह्यूम पर नव्य शास्त्रवाद का व्यापक

प्रभाव पड़ा है। ह्यूम ने रचना के मानदण्ड निर्वैक्तिक, वस्तुपरक और सामाजिक होने में स्थिर किया है। डॉ. निर्मला जैन ने नव्य शास्त्रवादी इतिहास पर विचार करते हुए लिखा है - उन्नीसवीं सदी के मध्य से फ्रांस में और 19 वीं सदी के अंत तक तथा 20 वीं सदी के आरम्भ में इंग्लैण्ड तथा अमरीका में फिर से नव्य - आभिजात्यवादी प्रवृत्ति उभरने लगी। फ्रांस में सेट व्यवने क्लासिक रचनाओं का उल्लेख करते हुए नैतिकता, आदर्श, मानवीयता तथा मध्यम मार्ग को उनकी प्रमुख विशेषता माना। इसके साथ ही उन्होंने उनमें अभिकल्प की अन्विति (युनिटी ऑफ डिजाइन), समुचित निष्पादन (एक्जेक्यूशन) तथा व्यवस्था को आवश्यक ठहराते हुए सम्प्रेषणीयता और सार्वकालिकता की वकालत की। 'मैथ्यू आर्नल्ड के बाद बीसवीं शताब्दी में इर्विंग बेविट, टी.एसत्र इलियट और ह्यूम ने नव्य आभिजात्यवाद को नये सिरे से पारिभाषित किया।

17.3.5 नई समीक्षा

नई समीक्षा आन्दोलन बीसवीं शताब्दी का प्रमुख अमरीकी काव्यान्दोलन है। 'साहित्यिक आलोचना में क्रान्ति युग कहे जाने वाले समय सन् 1930 से 1960 के बीच शुद्ध अकादमिक आन्दोलन के रूप में 'नयी समीक्षा' आन्दोलन विशेष चर्चित रहा। 'नयी समीक्षा' के बीज सर्वप्रथम स्पिनगार्न के सन् 1910 ईसवीं में लिखे लेख से माना जाता है। इस लेख में स्पिनबार्न ने कृति से इतर अन्य सामाजिक अनुशासनों को अस्वीकृत किये जाने की बात की थी। इसके बाद इलियट के 'द सेक्रेडवुड', मिडलटन मरे की 'द प्रास्लम ऑफ स्टाइल' और आई.ए. रिचर्ड्स के 'प्रिसिपिल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' इत्यादि कृतियों में नयी समीक्षा की मान्यतायें अस्फुट रूप में मिलती हैं। किन्तु इसे एक आन्दोलन के रूप में प्रतिष्ठा जॉन क्रो रैसम की सन् 1941 में प्रकाशित 'न्यू क्रिटिसिज्म नामक कृति से मिला। जॉन क्रो से मिला। जॉन क्रो रैसम के अतिरिक्त इस कला आन्दोलन में एलेन टेट, आर पी ब्लेकमर, रॉबर्ट पेन वारेन, क्रिमंथ बुरक्स तथा विलियम एम्पसन इत्यादि प्रमुख रूप से सक्रिय रहे। ये सभी आलोचक अलग - अलग मत रखते हैं, इसमें वैचारिक अंतर्विरोध भी हैं किन्तु कृति/रचना की केंद्रीयता के प्रश्न पर सभी एकमत हैं। कृतिकार, रचना संदर्भ, युगीन घटना एवं परिवेश, सहृदय की प्रतिक्रिया को स्वीकार कर 'नयी समीक्षा' आन्दोलन के समर्थक 'कृति' को ही आलोचना का केन्द्र स्थापित करते हैं। नयी समीक्षा का उदय केवल स्वच्छंदतावाद के विरोध के लिए ही नहीं हुआ। 19 - 20 वीं शती के आरम्भ में ज्ञान - विज्ञान की विविध शाखाओं / अनुशासनों के व्यापक प्रसार ने भी नई समीक्षा को नई अंतर्दृष्टि प्रदान की। नई समीक्षा 20 वीं शताब्दी के प्रमुख साहित्यिक आन्दोलनों में महत्पूर्ण स्थान रखना है। आइए, अब हम नई समीक्षा के प्रमुख तर्कों को देखें।

1. नई समीक्षा में कृति को केंद्र में स्थापित किया गया। कृति की समझ के लिए साहित्य की पृष्ठभूमि (रचनाकार का परिचय, व्यक्तित्व) एवं ऐतिहासिक - सामाजिक वातावरण की अनिवार्यता को अप्रासंगिक करार दिया गया। इसलिए नई समीक्षा में कृति को स्वायत्तता प्रदान की गई। लेकिन नई

समीक्षा की स्वतंत्रता कलावादी स्वायत्तता से भिन्न है। यहाँ कृति स्वायत्त तो है लेकिन वह मानवीय या नैतिक मूल्य की प्रतिष्ठा और आस्वाद के साथ जुड़ी रहती है। नई समीक्षा में कृति के सत्य को ग्रहण करने की अद्वितीय विधि के रूप में प्रस्तुत किया गया। कृति की वस्तुनिष्ठ समझ के लिए नई समीक्षा के सिद्धान्तों ने इस पर बल दिया कि पाठक/आलोचक को, केवल रचना के भीतर प्रयुक्त वर्ण, शब्द, बलाघात, पंक्तियों, बिंबों, प्रतीकों आदि के बीच उपस्थित संबंधों की व्याख्या करनी चाहिए। कुल मिलाकर नई समीक्षा की पहली स्थापना यह है कि रचना को रचना रूप में ही ग्रहण किया जायें, किसी दर्शन, इतिहास या विचारधारा के माध्यम रूप में नहीं।

2. नई समीक्षा ने रचना के घनिष्ठ पाठ की परम्परा को स्थापित किया। घनिष्ठ पाठ का उद्देश्य साहित्येत्तर तत्वों से रचना को मुक्त करके कृति की आंतरिक संहिता का विश्लेषण करना था। इस संदर्भ में एजरा पाउंड की ए.बी.सी.ऑफ रीडिंग, एफ.आर.लीविस की, 'हाउ टु रीड ए पेज' और इंटरप्रेशन इन टीचिंग आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

3. नई समीक्षा में कृति को भाषिक संरचना के रूप में देखने का आग्रह किया गया। रचना को यहाँ सम्प्रेषण की विधि कहा गया। चूँकि पत्रकारिता एवं अन्य साधनों ने भाषा को व्यापक रूप से भ्रष्ट किया है, अतः इस धारा के आलोचकों ने साहित्यिक सम्प्रेषण को तीव्र बनाने पर बल दिया।

4 नई समीक्षा के प्रारंभिक समय में मूल्यांकनपरक समीक्षा से दूरी बनाई गई। नई समीक्षा के आलोचक मूल्य की अपेक्षा प्रविधि पर अधिक बल देते थे। इनके विषयीगत अभिरूचि के निर्माण में मनोविज्ञान का हाथ था तो वस्तुनिष्ठ आलोचनात्मक प्रमिमानों के निर्माण में आधुनिक विज्ञान की भूमिका स्वीकार की गई है।

बोध प्रश्न 1

(क) निर्देश: निम्नलिखित शब्दों पर 10 पंक्तियों में टिप्पणी लिखिए।

1. नई समीक्षा और कृति

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. विखंडन के प्रमुख तर्क

3. शास्त्रवाद

4. नव्य शास्त्रवाद

17.4 काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ

पूर्व में आपने अध्ययन किया कि संरचनावाद उत्तर - संरचनावाद जैसे आन्दोलन किस प्रकार भाषा के माध्यम से सामाजिक संरचना को समझने में हमारी मदद करते हैं, शास्त्रवाद एवं नव्य शास्त्रवाद अपने ऐतिहासिक क्लासिकीय संयम एवं औदारम्य में समाज को देखने का आग्रह करते हैं। वहीं इसके विपरीत 'नई समीक्षा' को कोई भी काव्येतर प्रतिमान स्वीकार नहीं है। आलोच्य आन्दोलनों की प्रवृत्तियों से आप परिचित हो चुके हैं। आइए अब हम उनके काव्यगत अवदान एवं सीमाओं से परिचित हों।

17.4.1 संरचनावाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ

पूर्व में हमने अध्ययन किया कि संरचनावाद के मूल में सासूर का भाषा संबंधी अध्ययन है। प्रसिद्ध नृतत्ववेत्ता लेवी स्ट्रोस ने अपनी संरचना के लिए सासूर से प्रेरणा ग्रहण की है। आदिम मनुष्यों, कबीलों और मिथकों की संरचना की तलाश स्ट्रोस, याकोज्सन के मॉडेल पर करता है। विश्व के तमाम मिथकों का अध्ययन करते हुए स्ट्रोस उनके सर्वमान्य नियमों को स्पष्ट करता है। एक ही मिथके के भिन्न-भिन्न रूप वाक् है तो मूल मिथक भाषा हैं वाक् के आधार पर भाषा के अपने नियमों को खोजना ही संरचना है। संरचनावाद के अध्ययनकी उपयोगिता इस रूप में देखी गई कि संरचनावाद मुख्य रूप से सांस्कृतिक क्षेत्रों पर लागू होता है। संरचनावाद के अनुसार भाषा सबसे बुनियादी और सर्वाधिक विश्वव्यापी सांस्कृतिक उत्पाद होती है। संरचनावाद ने सांस्कृतिक स्तर पर, नृ - विज्ञान के स्तर पर मानवीय सभ्यता को समझने में हमारी मदद की। लेकिन इस आन्दोलन की सीमाओं की ओर भी कई लोगों का ध्यान गया। कई लोगों को इसके 'संरचनावाद' शीर्षक पर आपत्ति है। इसके अतिरिक्त आपत्ति की कुछ अन्य बिन्दु हैं प्रथम, इसमें ऐतिहासिक, प्रत्यक्षवादी, अस्तित्ववादी जैसी अवधारणाओं के लिए जगह नहीं है। द्वितीय, इसे एक फैशन के रूप में स्वीकार किया गया। जो चीज पूरी तरह समझ में न आए उसे संरचनावाद कह दिया गया। तीसरी आपत्ति यह की गई कि, संरचना की अवधारणा गणितीय ज्यादा है। साहित्य और दर्शन जैसे क्षेत्रों में इसकी बहुत उपयोगिता नहीं है, संरचनावाद पर डॉ. निर्मला जैन की टिप्पणी है - कुल मिलाकर साहित्यिक आलोचना में इस सिद्धान्त का न निश्चित रूप बन सका न व्यवहार। इसका मुख्य कारण भाषाशास्त्री तकनीकी के साथ मनोविश्लेषण और नृतत्व विज्ञान जैसे विषयों पर इसकी निर्भरता थी।”

17.4.2 उत्तर- संरचनावाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ

उत्तर - संरचनावाद संरचनावाद का अगला चरण है। सातवें दशक में जॉक देरिदा ने उत्तर - संरचनावाद का प्रवर्तन किया। देरिदा के सिद्धांतों का पाल डी मन ने विकसित किया। उत्तर - संरचनावाद, संरचनावाद के भाषा संबंधी चिंतन से प्रभावित भी है, लेकिन एक सीमा के बाद वह उसे अस्वीकार कर देता है। डॉ बच्चन सिंह ने लिखा है ! ” उत्तर - आधुनिकतावाद भविता (विकमिंग) का दर्शन है, न कि संरचनावादियों की तरह अस्ति (वीइंग) का। पहला गत्मात्मक है दूसरा स्थिर। संरचनावाद और उत्तर - संरचनावाद का एक अन्तर यह भी है कि पहले में वैयक्तिकता के लिए कुछ अवकाश है पर दूसरे में नहीं है। ” उत्तर - संरचनावाद ने संरचनावाद की इस कमी की ओर भी ईशारा किया जिसमें उसके केंद्र में मनुष्य नहीं है। उसने संरचनावाद के भाषा में कैद हों जाने की सीमा से भी अपने को मुक्त किया। उत्तर - संरचनावाद ने आधुनिकता के खतरे की ओर गंभीरता पूर्वक हमारा ध्यान आकृष्ट किया। उत्तर - संरचनावाद में 'विखंडन' पर बल दिया गया है। 'विखंडन' विचार को निरस्त करता है क्योंकि वह पश्चिमी दर्शन का सत्तावादी विर्मश रहा है। उत्तर - संरचना ने केंद्र को तोड़ा। उसने बंधे - बंधाएँ किसी भी सिद्धान्त को तोड़ कर नए पाठ' की आवश्यकता पर बल दिया। वह यह मानकर चलता है कि पाठ में अर्थ के अनन्त बिन्दु हैं और वे दबाये गए हैं अतः विखंडन का काम 'अनुपस्थिति की खोज' है। देरिदा कहता है कि निशान या पदचिह्न कुछ हैं जिससे अनुपस्थिति तक पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार उत्तर - संरचनावाद ने भाषा - संस्कृति के उन बिन्दुओं पर दृष्टि डाली जो संरचनावाद या आधुनिकता में छोड़ दिये गये थे। उत्तर - संरचनावाद ने 'पाठ' को खुला कर दिया, विचारधारा के नाम पर निश्चित अर्थ की अनिवार्यता को तोड़ दिया तथा हाशिए के लोगों को केंद्र में खड़ा किया। बावजूद इस आन्दोलन के भी अपने अंतर्विरोध है। विचारधारा ओर सैद्धान्तिकी के अभाव में यह अराजक और मनमाना हो जाता है हिंदी आलोचना पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव के कारण 'पाठ' की मनमानी व्याख्याएं हुई हैं, जो चिन्तनीय है।

17.4.3 शास्त्रवाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ

शास्त्रवाद के परिचय के क्रम में आपने अध्ययन किया कि यह आभिजात्यवादी एवं क्लासिकल परम्परा को अपने भीतर समेटे हुए है। 'शास्त्रवाद' का तात्पर्य ही है कि यह आंदोलन शास्त्रीय मान्यताओं (अतीत, परम्परा, ऐतिहासिक) को अपने केंद्र में रखकर चलता है। शास्त्रवाद जीवन के वैशिष्ट्य और स्थायित्व को प्रस्थान बिन्दु मानकर चलता है। शास्त्रवादी मान्यता मूलतः आस्था - विश्वास को पुनः पुनः सृजित करने पर बल देती है। इस आन्दोलन की बड़ी देन रह रही है। कि इसने काव्य एवं कलाके सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमान निर्मित किए हैं। शास्त्रवाद ने वस्तुनिष्ठता, गरिमा एवं स्वच्छता पर जरूरत से ज्यादा ही महत्व एवं जिसके कारण कहीं कहीं यह पुराने युग का काव्य -

प्रतिमान दिखने लगता है। स्वच्छन्दतावाद के उदयकी पृष्ठभूमि में तत्कालीन परिस्थिति के साथ - ही - साथ शास्त्रवादी मान्यताओं से असंतोष भी रहा है।

17.4.4 नव्य - शास्त्रवाद: अवदान एवं सीमाएँ

नव्य - शास्त्रवाद की पृष्ठभूमि का विवेचन करते हुए डॉ. निर्मला जैन ने लिखा है 'कल्पना तथा स्वतंत्रता क्रमशः जो अराजक रूप ग्रहण करने लगी थी उसकी प्रतिक्रिया शास्त्रवाद या आभिजात्यवाद के पुनरूत्थान के रूप में हुई। शास्त्रवाद के इस नये उन्मेष को 'नियो - क्लासिसिज्म' अर्थात् नव्य - आभिजात्यवाद' कहा गया। इस प्रवृत्ति का बीजारोपण लगभग पुनर्जागरण के समानांतर हो चुका था। पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में कुछ विद्वान अपनी ग्रन्थ संपदा के साथ इटली में आकर बस गए। वहीं इन ग्रन्थों के अध्ययन, अनुवाद और पुनर्व्याख्या का सिलसिला आरंभ हुआ। इससे जो बौद्धिक वातावरण बना उसमें इतावली मानवतावादियों के हाथों साहित्य और कला को धार्मिकता से मुक्त कर स्वतंत्र साधना का अवसर मिला। किन्तु जब यह मुक्ति अराजकता में बदलने लगी तब एक बार फिर आभिजात्यवादी मूल्यों की स्थापना का दौर आरम्भ हुआ।' स्पष्ट है कि पुनर्जागरणकालीन प्रवृत्तियों के हास के दौर में नव्य-शास्त्रवाद का पुनर्गठन हुआ। नव्य - शास्त्रवाद ने सर्जन की स्वतंत्रता के नाम पर व्यापत अशास्त्रीयता के विरुद्ध शास्त्रीयता और संयम को नये सिरे से प्रतिष्ठित किया। स्वच्छन्दतावादी संवंगों तथा भावावेगों की अनियंत्रिता अवस्था के विरुद्ध नव्य - शास्त्रवाद ने विवेक स्पष्टता और व्यवस्था को नये सिरे से स्थापित किया। शास्त्रवाद और नव्य - शास्त्रवाद की बुनियादी मान्यताओं में बहुत अन्तर नहीं है। शास्त्रवाद में जहाँ अनुकरण पर बल दिया गया वहीं नव्य - शास्त्रवाद में मूल्यों और आदर्शों के अनुसरण को प्राथमिकता दी गई। नव्य - शास्त्रवाद ने कृति की वस्तुनिष्ठता पर शास्त्रवाद से ज्यादा बल दिया। नव्य - शास्त्रवाद ने शास्त्रवाद की अपेक्षा कट्टर शास्त्रबद्धता से क्रमशः अपने को मुक्त किया। नव्य - शास्त्रवाद ने सिद्धान्त - निरूपण में तर्क, विवेक एवं युगानुरूपता को ज्यादा महत्व दिया। क्रमशः आगे नव्य - शास्त्रवाद में अनुभूति तथा संवेदनशीलता के महत्व को स्वीकार किया गया।

17.4.5 नई समीक्षा: अवदान एवं सीमाएँ

'नई समीक्षा' की प्रमुख मान्यताओं के अध्ययन के क्रम में हमने देखा कि 'नई समीक्षा' आन्दोलन के मूल में साहित्यिक - सांस्कृतिक कारणों के अलावा विज्ञान द्वारा प्रस्तुत नये सत्यों के आलाके में काव्य की भूमिका की खोज भी थी। नयी समीक्षा ने एक ओर स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का विरोध किया दूसरी ओर नैतिक साहित्य के बाहरी आरोपण का विरोध किया। इसने मार्क्सवादी समीक्षा के काव्येतर उपकरणों का भी विरोध किया। अर्थ यह कि नई समीक्षा एक विशेष सामाजिक आवश्यकता की पृष्ठभूमि के बीच अस्तित्व ग्रहण कर रही थी। 'नई समीक्षा' ने आलोचना में पाठ के गहन अध्ययन पर उस वक्त बल दिया जब काव्य की पृष्ठभूमि काव्य से महत्वपूर्ण घोषित की जाने लगी थी। साहित्य के सामाजिक अंतर्सम्बन्ध की प्रक्रिया में कृति की उपेक्षा होने लगी थी, ऐसे समय

में नई समीक्षा ने कृति को केन्द्र में स्थापित किया। साहित्यिक भाषा की सम्प्रेषणीयता को भी नई समीक्षा ने स्थापित किया।

नई समीक्षा अपने ऐतिहासिक उत्तरदायित्व का वहन करके अपने अतिवाद का शिकार होने लगी। क्लॉथ ब्रुक्स जैसे समीक्षक को यह कहना पड़ा कि कविता के तनावों और संघटनों को समझने के लिए हमें कविता के बाहर जाने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। इलियट ने तो 'नीबू निचोड़' आलोचक कहकर नई समीक्षा के सिद्धान्तकारों को कटघरे में खड़ा किया। आर.एस.क्रेन जैसे आलोचकों ने रूप - रचना केंद्रित दृष्टि और प्रतिमान को अधूरा बताया। उसने कहा कि रूप या संरचना के विश्लेषण की यह पद्धति लघु रचनाओं के लिए भले ही उपयुक्त हो किन्तु वृहत् काव्यों, प्रबन्ध रचनाओं, नाटक इत्यादि के लिए अपर्याप्त है। 1950 तक आते - आते काव्य या रचना को जाँचने के लिए समाजशास्त्रीय अध्ययन का दबाव बढ़ने लगा था। ऐसी स्थिति में नई समीक्षा की सीमा की ओर परवर्ती आलोचकों ने ध्यान कराया।

बोध प्रश्न 2

निर्देश: उचित शब्द भरकर रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।

1. संरचनावाद को ने प्रतिष्ठित किया।
2. 'ग्रामाटोलॉजी' प्रस्तक के लेखक है।
3. आन्दोलन में विखंडप की प्रविधि पर बल दिया गया है।
4. में कृति को केंद्रीयता मिली।
5. आभिजात्यवाद का दूसरा नाम भी है।

बोध प्रश्न 3

निर्देश: नीचे दिए गये वाक्यों में सही / गलत का चुनाव उचित चिह्न (/) लगाकर करें।

1. जॉक देरिदा संरचनावाद का जनक कहा गया है ()
2. आई. ए. रिचर्ड्स नई समीक्षा का आलोचक है। ()
3. नई समीक्षा में पाठ के गहन अध्ययन पर बल है। ()
4. शास्त्रवाद में ऐतिहासिक पर बल है। ()
5. नई समीक्षा में 'कृति' केन्द्र में है। ()
6. 'नई समीक्षा' में भाषा को महत्व मिला है। ()

बोध प्रश्न 4

निर्देश: 'क' और 'ख' कॉलम का उचित मिलान कीजिए।

'क'	'ख'
आन्दोलन	रचनाकार

1.	उत्तर - आधुनिकता	अलेक्जेंडर पोप
2.	संरचनावाद	जॉन क्रो रैनसम
3.	शास्त्रवाद	सासूर
4.	नई समीक्षा	अरस्तु
5.	नव्य - शास्त्रवाद	जॉक देरिदा

17.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आप ने पढ़ा की -

फर्डोनांद सासूर ने भाषा में संरचनावाद की नींव डाली। सासूर के अनुसार भाषा एक व्यवस्था है। वह चिह्नों की निर्मित है। चिह्न जो मनमाने और भेदपरक होते हैं। एक भाषाई चिह्न में दो तत्व होते हैं। पहला तत्व व्यंजक है और दूसरा व्यंग्या चिह्न के ये दो तत्व नियमरहित हैं। शब्द अर्थ की परस्परता का मनमाना अथवा नियमरहित होना ही वह तत्व है जो सासूर ने भाषा विज्ञान और संरचनावाद को दिया।

संरचना क्या है ? संरचना स्थापत्य कला में, विभिन्न अंगों की व्यवस्था का नाम है, जिसमें हर चीज एक - दूसरे से सम्बद्ध हो जाती है, जिसमें अलग - अलग तत्व एक दूसरे से जुड़ जाते हैं, जिसमें एक निश्चित रूप उभरता है, जो अनेक स्तरीय संरचना के लिए 'मॉडल' यानी आदर्श होता है अंतिम संरचना होता है। यह अंतिम संरचना जो हर छोटी -से- छोटी संरचना में होती है, 'अर्थ' का केन्द्र होती है। वह हर चीज को मायने देती है।

उत्तर-आधुनिकता, का आरम्भ सातवें दशक के मध्य में हुआ। संरचनावाद भाषाई कैद में बंद हो गया था, उत्तर - संरचनावाद ने किसी वाद, विचारधारा से पाठ को मुक्त कर लोकतांत्रिक स्वरूप का निर्माण किया।

उत्तर-आधुनिकता, उत्तर - संरचनावाद का आन्दोलन है। इसे विखंडन भी कहा गया है। विखंडन पाठ को उसके केन्द्र से मुक्त करता है। विखंडन अनुपस्थिति की तलाश करता है। इस दृष्टि समाज में हाशिए के लोग केन्द्र में आ जाते हैं या सब बराबर हो जाते हैं। शास्त्रवाद का आन्दोलन फ्रांस में शुरू हुआ। शास्त्रवाद रचना में आदर्श, नैतिकता ऐतिहासिकता, वस्तुनिष्ठता एवं संयम पर बल देता है। ऐसी रचनाएँ प्रायः क्लासिक रचनाओं की श्रेणी में आती हैं।

17.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 2 के उत्तर -

-
- (1) - सासूर
 - (2) - जॉक देरिदा
 - (3) - उत्तर आधुनिकता
 - (4) - नई समीक्षा
 - (5) - शास्त्रवाद

बोध प्रश्न 3

- (1) - ×
- (2) - ✓
- (3) - ✓
- (4) - ✓
- (5) - ✓
- (6) - ✓

बोध प्रश्न प्रश्न 4

- (1) - जॉक देरिदा
- (2) - सासूर
- (3) - अरसु
- (4) - जान क्रोरेन्सम
- (5) - एलेक्जेन्डर पोप

17.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. पाश्चात्य साहित्य चिंतन - निर्मना जैन/कुसुम बॉठिया, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
2. काव्य चिंतन की पश्चिमी परम्परा - निर्मना जैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

-
3. आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द - बच्चन सिंह वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
 4. आलोचना से आगे - सुधीश पचौरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
-

17.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. नयी समीक्षा के प्रतिमान - निर्मला जैन
 2. न्यू क्रिटिसिज्म एंड थयरी - नरेशचन्द्र
 3. आलोचक और आलोचना - बच्चन सिंह
 4. माडर्न क्रिटिसिज्म एंड थयरी - डेविडलाज
-

17.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. संरचनावाद एवं उत्तर संरचनावाद की मूलभूत मान्यताओं एवं विशिष्टताओं पर प्रकाश डालिए।
2. 'नई समीक्षा' के मूलभूत सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

इकाई 18 स्वच्छंदतावाद, बिंबवाद, प्रतीकवाद, यर्थाथवाद, अतियर्थाथवाद, दादावाद, शैलीविज्ञान

- 18.1 प्रस्तावना
- 18.2 उद्देश्य
- 18.3 आलोचनात्मक संदर्भ
 - 18.3.1 स्वच्छंदतावाद
 - 18.3.2 बिंबवाद
 - 18.3.3 प्रतीकवाद
 - 18.3.4 यर्थाथवाद
 - 18.3.5 अतियर्थाथवाद
 - 18.3.6 दादावाद
 - 18.3.7 शैलीविज्ञान
- 18.4 काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
 - 18.4.1 स्वच्छंदतावाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
 - 18.4.2 बिंबवाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
 - 18.4.3 प्रतीकवाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
 - 18.4.4 यर्थाथवाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
 - 18.4.5 अतियर्थाथवाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
 - 18.4.6 दादावाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
 - 18.4.7 शैलीविज्ञान: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ
- 18.5 सारांश
- 18.6 शब्दावली
- 18.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 18.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 18.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 18.10 निबन्धात्मक प्रश्न

18.1 प्रस्तावना

साहित्यशास्त्र एवं हिन्दी समालोचना की यह 18 वीं इकाई है। इसके पूर्व आपने प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र कि प्रमुख प्रवृत्तियों एवं विचारकों का अध्ययन किया। इस अध्ययन में आप ने जाना कि भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र पर्याप्त समृद्ध है। भारतीय साहित्य सिद्धान्त जहाँ काव्य की आत्मा के इर्द - गिर्द धूमता रहा है वहीं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त काव्य रचना की प्रक्रिया एवं प्रभाव से ज्यादा जुड़े रहे हैं। प्लेटो - अरस्तू के अनुकरण - विरेचन से लेकर इलियट के सिद्धान्त तक पश्चिमी साहित्यशास्त्र में समाज - लेखक - व्यक्तित्व - रचना प्रक्रिया इत्यादि गंभीर मुद्दों पर ही विचार होता रहा। पूंजीवाद के चरमोत्कर्ष के दौरान साहित्य एवं समाज के कई महत्वपूर्ण सिद्धान्त सामने आये। स्वच्छंदतावाद, संरचनावाद, उत्तर संरचनावाद, शास्त्रवाद, नव्य शास्त्रवाद, नई समीक्षा, बिंबवाद, प्रतीकवाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, दादावाद, शैलीविज्ञान जैसे आन्दोलन बदलते सामाजिक परिप्रेक्ष्य में साहित्य द्वारा सामाजिक सम्प्रेषण की प्रक्रिया की ही निष्पत्ति है।

प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे कि प्रमुख आधुनिक काव्यान्दोलनों जैसे स्वच्छंदतावाद, बिंबवाद, प्रतीकवाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, दादावाद, एवं शैलीविज्ञान की पृष्ठभूमि एवं उनकी साहित्यिक देन का सम्बन्ध पूंजीवाद के विकास काल से है। स्वच्छंदतावादी आन्दोलन एक प्रकार का मध्यमवर्गीय युवकों द्वारा किया गया साहित्यिक विद्रोह है। 'दादावाद' इसी प्रकार सारी परम्पराओं के खिलाफ विद्रोह का आन्दोलन रहा है। शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान की एक शाखा है। वस्तुतः शैलीविज्ञान साहित्यिक अभिव्यंजना की प्रविधि का अध्ययन करता है। शैलीविज्ञान ने भाषाई माध्यम से साहित्य को समझने की एक पद्धति निर्मित की। बिंबवाद एवं प्रतीकवाद के काव्यान्दोलन साहित्यिक भाषा को और अधिक सघन एवं अर्थगर्भी बनाने के प्रयास से प्रभावित रहे हैं। इसी प्रकार यथार्थवादी आन्दोलन के पीछे मार्क्सवाद की प्रेरणा काम कर रहीं है एवं अतियथार्थवादी आन्दोलन के पीछे मनोविश्लेषवाद प्रेरक रूप में रहा है।

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप जान लेंगे कि वस्तुतः प्रत्येक साहित्यान्दोलन एक विशेष सामाजिक परिस्थिति के बीच निर्मित होते हैं। सामाजिक परिस्थिति और कवि प्रतिभा के बीच जब उचित तालमेल बँट जाता है, तब कोई काव्यान्दोलन अस्तित्व ग्रहण करता है। आगे हम उपर्युक्त प्रमुख काव्यान्दोलनों की पृष्ठभूमि, उसके प्रमुख तर्क, उसके साहित्यिक अवदान इत्यादि बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे।

18.2 उद्देश्य

यह इकाई विभिन्न काव्य आन्दोलनों से संबंधित है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

स्वच्छंदतावाद का अर्थ एवं उसकी विशेषताओं को समझ सकेंगे।

बिंबवादी आन्दोलन के मुख्य सिद्धान्तों से परिचित हो सकेंगे।

प्रतीकवाद के मुख्य तर्कों को समझ सकेंगे।

यथार्थवाद एवं अतिथार्थवादी आन्दोलन के प्रमुख मतों से परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

दादावाद आन्दोलन की पृष्ठभूमि एवं प्रवृत्तियों से परिचित हो सकेंगे।

शैलीविज्ञान आन्दोलन के प्रमुख सिद्धान्तों से परिचित हो सकेंगे।

18.3 आलोचनात्मक संदर्भ।

स्वच्छंदतावाद, बिंबवाद, प्रतीकवाद, यथार्थवाद, अतिथार्थवाद, दादावाद, शैलीविज्ञान आधुनिक आलोचना अपनी मुगीन पृष्ठभूमि के बीच जन्में एवं विकसित हुए। स्वच्छंदतावाद एवं यथार्थवाद का सम्बन्ध क्रिया - प्रतिक्रिया का कहा जा सकता है, लेकिन फिर भी इनके जन्म के पीछे तत्कालीन परिस्थितियाँ उत्तरदायी थी। दादावाद, शैलीविज्ञान, अतिथार्थवाद, बिंबवाद, या प्रतीकवादी आन्दोलन सभी किसी - न - किसी आवश्यकता के तहत पैदा हुए थे। अपनी सीमाओं के बावजूद उपरोक्त काव्यान्दोलनों ने साहित्य एवं कला को दूर तक प्रभावित किया। आइए अब हम प्रमुख काव्य आन्दोलन के प्रमुख बिन्दुओं को समझने का प्रयास करें।

18.3.1 स्वच्छंदतावाद

'स्वच्छंदतावाद', काव्य सिद्धान्त आधुनिक युग की देन है। 'स्वच्छंदतावाद' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1792 में जर्मन आलोचक श्लेजर ने किया। उसने इसे आभिजात्यवाद का विरोधी सिद्धान्त माना। रूसो ने अपने निबन्धों में प्रकृति की महत्ता को स्थापित किया। भौतिक प्रगति को उसने विकृति कहा। सन् 1800 ईसवी में लिरिकल बैलेड्स के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन किया। स्वच्छंदतावाद, आन्दोलन का प्रारम्भिक प्रचार जर्मनी, फ्रांस तथा इंग्लैण्ड में रहा क्रमशः इसका प्रभाव यूरोप के बाहर के देशों पर भी पड़ा। हिंदी में 'रोमटिसिज्म' शब्द के हिंदी पर्याय के रूप में स्वच्छंदतावाद, शब्द का प्रयोग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया, तब से यह शब्द हिंदी समीक्षा में प्रचलित हो गया। 'स्वच्छंदतावाद' कई वृत्तियों और प्रवृत्तियों को समेटता है। समीक्षा में आज स्वच्छंदतावाद का प्रयोग अंग्रेजी साहित्य की उस प्रवृत्ति के लिए होता है। जो 18 वीं सदी के अंत में फ्रांस में प्रारम्भ हुई। फ्रांस के इस स्वच्छंदतावादी काव्यान्दोलन के पूर्व इंग्लैण्ड के साहित्य में (विशेषकर एलिजावेथन युग में) स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति की झलक दिखती है। 18 वीं सदी का आन्दोलन से इस मायने में भिन्न है कि इस आन्दोलन की अगुवाई कर रहे कवियों ने अपने पक्ष को सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया। स्वच्छंदतावादी काव्यान्दोलन मूलतः साहित्यिक आन्दोलन था

किन्तु इसके पीछे सामाजिक तथा राजनीतिक कारण भी थे। साहित्यिक दृष्टि से विचार करें तो तत्कालीन परिस्थितियों में साहित्य अपने युग की जरूरतों एवं संवेदनाओं से कट रहा था। प्राचीन साहित्य - सिद्धांतों के अनुकरण ने साहित्य को कृत्रिम बना दिया था। बुद्धि तर्क इत्यादि की अधिकता ने साहित्य से भावुकता को बहिष्कृत सा कर दिया था। कुछ लोग इसीलिए स्वच्छंदतावादी आन्दोलन को तार्किकता के विरुद्ध भाव का विद्रोह कहते हैं।

स्वच्छंदतावाद की चर्चा के संदर्भ में मुख्य रूप से वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स, बायरन के काव्य का उल्लेख किया जाता है। किन्तु लगभग इसी युग में अंग्रेजी गद्य - साहित्य जैसे सर वाल्टर स्कॉट के उपन्यासों, लैंडर, हैजलिट एवं लैंब के निबन्धों तथा अन्य रचनाओं पर भी स्वच्छंदतावादी तत्वों का पर्याप्त प्रभाव है। आइए अब हम स्वच्छंदतावाद की प्रमुख विशेषताओं को समझने का प्रयास करें। वस्तुतः स्वच्छंदतावाद परम्परा के प्रति विद्रोह की भावना को लेकर चला। सामाजिक जीवन में परम्परा के नाम पर आभिजात्यवादी मान्यताओं का आरोपण ज्यादा था, जिसके कारण जन - जीवन में जटिलता एवं बंधन ज्यादा ही बढ़ चले थे। विज्ञान तर्क एवं विचार के बढ़ते आग्रह के कारण जीवन में भाव तत्व की उपेक्षा हो रही थी। ऐसी स्थिति में भावनात्मक रूप से आग्रहशील रचनाकारों ने सृजनात्मक स्तर पर विद्रोह किया। परम्परा की कट्टरता तथा बढ़ते तर्क के प्रति स्वच्छंदतावाद में विद्रोह किया गया। इसी कारण स्वच्छंदतावाद ने व्यक्ति पर बल दिया तथा काव्य के संदर्भ में आन्तरिकता को ही प्रधान आधार माना। स्वच्छंदतावाद रचना के धरातल पर सामाजिक परिस्थिति की उपेक्षा कवि के व्यक्तित्व को प्रधान मानता है। नैतिकता की जगह आनन्द को प्रतिष्ठित करता है। बौद्धिकता की जगह आत्मानुभूति स्थूलता की जगह सूक्ष्मता तथा प्रबन्ध की जगह गीतकाव्य को प्रतिष्ठित करता है। स्वच्छंदतावाद का सीधा अर्थ होता है - रूढ़ियों से मुक्ति। सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति का कार्य स्वभावतः क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के माध्यम से होता है इसीलिए इस काव्य आन्दोलन में व्यक्तित्व को केंद्र में प्रतिष्ठित किया गया है। किन्तु स्वच्छंदतावाद में मुख्य रूप से व्यक्तित्व के एक अंश के भाव, मनोवेग, भावना या आवेगात्मक प्रतिक्रिया को ही प्रधानता मिलती है। विचार को महत्व देने के बावजूद उसे द्वितीयक ही माना गया। वैज्ञानिक प्रगति, तर्क, बुद्धिवाद जैसे आधुनिक औजारों के प्रति इस धारा में सहानुभूति तो दूर उपेक्षा का ही भाव मिलता है। उदाहरण स्वरूप अगर हम हिंदी स्वच्छंदतावादी काव्यान्दोलन 'छायावाद' के कामायनी महाकाव्य को लें जिसमें नायिका 'श्रद्धा' हृदय (भाव) का प्रतीक है तथा इड़ा (तर्क, बुद्धि) आधुनिक वैज्ञानिक अनुशासनों का प्रतीक है। महाकाव्य में श्रद्धा के साथ तो सहानुभूति है लेकिन इड़ा उपेक्षा की ही शिकार हुई है।

18.3.2 बिंबवाद

बिंब अंग्रेजी के इमेज शब्द का हिंदी पर्याय है। आधुनिक समीक्षा में बिंब शब्द का प्रयोग आम हो गया है। परिभाषा के धरातल पर बिंब शब्द को समझना आसान नहीं है। आधुनिक हिंदी आलोचना

के बीज शब्द में डॉ. बच्चन सिंह ने लिखा है - 'इस की परिभाषाएँ भी अनेक हैं - 'यह ऐंद्रिय माध्यम द्वारा आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक सत्यों तक पहुँचने का मार्ग है', ' किसी अमूर्त विचार अथवा भावना की पुनर्निर्मित है, ' बिम्ब पदार्थों के आन्तरिक सादृश्य की अभिव्यक्ति है।' जाहिर है इनमें से एक परिभाषा भी बिंब को उसकी संपूर्णता में परिभाषित नहीं कर पाती।' सन् 1908 में हूल्मे और क्लिट ने बिंबवाद का घोषणापत्र प्रकाशित किया। सन् 1912 से 1917 तक इंग्लैण्ड और अमरीका में बिंबवाद का आन्दोलन ही चल पड़ा। इस आन्दोलन में मुख्य रूप से टी. ई. ह्यूम, एजरा पाउण्ड, आर्लाइंगटन, एमी लावेल, ड्रिलट्ल, डी. एच. लारेन्स, कैरोल विलियम्स, रिचार्ड एलिंगटन इत्यादि थे।

बिम्बवाद ने सीधी अभिव्यक्ति के स्थान पर बिंब को काव्य के लिए अनिवार्य बताया। लम्बी कविता को अनावश्यक बताते हुए बिंबवादियों ने पूर्ण बिंब को आवश्यक बताया। इसी प्रकार ह्यूम ने स्वच्छंदतावाद की भावुकतापूर्ण प्रतिक्रिया की आलोचना की। बिंबवाद के मुख्य प्रवक्ता एजरा पाउण्ड के कविता की पृष्ठभूमि थी - बरसात की रात में भीगते रेलवे स्टेशन पर कुछ सुन्दर आकृतियाँ। इसे कविता में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है- 'भीड़ में इन चेहरों का दिव्य-दर्शन / मानों किसी भीगी काली टहनी पर पंखुड़ियाँ।' बिंबधर्मी कविता की विशेषता बताते हुए एजरा पाउण्ड ने कहा: 'मूर्तता, प्रेक्षण की यथातथ्यता, तुलना की तात्कालिकता, और बिंब का सौन्दर्य'। बिंबवाद में विषय से ज्यादा अभिव्यक्ति पर बल दिया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है- 'कविता का काम हमारे सामने विचार (कांसेप्ट) लाना नहीं है, बल्कि बिंब खड़ा करना है'। एमी लावेल इसे 'सही शब्द' कहता है, जबकि ह्यूम कम शब्दों में पाठक को अधिक प्रभावित करने की क्षमता को बिंब का प्रधान गुण मानता है।

18.3.3 प्रतीकवाद

प्रतीकवाद का परिचय देते हुए डॉ० बच्चन सिंह ने लिखा है- 'आंदोलन के रूप में प्रतीकवाद का आरम्भ 1886 में फ्रांस में हुआ। वस्तुतः यह रोमेन्टिसिज्म की एक विकसित शाखा है। इसमें प्रतीक का सायास और सचेत प्रयोग होता है।' फ्रांस में शुरू हुआ प्रतीकवादी काव्यान्दोलन क्रमशः जर्मनी, अमरीका और इंग्लैण्ड में फैला और प्रभाव एशिया तक पहुँचा। इस आन्दोलन के प्रतिनिधि कवि थे - वॉदलेयर, वर्ले, रैम्बो, मलार्मे और बैलरी। वॉदलेयर प्रथम साहित्यकार था, जिसने प्रतीकों के प्रयोग को आवश्यक बताया, वर्ले ने प्रतीकों के प्रयोग की प्रक्रिया तथा मलार्मे ने उनकी व्याख्या तथा संगति स्पष्ट की। प्रतीकवाद आन्दोलन का प्रारम्भ कला - दर्शन - विज्ञान क्षेत्र में आई यांत्रिक दृष्टि की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। प्रतीकवाद में भाषा की बंधी - बंधायी पद्धति को तोड़ने का प्रयास किया गया। प्रतीकवाद भाषा के प्रति विशिष्ट दृष्टिकरण को लेकर चलने वाला काव्यान्दोलन है। जिसमें वाच्यार्थ के माध्यम से लक्ष्यार्थ की खोज की जाती है।

18.3.4 यर्थाथवाद

आन्दोलन के रूप में यर्थाथवादी आन्दोलन उस रूप में नहीं चला है, जिस रूप में बिंबवाद या प्रतीकवाद का आन्दोलन एक विचारधारा के रूप में जरूर इस पर लम्बी चर्चा मिलती है। हिंदी में यर्थाथवाद शब्द का प्रयोग अंग्रेजी शब्द रियलिज्म के पर्याय रूप में होता है। यर्थाथवाद आन्दोलन से ज्यादा प्रवृत्ति है। इसीलिए यर्थाथवादी होना साहित्य की एक प्रवृत्ति मानी गई है। एक विशेष प्रकार के उपन्यासों को जिस प्रकार यर्थाथवादी उपन्यास कहा गया, एक विशेष प्रकार के कविताओं को उसी प्रकार यर्थाथवादी किस्म की कविताएँ कहा गया। इसी प्रकार का प्रयोग साहित्य की अन्य विधाओं पर भी किया गया। यर्थाथवाद का शाब्दिक अर्थ है जो जिस रूप में है उसे उसी रूप में ग्रहण करना। साहित्य के संदर्भ में हालांकि यह मुश्किल है कि हम समाज राजनीति या जीवन को उसी रूप में ग्रहण कर पायें। सिद्धान्त रूप में यर्थाथवादी आग्रह का पालन करते हुए भी व्यवहार में रचना का अपना विज्ञान होता है, जिसके कारण साहित्यिक रचनाएँ उस प्रकार से यर्थाथवाद का प्रतिनिधित्व नहीं करती जिस प्रकार विज्ञान या सामाजिक विज्ञान के अन्य अनुशासन। यर्थाथवाद पर विचार करते हुए डॉ बच्चन सिंह ने लिखा है - "पश्चिम में इस शब्द का लंबा इतिहास है तत्त्वदर्शन ;मेटाफिजिक्स) ज्ञान मीमांसा ;ऐपिस्टमोलॉजी) और प्रत्ययवाद ;कांस्पेचुअलिज्म) में यह अलग - अलग अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तत्त्व दर्शन के अनुसार यर्थाथवाद का अर्थ है कि सामान्य (यूनीवर्सल) की सत्ता विशेष के पूर्व होती है भागवत चेतना है और सृष्टि उस चेतना की प्रतिकृति है। प्लेटो का अनुकृति सिद्धान्त इसी दर्शन पर आधारित है। इसी को वह यर्थाथवाद कहता है। ज्ञान - मीमांसा में ज्ञेय की सत्ता ज्ञाता से भिन्न और स्वतंत्र होती है यदि पदार्थ का ज्ञान ज्ञाता के चित्त पर आश्रित रहता है तो उसे ज्ञान संबंधी विद्वाद ;ऐपिस्टेमोलॉजिकल आइडियलिज्म) कहा जाता है। साहित्यिक यर्थाथवाद का सम्बन्ध ज्ञान - मीमांसा के यर्थाथवाद यानी ज्ञाता से भिन्न ज्ञेय की स्वतंत्र सत्ता से है। डॉ बच्चन सिंह ने यर्थाथवाद को दृष्टिकोण तथा पद्धति दोनों माना है। जीवन समाज की जटिलता एवं विविधता को व्यक्त करने के लिए यर्थाथवाद के कई वर्गीकरण किये हैं। प्रकृतिवाद मनोवैज्ञानिक, यर्थाथवाद, आलोचनात्मक यर्थाथवाद, सामाजिक यर्थाथवाद, अतियर्थाथवाद, इत्यादि शब्द सभी यर्थाथवाद की ही भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं। जैसा कि कहा गया कि पूर्व की रचनाओं में भी चित्रण को अधिक पूर्ण, वातावरण को अधिक जीवंत, रचनाशीलता को सार्थक बनाने का प्रयास किया जाता रहा है किन्तु यर्थाथवाद दार्शनिक वैज्ञानिक आधार को लेकर चलने वाला एक आन्दोलन था। इसकी पृष्ठभूमि में कई चीजें काम कर रही थीं जैसे औद्योगिकीकरण, डार्विन की वैज्ञानिक स्थापनाओं, बेकन, देकार्त, फायरबाख तथा मार्क्स - एंगेल्स जैसे विचारकों के मत। यर्थाथवाद के सम्बन्ध में शिप्ले ने तीन भूमियों की आवश्यकता पर बल दिया है -

क) चित्रण को अधिक समर्थ पूण तथा प्रभाशाली बनाने के हेतु वस्तुस्थिति के एक-एक ब्यौरे को एकदम सही रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास।

ख) एक प्रेरक सिद्धान्त तथा सम्पूर्ण साहित्यिक निर्माण को अनुशासित करने वाले एकमात्र सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमान अथवा लक्ष्य के रूप में उसकी स्वीकृति।

ग) वह आन्दोलन जो दूसरी स्थिति ख से प्रेरणा ग्रहण करता हुआ 19 वीं शताब्दी के उत्तरकाल में विकसित हुआ।

यथार्थवादी काव्यान्दोलनों पर टिप्पणी करते हुए एंगेल्स ने लिखा है - "मेरे विचार से यथार्थवाद का आशय यह है कि लेखक विवरणों और व्यौरों के सतत प्रस्तुतीकरण के अलावा प्रतिनिधि पात्रों को प्रतिनिधि परिस्थितियों में सच्चाई के साथ चित्रित करें।" यानी कौन सी परिस्थिति प्रतिनिधि (टिपिकल) है और कौन से पात्र प्रतिनिधि है इनकी जांच का कार्य केवल सत्यान्वेषी वस्तुमुखी दृष्टि ही कर सकती है। मिथ्या वस्तुपरकता एवं मिथ्या व्यक्ति परकता से इतर लुकाच यथार्थवाद को समस्त प्रकार के झूठे असमंजसों के विरुद्ध सत्य तथा सही समाधानों तक पहुँचने वाला एक तीसरा रास्ता है।

18.3.5 अतियथार्थवाद

'अतियथार्थवाद' का तात्पर्य है सामाजिक यथार्थ से आगे यथार्थ की एक और दुनिया। यानि सामाजिक यथार्थ से आगे का यथार्थ जाहिर है यह यथार्थ मन या अवचेतन मन का ही हो सकता है। फ्रायडीय मनोविश्लेषणशास्त्र के स्वप्न-विज्ञान या अवचेतन मन का इस आन्दोलन पर बहुत प्रभाव पड़ा। यह काव्यान्दोलन सन् 1920 ई० के बाद विकसित हुआ। अतियथार्थवाद पर टिप्पणी करते हुए डॉ बच्चन सिंह ने लिखा है:- "सचेत सृजन की जगह संयोग या चॉस सृजन का इसमें अधिक महत्व था दो विरोधी वस्तुओं को आसपास रखना इसकी एक टेकनीक है। भाषा में नया अर्थ भरकर अंतर्दृष्टि को मुक्त करना भी इसका कार्य था। पर मुक्ति की जो अवधारणा इस कला-आन्दोलन ने विकसित की उसमें मस्तिष्क की कोई भूमिका शेष नहीं रही।

18.3.6 दादावाद

दादावादी आन्दोलन परम्परागत कला संबंधी आंदोलन पर विद्रोह भरी टिप्पणी है। डॉ बच्चन सिंह ने दादावाद पर टिप्पणी करते हुए लिखा है: "चित्रकला के आंदोलन में दादा का योग इतना ही माना जा सकता है कि इसने सारी परम्पराओं के खिलाफ विद्रोह किया। 1915 - 23 की अल्पावधि में इसने कला की सौंदर्यवादी चूलों को हिला दिया। इससे एक प्रकार की कुख्यात क्रान्ति की शुरुआत हुई जिसने अति-यथार्थवाद और पॉप आर्ट में विकसित होती हुई दुनिया की कला-दृष्टि को अस्त व्यस्त कर दिया।" जाहिर है दादावादी कला आन्दोलन का सम्बन्ध घोर विद्रोह की मानसिकता से जुड़ा हुआ है। आगे बच्चन सिंह ने इस आन्दोलन को समझाते हुए लिखा है:- डूकैप ने मोनालिसा की मूँछ बनाकर कला संबंधी बँधी दृष्टि पर आधात किया। ब्रेतॉ ने दादा को कला का हत्यारा कहा है। इसकी मुख्य शैली कोलाज है या मनमानापन है। वस्तुतः यह कला सौन्दर्य का आन्दोलनगत न

होकर विद्रोह कानिहलिस्ट विद्रोह का - आन्दोलन है। इसे अराजकतावादी कहने में कोई संकोच नहीं है। डूकेंप, मैक्स अन्सर्ट, फैसिल पेकाविया, कुर्त स्वीत्तर आदि मुख्य दादावादी हैं।

18.3.7 शैलीविज्ञान

साहित्य के भाषागत प्रयोगों का अध्ययन शैली विज्ञान है। शैली विज्ञान में साहित्य के अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति को अभिव्यक्ति पद्धति के आधार पर मूल्यांकित किया जाता है। शैली विज्ञान कृति को देखने - परखने का एक शास्त्र है। इसलिए आलोचना सिद्धान्त की तरह शैली विज्ञान के भी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक भेद हो जाते हैं। वस्तुतः शैली विज्ञान का है शब्द एवं अंग्रेजी के स्टाइल का अनुवाद है। वह साहित्य सिद्धान्त जो रचना में प्रयुक्त शैली का वैज्ञानिक विवेचन करता है, उसे शैली विज्ञान कहते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र का 'रीति' शैली से मिलता- जुलता शब्द है। आचार्य वामान ने 'रीति' को स्पष्ट करते हुए उसे 'विशिष्ट पद रचना' कहा है। 'विशिष्ट' शब्द का अर्थ यहाँ रचना का गुणयुक्त होना है। प्रत्येक रचनाकार अपने कथन को इस प्रकार अभिव्यक्त करना चाहता है कि उसका प्रभाव पाठक/श्रोता पर ज्यादा से ज्यादा पड़े। इस दृष्टि से शैली विज्ञान काव्य में निहित नये मानव मूल्य के लिए, भाषा के माध्यम से उसके संभावनापूर्ण अर्थ तक पहुँचने का माध्यम है। शैली विज्ञान में एक तरफ कृति के अंतर्गतन की सूक्ष्म व्याख्या की जाती है तो दूसरी ओर भाषा की इकाइयों, जो रचना तक पहुंचने में सहायक होते हैं, उनकी छानबीन की जाती है। पहले कहा गया कि कहने का विशिष्ट ढंग शैली के मूल में है, अतः शैली विज्ञान में रचना के शब्द-चयन पर बल दिया गया है। हॉकेट सम्प्रेषित करने की भाषिक संघटना को शैली कहता है। जबकि ग्लिसन 'भाषिक परम्परा के विकल्पों' के बीच चयन पद्धति को शैली कहता है। इनसे अलग ओल्गा अखमानोवा के अनुसार शैली भाषा का वह अंग है जो महत्वपूर्ण एवं संवेदनशील संदेशों को सम्प्रेषित करने के उपयोग में लायी जाती है। शैलीविज्ञान किसर स्वतंत्र वाक्य को नहीं सम्पूर्ण कृति को एक स्वतंत्र इकाई मानकर वाक्यों की परस्पर सम्बद्धता के वातायन से अवलोकित करता है। डॉ. रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है - 'कृति का विशिष्ट अर्थ वस्तुतः संदेश की आन्तरिक संघटना का परिणाम होता है।' अर्थ यह कि हम काव्य शैली से कवि की अवस्था, मनःस्थिति, परिवेश समाज इत्यादि का ज्ञान करते हैं।

रचना में अर्थ की कई तहें होती हैं, जो परस्पर अनुस्यूत होती हैं। ऐसी स्थिति में शैलीविज्ञान हमारी मदद करता है। जोसेफ वाचेक ने लिखा है - 'प्रणाली की जटिलता इस तथ्य पर भी प्रकाश डालती है कि कृति में भाषिक संरचना के प्रमुख स्तर के भीतर कई उप-स्तर भी होते हैं, जो स्वयं में स्वतंत्र होते हैं तथा जिनकी विशेष संरचनात्मक समस्याएँ भी होती हैं।' इस संदर्भ में यह बात ध्यान रखनी है कि कृति विश्लेषण स्वयं में तभी पूर्ण होगा जब लेखक की शैली विशेष संदर्भ में विश्लेषित की गई हो। आलोचकों ने किसी कृति के शैलीवैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए निम्नांकित छः प्रमुख तत्वों के अध्ययन पर जोर दिया है -

1. वक्ता 2. संदेश 3. श्रोता 4. संदर्भ 5. संपर्क 6. सहिता

बोध प्रश्न 1

क) नीचे कुछ कथन दिये गए हैं, जिनमें कुछ सही हैं और कुछ गलत कथन के सामने उचित चिह्न (×) लगाइए।

1. स्वच्छंदतावाद 'शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग श्लेजर ने किया। ()
2. 'लिरिकल वैलेड्स' स्वच्छंदतावाद का घोषणा पत्र है। ()
3. कीट्स स्वच्छंदतावादी कवि है। ()
4. 'लिरिकल वैलेड्स' के लेखक शैली है। ()
5. 'स्वच्छंदतावाद' में कल्पना तत्व पर बल दिया गया है। ()

(ख) रिक्त स्थानों पूर्ति कीजिए।

1. 'स्वच्छंदतावाद' का प्रारम्भ में हुआ।
2. हिंदी का स्वच्छंदतावाद से प्रभावित काव्यान्दोलन है।
3. बिंबवाद का घोषणा पत्र हूल्मे एवं ने प्रकाशित किया।
4. एजरा पाउंड कवि है।
5. 'प्रतीकवाद' का प्रारम्भ देश में हुआ।
6. वॉदलेयर आन्दोलन का कवि है।

18.4 काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ

स्वच्छंदतावाद, बिंबवाद, प्रतिकवाद, यर्थाथवाद, अतियर्थाथवाद, दादावाद, शैलीविज्ञान में ज्यादातर 20 वीं शताब्दी के प्रमुख अकादमिक साहित्यान्दोलन थे, जिसने साहित्यके बुनियादी आधारों को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई आलोच्य काव्यान्दोलनों में कुछ स्वच्छंदतावाद काव्यान्दोलन थे तो कुछ यर्थाथवादी एवं अतियर्थाथवादी। वैसे तो कोई भी विचार अपने आप में पूर्ण नहीं होता, फिर काव्यान्दोलन तो किसी खास परिस्थिति और विचारधारा से प्रभावित होते हैं, ऐसी स्थिति में उनसे यह आशा करना कि वे केवल काव्यगत अवदान ही करेंगे

व्यर्थ है। पूर्व में हमने प्रमुख काव्यान्दोलनों का परिचय प्राप्त किया। यहाँ हम उनके काव्यगत अवदान एवं सीमाओं पर संक्षेप में चर्चा करेंगे।

18.4.1 स्वच्छंदतावाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ

स्वच्छंदतावाद काव्यन्दोलन 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में चला। कालान्तर में यह आन्दोलन न रहकर एक प्रवृत्ति बन गया। 'स्वच्छंदतावाद' का अर्थ रूढ़ियों से मुक्ति किया जाने लगा। आज तो जड़ परम्पराओं से विद्रोह/नकार के अर्थ में 'स्वच्छंदतावाद' शब्द का व्यवहार होता है। पूंजीवाद के बुद्धिवाद - तर्कवाद के बढ़ते आग्रह सक समाज एवं साहित्य में आस्था - विश्वास एवं भाव उपेक्षित से हो रहें थे। ऐसी स्थिति में स्वच्छंदतावाद ने शुष्क पड़ते भाव को केंद्रीय स्थिति में ला दिया। स्वच्छंदतावादी आन्दोलन ने परम्परा के नाम पर आभिजात्यवादी रूढ़ियों से मुक्ति का प्रयास किया, जिसके कारण यह आन्दोलन परम्परावादियों को ग्राह्य नहीं हुआ। यह आन्दोलन परिस्थिति से ज्यादा मनःस्थिति तथा समाज से ज्यादा व्यक्ति पर बल देता है। इस आन्दोलन में प्रबन्ध काव्य लिखने की अपेक्षा गीतिकाव्य पर ज्यादा बल दिया गया। इसकी उपलब्धियों की बात करें तो यह कि इसने विषयवस्तु एवं भाषा को तर्क एवं अतिवृत्तात्मकता की स्थूलता से मुक्त कर वैयक्तिक अनुभूतियों को विकासित का अवसर प्रदान किया। जैसे हिंदी के 'छायावादी' आन्दोलन की बात करें तो इसने भी शास्त्रसम्मत मान्यताओं के विरुद्ध वैयक्तिक धरातल पर विद्रोह किया। इस प्रकार देखा जाये तो स्वच्छंदतावाद में वस्तु की जगह आत्मा, समाज की जगह व्यक्ति, अनुशासन की जगह स्वमंत्रता, बंद घेरे की जगह मुक्ति एवं की जगह हृदय को प्रतिष्ठित किया। भावना की अतिशयता एवं बुद्धिवाद के विरोध ने इस आन्दोलन को एकांगी बना दिया। व्यक्तिवाद पर अत्यधिक आग्रह होने के कारण यह आन्दोलन समाज की मुख्यधारा से कट गया। सांस्कृतिक स्तर पर इसकी बड़ी देन यह रही कि इसने जड़ मान्यताओं पर प्रहार किया।

18.4.2 बिंबवाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ

बिंबवाद का आन्दोलन 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशक में चला था। यह आन्दोलन मूलतः रोमानी कविता के विरोध में चला था। इस आन्दोलन ने सीधी अभिव्यंजना का विरोध किया और कविता में ठोस विलक्षण बिंब को ही पर्याप्त माना। स्वच्छंदतावाद में जहाँ अमूर्तता पर ज्यादा बल था वहीं बिंबवाद में मूर्तता पर। बिंबवाद ने विषय से ज्यादा अभिव्यक्ति पर बल दिया गया। शैली के सौन्दर्य को उन्होंने नवीनता का सौन्दर्य कहा। बिंबवादियों के अनुसार अभिव्यक्ति की युक्ति, शैली या माध्यम, जिससे रचना में सौंदर्य की सृष्टि होती है, वह ज्यादा महत्वपूर्ण है। बिंबवाद का बल कविता में नियत शब्द के प्रयोग पर था। इसीलिए बिंबवाद में शब्दों की कमखर्ची, भाषा के समास गुण एवं कम से कम शब्दों के प्रयोग आने वाली से अधिकाधिक अर्थव्यंजना को महत्व दिया गया। स्पष्ट है कि बिंबवाद ने स्वच्छंदतावादी अमूर्तता के बजाय मूर्तता एवं शब्दों की फिजूलखर्ची के बजाय कमखर्ची पर बल दिया। हाँ स्वच्छंदतावाद की तरह बिंबवाद में भी विषय की अपेक्षा अभिव्यक्ति

को महत्त्व मिला (स्वच्छंदतावाद में विषय से ज्यादा कल्पना महत्वपूर्ण हैं)। बावजूद इसके बिंबवाद का आन्दोलन लम्बा नहीं चला। हांलाकि आन्दोलन के रूप में कोई भी साहित्यिक आन्दोलन बहुत लम्बा नहीं चलता। फिर भी बिंबवादी आन्दोलन ने पूरे विश्व के साहित्यिकारों को प्रभावित किया। पश्चिम के टी.एस. इलियट, मरियम मूर, वैलेस स्टीवेंस, विलियम कार्लोस विलियम्स इससे प्रभावित हुए वहीं छायावादी कविता एवं नयी कविता पर इस आन्दोलन का व्यापक प्रभाव पड़ा। जहाँ तक बिंबवाद की सैद्धान्तिकी का प्रश्न है अभिव्यक्ति, शैली, नवीनता के सौन्दर्य का तो महत्त्व है और इससे किसी को इंकार भी नहीं है लेकिन विषयवस्तु से ज्यादा बिंब पर बल देने का दुष्परिणाम यह हुआ कि कविता नक्काशी बन गई। दूसरी समस्या यह पैदा हुई कि विलक्षण, दुर्लभ बिंबों की खोज कठिन कार्य है। इसे लम्बे समय तक कायम नहीं रखा जा सकता। तीसरी समस्या यह थी कि बिंबवादी लम्बी कविता का निषेध इसलिए करते थे क्योंकि वे कविता में एक ही पूर्ण बिंब को अभिव्यक्त करना चाहते थे। इस प्रकार कविता में मूर्तता से चित्र खड़ा कर देने की शैली, कविता में संवेदन को ज्यादा महत्त्व देने का प्रयास जरूर बिंबवाद की उपलब्धि कही जा सकती है।

18.4.3 प्रतीकवाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ

आधुनिक काव्यान्दोलनों की जन्मभूमि फ्रांस में 'प्रतीकवाद' का आन्दोलन 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (लगभग 1886 ई.) में चला। प्रतीकवाद के मूल में यह सिद्धान्त है कि शब्दों के द्वारा अगम्य की व्यंजना के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें अपने सामान्य अर्थों से मुक्त कर दिया जाए और अपने परिचित प्रसंगों से तब तक अलग रखा जाए जब तक उनका शोधन न हो। 'प्रतीकवादी आन्दोलन मनोदृष्टि के विरुद्ध प्रतिक्रिया रूप में आया। कला, दर्शन के क्षेत्रों में यर्थाथवादी प्रवृत्ति के तथा वैज्ञानिक भौतिकवाद के विरोध में प्रतीकवाद ने साहित्य क्षेत्र में विशेष प्रकार की काव्यभाषा का आग्रह किया है, जिसमें वाच्यार्थ - लक्ष्यार्थ से भिन्न ध्वन्यार्थ पर बल दिया जाता है। प्रतीकवादियों के अनुसार, वस्तु का मूल्य उसके चित्रण में नहीं होता, वस्तु अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं होती। उसका मूल्य उसकी गूढ़ सांकेतिकता में निहित रहता है। वस्तुतः सामान्य शब्दों की असमर्थता के कारण ध्वनियों एवं संकेतों से वर्णन करना प्रतीकवादियों के लिए अनिवार्य हो जाता है। एक ओर जहाँ प्रतीकवाद ने काव्य भाषा को निश्चित अर्थ से मुक्त किया, उसे विशिष्ट अर्थ प्रदान किया वहीं यह समस्या भी खड़ी हो गई कि एक-से-अधिक अनिश्चित अर्थ की ओर इंगित करने के कारण कवि के नियत, अभिप्राय को नियत करने में बाधा होने लगी। मलर्मि ने लिखा है मैं विस्मित होने वाले पाठको के लिए लिखता हूँ। प्रतीकवादियों के अनुसार सुस्पष्टता सुन्दर नहीं है, अस्पष्टता ही सौन्दर्य है। ऐसी स्थिति में प्रतीकवादियों के लिए किसी कला-सिद्धान्त का पालन करना असम्भव है।

18.4.4 यथार्थवाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ

'यथार्थवाद' आधुनिक साहित्य सिद्धान्त की सर्वाधिक प्रभावी वैचारिकी हैं। आज तो यथार्थवादी होना साहित्य की मुख्य विशेषता माना गया है। बावजूद एक आन्दोलन के रूप में 'यथार्थवाद' नामक आन्दोलन उस रूप में नहीं चला, जिस तरह बिंबवाद प्रतीकवाद या स्वच्छंदतावाद का आन्दोलन। यथार्थवाद वैज्ञानिक आविष्कारों एवं आधुनिकतावादी विचारों के पश्चात् एक दृष्टि थी, जो साहित्य समाज को वस्तुपरक ढंग से देखने का आग्रह करती है। जो जिस रूप में है उसे उसी रूप में चित्रण करना यथार्थवाद की केंद्रीय विशेषता है। इस दृष्टिकोण का यह लाभ हुआ कि साहित्य समाज के और करीब आया और वह जन - सामान्य की समस्याओं से जुड़ा। इस संदर्भ में परेशानी यह है कि साहित्य के गठन में कई तत्व ऐसे हैं जो यांत्रिक तरीके से हल नहीं किये जा सकते। यथार्थवादी सिद्धान्त को मार्क्सवादी विचाराधारा से ज्यादा बल मिला। साहित्य के प्रारम्भिक समय से ही रचनाकार अपनी रचना को विश्वसनीय बनाने के लिए यथार्थवादी तत्वों का प्रयोग करता रहा है, लेकिन एक व्यापक जीवन दर्शन के रूप में यह आधुनिक काल में सिद्धान्त का आधार ग्रहण करता है। लुकाच जहाँ इसे समय तक पहुँचने का मार्ग कहता है वहीं एंगेल्स प्रतिनिधि परिस्थिति तथा चरित्रों पर बल देना यथार्थवाद की विशेषता मानता है। हिंदी में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हो या कविता में 'प्रगतिवाद' यथार्थवादी जीवन दृष्टि जहाँ यथार्थवाद काव्य या साहित्य के लिए अनिवार्य है या अतिमहत्वपूर्ण है, वहीं 'यथार्थवाद' की स्पष्ट सीमाएँ भी हैं। यथार्थवादी आन्दोलन में सामाजिकता का अत्यधिक आग्रह है, जो 'व्यक्ति की सृजनात्मकता' को काफी हद तक उपेक्षित कर देता है। यथार्थवादी चिंतन ने कल्पना पक्ष, भावना पक्ष और शिल्प, भाषा पक्ष के साथ न्याय नहीं किया है।

18.4.5 अतियथार्थवाद: काव्यगत अवदान एवं सीमाएँ

अतियथार्थवादी आंदोलन का संबंध सामाजिक यथार्थ की बजाय अवचेतन मन के यथार्थ से है। कह सकते हैं कि इस आंदोलन पर फ्रायड का प्रभाव है। अतियथार्थवादियों ने इसे यथार्थवाद की अगली मंजिल माना है। 'यथार्थवाद' में सामाजिक सत्य के चित्रण में व्यक्ति सत्य की बहुत उपेक्षा हुई, इस दृष्टि से अतियथार्थवादी आन्दोलन ने एक बड़े अभाव की पूर्ति की। व्यक्ति सत्य को सामने लाने में अवचेतन मन की तलाश 'स्वप्न' से ही संभव है। इस आन्दोलन में मन की दमित वासनाओं को उजागर करने वाले साधनों पर बल दिया गया। ऐसी स्थिति में स्वप्न, पागलपन, संमोहन आदि से इस आंदोलन ने प्रभाव ग्रहण किया। अन्तर्मन की विकृति (उन्मादग्रस्तता) को व्यक्त करने के लिए दो विरोधी वस्तुओं को आस-पास रखना इसकी एक टेकनीक है। साहित्य में व्यक्ति मन की गूढ़ वासनाओं को व्यक्त करने की दृष्टि से जहाँ इस आन्दोलन ने अपना योगदान दिया, वहीं इसकी सीमा भी बन गया।

18.4.6 दादावाद: अवदान एवं सीमाएँ

दादावादी आन्दोलन मुख्यतः चित्राकला का आन्दोलन है। जिसने कला क्षेत्र को बड़े पैमाने पर प्रभावित किया। इस आन्दोलन ने कला क्षेत्र के सौन्दर्यवादी प्रतिमानों पर चोट की। इसकी मुख्य शैली कोलाज है। वस्तुतः इसे विद्रोह का आन्दोलन कहा जाता है। चूँकि इस आन्दोलन ने स्वतंत्रता, सृजन को प्रचलित रूप में अस्वीकार करते हुए मनमानेपन को ही सृजन माना। इस आन्दोलन का कोशगत अर्थ कुछ नहीं है। जारा इसे अनिश्चित अर्थ का आन्दोलन कहता है। जो वस्तुएँ, विचार मनुष्य को अवरोध पैदा करती हैं, उसे इस आन्दोलन ने मुक्त किया। दादावादी आन्दोलन को इस अर्थ में महत्वपूर्ण कहा जा सकता है कि इसने आधुनिक सौन्दर्यवादी मूल्यों को अस्वीकार करने उसे जड़ बनाने से रोका।

18.4.7 शैलीविज्ञान अवदान एवं सीमाएँ

शैलीविज्ञान आधुनिक आलोचना शास्त्र का प्रमुख दर्शन है। डॉ बच्चन सिंह ने लिखा है - "सामान्यतः शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान की वह शाखा है जिसके माध्यम से साहित्य की रचनात्मक कृतियों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन होता है।..... शैली' का सामान्य अर्थ है साहित्यिक अभिव्यंजना की प्रविधि। शैली विज्ञान साहित्य के अन्दर प्रवेश करने का मार्ग है। यह हमें कुछ आलोचना सूत्र देता है, जो हमारे साहित्यिक मूल्य निर्मित करने में हमारी मदद करते हैं। लेकिन इसकी तकनीकी जटिलता ऐसी है कि कई बार रास्ता निकलने के बजाय पाठक मार्ग ही भूल जाता है। डॉ बच्चन सिंह ने शैलीविज्ञान की कुछ कमियों की ओर इशारा किया है - " अपनी सीमित प्रविधियों, कमजोर औजारों के कारण इनमें कई त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं यह अपने मूलरूप में बीजगणित हैं; साहित्य का सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष इससे अस्पृश्य है, मूल्यांकन से इसका कोई संबंध नहीं है, कथा-साहित्य के लिए इसके सिद्धान्त छोटे पड़े जाते हैं व्याकरणिक भूमिका पर खड़ा शैलीविज्ञान काव्य के रूप और सौन्दर्य - पक्ष को अछूत मानता है।..... मूल्यांकन आलोचना का अनिवार्य अंग है। लेकिन इस विज्ञान में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। कथालोचन के लिए यह सर्वाधिक अनुपयुक्त है। कथा वस्तु चरित्र, आदि की विवेचना के लिए इसके पास कोई औजार नहीं है। रचनागत अंतर-दृष्टि से भी कुछ लेना देना नहीं है।

बोध प्रश्न 2

(क) निम्नलिखित शब्दों पर 10 पंक्तियों में टिप्पणी लिखिए।

1. स्वच्छंदतावाद

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. शैलीविज्ञान की सीमाएँ

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3. बिंबवाद

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ख. नीचे कुछ कथन दिये गए हैं, जिनमे कुछ सही हैं और कुछ गलत कथन के सामने उचित चिह्न (×) लगाइए।

1. शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान से संबंधित है। ()
2. 'दादावाद' चित्रकला से संबंधित रहा है। ()
3. 'यथार्थवादी' आन्दोलन पर मार्क्सवाद का प्रभाव रहा है। ()

4. 'अतिथार्थवाद' का सम्बन्ध अवचेतन मन से रहा है। ()
5. स्वच्छंदतावाद में रूढ़ियों से मुक्ति का प्रयास है। ()

18.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् पा जान चुके हैं कि स्वच्छंदतावाद, बिम्बवाद, प्रतीकवाद, यथार्थवाद, अतिथार्थवाद, दादावाद एवं शैलीविज्ञान जैसे आन्दोलन आधुनिक कला जगत के महत्वपूर्ण आन्दोलन रहे हैं। स्वच्छंदतावादी आन्दोलन पूँजीवादी विकासकाल की देन है। यह आन्दोलन आभिजातवादी मूल्यों के प्रति विद्रोह करता है।

आप ने जाना कि स्वच्छंदतावाद ने पूँजीवादी वृद्धि एवं तर्क के स्थान पर कल्पना, भावना, एवं हृदय को प्रतिष्ठित किया। बिंबवाद का आन्दोलन बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का आन्दोलन था। यह आन्दोलन चित्रकला से प्रभावित था। कविता का काम वर्णन करना नहीं है बल्कि चित्र खड़ा करना है। प्राचीन कविता में जो स्थान अलंकार का था वहीं स्थान आधुनिक कविता में बिंब का है। प्रतीकवादी आन्दोलन का प्रारम्भ फ्रांस में हुआ। प्रतीकवादी आन्दोलन ने शब्दों को उनके सामान्य अर्थों से मुक्त कर विशिष्ट अर्थ प्रदान किया।

साथ ही आप ने यह भी जाना कि 'यथार्थवाद' कोई एक आन्दोलन न होकर देखने की एक दृष्टि है। समाज को यथातथ्य रूप में प्रस्तुत करना यथार्थवादी चिंतन का आधार मत है। वस्तुतः 'यथार्थवादी' दृष्टि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से युक्त वस्तुनिष्ठ दृष्टि है। 'यथार्थवाद' ने सामाजिकता पर बहुत बल दिया। इसमें व्यक्ति - भावना - कल्पना का उतना विस्तार नहीं है जितना स्वच्छंदतावादी आन्दोलन में। अतिथार्थवादी आन्दोलन सामाजिक यथार्थ से आगे अवचेतन मन के सत्य को लेकर चलने वाला आन्दोलन था। इसने व्यक्ति सत्य, स्वप्न, पागलपन, उन्माद इत्यादि को औजार की तरह प्रयोग किया। 'दादावादी' आन्दोलन अराजकतावादी आन्दोलन था। इसने परम्परागत सौन्दर्यवादी मूल्यों पर प्रहार किया। नकार, मनमानापन इत्यादि इस आन्दोलन के मूल में हैं। शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान की एक शाखा के रूप में विकसित हुआ। शैलीविज्ञान साहित्यिक रचना की छानबीन करने का एक माध्यम है, जो कई बार माध्यम में ही उलझ कर रह जाता है।

18.6 शब्दावली

अनुकरण सिद्धान्त - अरस्तु द्वारा प्रवर्तित साहित्य सिद्धान्त

विरेचन सिद्धान्त - अरस्तु द्वारा प्रवर्तित साहित्य सिद्धान्त, जिसमें काव्य के द्वारा भावों को परिष्कृत करने पर बल दिया गया है।

स्वच्छंदतावाद - रूढ़ियों से मुक्ति का आन्दोलन

रीति सिद्धान्त - आचार्य वामन द्वारा प्रवर्तित साहित्य सिद्धान्त, वामन ने विशिष्ट रचना पद्धति को रीति कहा है।

18.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1 क

(1) - ✓

(2) - ✓

(3) - ✓

(4) - ×

(5) - ✓

ख

(1) - फ्रांस

(2) - छायावाद

(3) - फिलंट

(4) - बिंबवादी

(5) - फ्रांस

(6) - प्रतीकवाद

बोध प्रश्न 2 ख

(1) - ✓

(2) - ✓

(3) - ✓

(4) - ✓

(5) - ✓

18.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. पाश्चात्य साहित्य चिंतन - निर्मना जैन/कुसुम बॉठिया, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
2. काव्य चिंतन की पश्चिमी परम्परा - निर्मना जैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
3. पाश्चात्य काव्यशास्त्र - तारकनाथ बाली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
4. आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द - बच्चन सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

18.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. शैलीविज्ञान - सुरेश कुमार
2. शैलीविज्ञान - नगेन्द्र
3. 'द हिस्ट्री ऑफ सुरंरियनिलज्म - मारिस नादो
4. सौन्दर्यशास्त्र के तत्व - कुमार विमल

18.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वच्छंदतावाद ' की प्रवृत्तियों को स्पष्ट कीजिए।
2. 'यर्थाथवाद' की मूलभूत विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए अतियर्थाथवाद से उसका वैषम्य स्पष्ट कीजिए।

इकाई 19 हिन्दी आलोचना : आचार्य रामचंद्र शुक्ल और

उनका युग

- 19.1 प्रस्तावना
- 19.2 उद्देश्य
- 19.3 रामचंद्र शुक्ल: कृतित्व और व्यक्तित्व
- 19.4 रामचंद्र शुक्ल की आलोचना
- 19.5 शुक्ल-युग के अन्य आलोचक
- 19.6 हिन्दी आलोचना में शुक्ल-युग का योगदान
- 19.7 सारांश
- 19.8 शब्दावली
- 19.9 सहायक पाठ्य सामग्री
- 19.10 निबंधात्मक प्रश्न

19.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई हिन्दी स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अन्तर्गत सम्मिलित है - इस इकाई के अध्ययन के पूर्व आपने प्राचीन भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के विभिन्न आयामों का समझा प्रस्तुत इकाई में आप हिन्दी साहित्य के आधुनिकयुगीन सर्वाधिक चर्चित एवं महत्वपूर्ण साहित्यशास्त्री एवं साहित्येतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित होंगे। साथ शुक्ल युग के अन्य महत्वपूर्ण आलोचकों की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप हिन्दी एवं अन्ततः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में आचार्य शुक्ल एवं उनकी ऐतिहासिक आलोचनात्मक समीक्षा- दृष्टि की विशेषताओं को समझ सकेंगे।

19.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कृतित्व और व्यक्तित्व से परिचित होंगे।
- आचार्य शुक्ल जी आलोचना के सिद्धान्तों से परिचित होंगे।
- शुक्ल-युग की हिंदी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।
- शुक्ल-युग के आलोचकों से परिचित होंगे।
- सम्मुख हिंदी आलोचना के क्षेत्र में रामचंद्र शुक्ल के योगदान को जान सकेंगे।

19.3 रामचंद्र शुक्ल: व्यक्तित्व और कृतित्व

रामचंद्र शुक्ल का जन्म 1884 ई. में हुआ। उनका जन्मस्थान उ.प्र. के बस्ती ज़िले का अगोना गाँव है। 1892 से वे अपने पिता के साथ उ.प्र. के ही मिर्जापुर में रहे, जो वहाँ सदर कानूनगो के पद पर नियुक्त थे। नौ साल की उम्र में शुक्ल जी का माता का स्वर्गवास हो गया। विमाता का आगमन हुआ और फलतः उनका बचपन काफ़ी दुःख और अपमान में बीता। शायद जीवन के इस दुःखमय पक्ष के कारण ही शुक्ल जी के व्यक्तित्व में एक अतिरिक्त गम्भीरता शामिल हो गई जो जीवनपर्यन्त रही। वे पढ़ना चाहते थे किंतु जीवनस्थितियाँ प्रतिकूल थीं। उन्होंने अपनी लगन से एट्रेंस और एफ.ए. की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। मिर्जापुर के पं. केदारनाथ पाठक और बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' के सम्पर्क में शुक्ल जी की साहित्य-रुचि को और बल मिला। यहीं पर उन्होंने हिंदी, उर्दू, संस्कृत और अंग्रेज़ी के साहित्य का गहन-गम्भीर अध्ययन किया, जो आगे उनके लेखन को एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने में सहायक हुआ। उनके पिता पं. चंद्रबली शुक्ल की इच्छा थी कि वे

कचहरी में जाकर काम सीखें लेकिन शुक्ल जी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। उनके पिता नहीं जानते थे कि वे जिसे कचहरी का मामूली बाबू बनाना चाहते हैं, वह बच्चा एक दिन साहित्य की कचहरी का मुख्य न्यायाधीश बनेगा। कचहरी के नुकते सें ही पिता ने उन्हें वकालत पढ़ने इलाहाबाद भेजा पर उनका मन और कर्म वकालत न न होकर साहित्य में अवस्थित होना था, वे वकालत के इम्तिहान में असफल रहे। उनके पिता ने प्रयास किया कि उन्हें नायब तहसीलदारी हासिल हो पर अंग्रेज़ सरकार से भीख में मिला पद शुक्ल जी को स्वीकार्य नहीं था। वे मिर्ज़ापुर के ही मिशन स्कूल में चित्रकला के अध्यापक हो गए। इसी दौरान उनके लेख हिंदी के पत्र और पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे और उनकी साहित्यिक दृष्टि का यश फैलने लगा। 1909-10 में उनकी योग्यता से प्रभावित होकर बनारस की नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें हिंदी शब्द सागर के सम्पादन में वैतनिक सहायक का कार्य दिया। वे नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक भी बने। अंत में शुक्ल जी काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राध्यापन करने लगे। कुछ समय के लिए वे अलवर राज्य की नौकरी में गए लेकिन रुचि का कार्य न होने के कारण पुनः काशी हिंदू विश्वविद्यालय लौट आए। बाबू श्यामसुंदर दास की मृत्यु के बाद 1937 में उन्हें विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इसी पद पर रहते हुए 1941 में श्वास के दौर के कारण हृदयगति रुक जाने से शुक्ल जी का देहान्त हो गया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना को उनके परवर्ती आलोचक डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी हिंदी में 'विशुद्ध आलोचना का प्रारम्भ' मानते हैं। हालाँकि रामचंद्र शुक्ल ने 'गोस्वामी तुलसीदास' के अलावा अपने समय में कोई पृथक आलोचना-पुस्तक नहीं छपाई, लेकिन उनका आलोचनाकर्म दरअसल उनकी दूसरी सभी पुस्तकों और निबंधों में मौजूद है। उदाहरण के लिए सूर पर 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका या फिर जायसी पर 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका। वस्तुतः 'गोस्वामी तुलसीदास' भी तुलसी ग्रंथावली की भूमिका ही है। भ्रमरगीतसार की भूमिका भी 'महाकवि सूरदास' नामक पुस्तक के रूप में अलग से उपलब्ध है। आज उपलब्ध रस-मीमांसा जैसी पुस्तकें वास्तव में लंबे आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह ही हैं। शुक्ल जी ने हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा, जिसमें उनकी आलोचना बीजरूप में स्पष्ट दिखाई देती है। ध्यान देने की बात है कि यह 'इतिहास' भी अलग से नहीं, बल्कि 'हिंदी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया और बाद में अपने ऐतिहासिक-सैद्धान्तिक महत्व के कारण पुस्तक रूप में छपा। फिर चिंतामणि 1-2 में संकलित उनके अद्भुत निबंध, जहाँ उनके आलोचक का विराट युगान्तरकारी व्यक्तित्व प्राप्त होता है। बहुत बाद में चिंतामणि -3 नामवर सिंह के सम्पादन में प्रकाशित हुआ।

आचार्य शुक्ल संयोगवश नहीं, बल्कि पूरी सैद्धान्तिक-वैचारिक तैयारी के साथ हिंदी आलोचना के क्षेत्र में आए थे। उन्होंने भारतीय वाङ्मय का अकूत ज्ञान तो अर्जित किया ही था लेकिन पश्चिमी साहित्य-सिद्धान्तों से उनका जैसा अंतरंग परिचय था, वैसा उनसे पहले किसी आलोचक का नहीं रहा। शुक्ल जी का समय स्वतंत्रता संग्राम के तीव्रतर होते जाने और फलतः अंग्रेज़ी के घोर विरोध का समय था। शुक्ल जी जानते थे कि इस विरोध का रुख अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद

और शोषकशक्तियों की ओर होना चाहिए, न कि भाषा और उसकी साहित्यिक सम्पदा की ओर। शुक्ल जी हिंदी के पहले आलोचक-विद्वान हैं, जो तब तक उपलब्ध अंग्रेजी के सैद्धान्तिक साहित्य से लगातार परिचित होते रहे और उसका अनुवाद भी हिंदी के पाठकों को उपलब्ध कराते रहे। उदाहरण के लिए एडिसन के विख्यात निबन्ध 'एसे आन इमेजिनेशन' का अनुवाद उन्होंने 'कल्पना का आनन्द' शीर्षक से किया। वे जर्मन विद्वान मानवशास्त्री हैकल की पुस्तक 'रिडिल ऑफ दि यूनीवर्स' से बहुत प्रभावित थे, जिससे उन्होंने ज्ञान-विज्ञान की सीमारेखा पर खड़े रहकर जीवन और उसकी महिमा को व्यक्त करनेवाले साहित्य को देखने की अपनी निजी बौद्धिकदृष्टि अर्जित की। इस पुस्तक का अनुवाद भी उन्होंने हिंदी के लेखकों और पाठकों के लिए किया, जो बनारस की नागरी प्रचारिणी सभा से 'विश्वप्रपंच' नाम से छपा। इस पुस्तक का उन्होंने महज अनुवाद ही नहीं किया, बल्कि 155 पृष्ठों की विशाल भूमिका भी लिखी, जिसमें उस पुस्तक के महत्व के विश्लेषण के साथ-साथ शुक्ल जी की उस पुस्तक के प्रति सहमति और असहमतियाँ भी दर्ज हैं। इसे मात्र संयोग नहीं समझा जाना चाहिए कि भक्तिकालीन काव्य के समर्थक शुक्ल जी की यह प्रिय अनात्मवादी पुस्तक, उस समय के विख्यात साम्यवादी जननायक लेनिन को भी उतनी ही प्रिय थी।

रामचंद्र शुक्ल के कृतित्व की एक खास बात यह भी है कि वे हिंदी साथ-साथ अंग्रेजी में भी लिखते रहे। उस समय के अंग्रेजी भारतीय पत्रों के लिए उन्होंने राजनीतिक युगबोध से सम्बन्धित लेख लिखे, जो प्रकारान्तर से उनकी आलोचकीय दृष्टि की पहचान कराते हैं। उदाहरण के लिए 'हिंदुस्तान रिव्यू' में 'व्हाट हैज इंडिया टु डू' और 'लीडर' में 'हिंदी एंड मुसलमान्स' शीर्षक से छपे उनके लेख। कोई भी प्रबुद्ध आलोचक जानता है कि साहित्य का स्रोत समकालीन सामाजिक-राजनीतिक जनजीवन में अवस्थित होता है, जिसे भली-भाँति जाने और उस पर अपनी राय क्रायम किए बिना साहित्य की आलोचना सम्भव नहीं। शुक्ल जी ने इस जनजीवन को जानने के जटिल किंतु सफल प्रयास किए, न सिर्फ समकालीन जीवन को, बल्कि पिछले हजार वर्ष के भारत को जानने के।

आलोचनात्मक ग्रंथः

सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास, जायती ग्रंथावली काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद, रस-मीमांसा आदि।

निबन्धात्मक ग्रंथः

उनके निबन्ध चिंतामणि के दो भागों में संग्रहीत हैं। उनके बाक़ी निबन्धों का संग्रह भी चिंतामणि के तीसरे भाग के रूप में शुक्ल जी की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ, जिसका सम्पादन प्रखर मार्क्सवादी आलोचक नामवर सिंह ने किया।

हिंदी साहित्य का इतिहास।

शुक्ल जी ने कई पुस्तकों के अनुवाद किए, जिनमें शशांक और विश्वप्रपंच, बुद्ध चरित आदर्श जीवन, मेगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन, राज्य प्रबंध शिक्षा कल्पना का आनन्द आदि प्रमुख हैं। संपादित ग्रंथों में हिंदी शब्द सागर, भ्रमरगीत सार, सूर-तुलसी-जायसी ग्रंथावलियाँ उल्लेखनीय हैं।

19.4 रामचंद्र शुक्ल की आलोचना

महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके युग की आलोचना मुख्यतः साहित्येतिहास और भाषा केंद्रित रही। उसमें अपने और बीते समय के समाज और उसके मन को समझने की कोशिश न के बराबर थी। वह साहित्य एवं भाषा के नियम और सिद्धान्तों के निर्माण को ही अपना दायित्व समझ बैठी थी। आचार्य शुक्ल ने इस धारणा को तोड़ा। यह द्विवेदी-युग पर आक्षेप नहीं है बल्कि आलोचना के महत्वपूर्ण आरम्भिक पक्ष का निरूपण भर है। रामचंद्र शुक्ल, जैसा कि पहले भी कहा गया, पूरी वैचारिक तैयारी के साथ आलोचना के क्षेत्र में आए थे। उनकी यह तैयारी ऐसी थी कि उनका लिखा हिंदी साहित्य का इतिहास भी कुछ पक्षों में किंचित विवादित होने के बावजूद आलोचना-ग्रंथ मान लिया जाता है। वे दर्शन, इतिहास, सिद्धान्त, विज्ञान, समाज और राजनीति के अपने समय के ज्ञान से पूरी तरह अवगत थे और इनमें से हर पक्ष पर अपनी निजी राय भी रखते थे, जो उनके आलोचकीय व्यक्तित्व को विराट बनाता है। उन्होंने जितने भी निबन्ध लिखे, वे आज की परिभाषा में शुद्ध आलोचना हैं। मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों की विषयवस्तु भी दरअसल साहित्य की उलझनों को सुलझाने का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

आचार्य शुक्ल के आलोचना सिद्धान्तों को बिंदुवार दिया जाए, तो वे कुछ इस प्रकार होंगे -

1. साहित्य-रचना में लोकमंगल-तत्व का होना एक अनिवार्य शर्त है। शुक्ल जी का दिया 'लोकमंगल' का यह पद तुलसी की रामचरित मानस से प्रेरित है पर इसका दायरा आधुनिक सन्दर्भों में जनवाद तक पहचाना जा सकता है।
2. शुक्ल जी के अनुसार कविता भावयोग की साधना है। इस साधना से मनुष्य का हृदय स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठकर लोक-सामान्य भावभूमि पर पहुँच जाता है। इस तरह रामचंद्र शुक्ल साहित्य को विशिष्टता के घेरे से निकालकर सामान्य जन के संसार में पहुँचा देते हैं।
3. आचार्य शुक्ल के अनुसार लोक-सामान्य भावभूमि पर पहुँचना काव्य का उद्देश्य है। अर्थात् आम जनों से भरे अपने बाहर के विराट संसार और समाज को न सिर्फ जानना बल्कि अपनी अभिव्यक्ति में उस तक पहुँचना कविता लक्ष्य होना चाहिए और ऐसी कविता लोकमंगलवादी होगी।
4. शुक्ल जी ने अपने आलोचना-सिद्धान्त साहित्यिक रचनाओं के आधार पर स्थापित किए हैं इसलिए उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना में परस्पर संगति स्पष्ट

दिखाई देती है। यह आलोचना की मूल समस्या है कि आलोचक सैद्धान्तिक रूप से कुछ और मानता और कहता है किंतु किसी कृति पर व्यावहारिक समीक्षा करते हुए अपने ही सिद्धान्तों के विरोधी पक्षों पर सहमति व्यक्त करने लगता है। शुक्ल जी की आलोचना इस समस्या से मुक्त है क्योंकि सिद्धान्तों के प्रतिपादन में वे साहित्यिक कृतियों से कई-कई उदाहरण देते चलते हैं। उनका लोकमंगल के महत्व का सिद्धान्त भी मूल रूप से भक्तिकाव्य और प्रिय कवि तुलसी की व्याख्या करने उपक्रम में ही विकसित हुआ है। अर्थात् शुक्ल जी की आलोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष एक-दूसरे से बँधे-जुड़े हुए हैं, जो उन्हें और भी विश्वसनीय बनाते हैं।

5. आचार्य शुक्ल ने हर उस तरह के साहित्य, जो आम जन की अभिव्यक्ति नहीं करता, को सामन्ती साहित्य माना और उसका विरोध किया। इसका प्रमाण रीतिकाव्य सम्बन्धी उनकी स्थापनाओं में स्पष्ट रूप से मिलता है। वे देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परम्परा और विरासत को पहचानने तथा स्थापित करने में विश्वास रखते थे।
6. भक्तिकाल की कविता और उसमें भी तुलसीदास की कविता से प्रेरणा प्राप्त करने वाले शुक्ल जी के विषय में यह भ्रम आम है कि धार्मिकता के समर्थक आलोचक थे लेकिन रस-मीमांसा में उन्होंने स्पष्ट किया है कि अध्यात्म शब्द की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई ज़रूरत नहीं है। जीवन-व्यवहार में आस्तिक और धर्मनिष्ठ शुक्ल जी के आलोचकीय सिद्धान्तों में यह सिद्धान्त सबसे क्रांतिकारी है।
7. आचार्य शुक्ल के अनुसार साहित्यकर्म, जिसमें आलोचना शामिल है, को रूढ़िवादी धार्मिकता, पारलौकिकता, रहस्यवादिता से दूर सामान्य समाज और व्यक्तिमात्र के लिए अभिव्यक्ति करनी चाहिए।
8. रूढ़िवादिता और कर्मकांड से अलग शुक्ल जी भक्ति पर बल दिया और उसमें भी सगुण भक्ति पर क्योंकि उनकी दृष्टि में सगुणमार्गी भक्त के लिए भगवान की ओर जानेवाला रास्ता इसी संसार के बीच से होकर जाता है। शुक्ल जी निर्गुण के पक्ष क्यों नहीं नहीं है, इस बात को उन्होंने सूरदास पर लिखते हुए स्पष्ट किया है - भक्त की अनुभूति वही है जिसे काव्य की लीनता या रस-प्रतीति कहते हैं। प्रक्रिया भी वही स्वाभाविक और सीधी-सादी है। कल्पना या भावना, जिससे विज्ञान का भीतरी साक्षात्कार होता है और भाव या रागात्मिका वृत्ति जिससे आनन्दानुभूति होती है, दोनों मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। बस इन्हीं दो स्वाभाविक वृत्तियों के सहारे भक्ति रस की निष्पत्ति हो जाती है। इसके सीधे-सादे विधान में न इला पिंगला नाड़ियाँ हैं, न सहस्रार चक्र, न ब्रह्मरंध्र, न आसन, न प्राणायाम।
9. शुक्ल जी की स्पष्ट मान्यता है कि साहित्यकार को आधुनिक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि से सम्पन्न होना चाहिए। विज्ञान और तकनीक के अंधानुकरण का समर्थन उन्होंने नहीं किया और उसकी सीमाओं को रेखांकित करते हुए वे मानव के विकास में वैज्ञानिक

विवेचन के महत्व को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि दरअसल वैज्ञानिक जीवनदृष्टि ही साहित्यकार को उस पाखंड और रूढ़िवादिता से दूर करती है, जिसके कारण वह लोक और लोकमंगल की अभिव्यक्ति से विरत हो सामान्य भावभूमि को हेय समझने लगता है।

10. शुक्ल जी ख्याति रससिद्धान्त के उद्भावक आचार्य के रूप में भी रही है। ध्यान देने का विषय है कि आचार्य शुक्ल ने रस की व्याख्या का कार्य साधारणीकरण के माध्यम से सामाजिक सन्दर्भों में किया है और उसे आस्वाद से बढ़ाकर मूल्य से जोड़ दिया है। हिंदी-संस्कृत के दूसरे रसशास्त्री यह काम नहीं कर पाए, जिसे अत्यन्त सहजता से शुक्ल जी ने किया।
11. आचार्य शुक्ल ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना की एक सर्वथा नई सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पद्धति विकसित की, जो तब तक हिंदी आलोचना में नहीं थी। बाद में मनोविज्ञान और समाज को जोड़ कर हिंदी में एक नया पद आया 'मनोसमाज', जो छायावाद से लेकर नई कविता और आज तक व्यवहार में लाया जाता है। इसका बीजरूप और मूल सिद्धान्त शुक्ल जी की आलोचना में ही है।
12. सरल शब्दों में कहें तो शुक्ल जी की आलोचना साहित्य को जीवन में और जीवन को साहित्य में प्रतिष्ठित करने वाली आलोचना है।
13. आचार्य शुक्ल ने साहित्य-रचना में भाव को बहुत महत्व दिया है और रस-मीमांसा में भाव के स्वरूप को कई स्थानों पर स्पष्ट किया है। इस क्षेत्र में उनका बीज सिद्धान्त है कि भाव की प्रतिष्ठा से प्राणियों के कर्मक्षेत्र का विस्तार बढ़ गया है। ये भाव जिस मन में उत्पन्न होते हैं वह अध्यात्म की विषयवस्तु न होकर दृश्यमान जगत का प्रतिरूप भर है। भाव की साधना को शुक्ल जी कर्म और ज्ञानयोग की साधना के समकक्ष माना है और बार-बार कहने की ज़रूरत नहीं कि यह भाव लोक-सामान्य का भाव ही है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि मुक्तहृदय मनुष्य अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किए रहता है और यही मुक्तहृदय मनुष्य ही सच्चा कवि या साहित्यकार हो सकता है।
14. कविता के कलापक्ष या रूपविधान के लिए शुक्ल जी की स्पष्ट स्थापना है कि जगत ही काव्य का मूल कारण है। जगत अपार अगाध रूप समुद्र है और इसी की रूप तंरगों से मनुष्य की कल्पना का निर्माण और उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है, जो कविता में दिखाई देते हैं।
15. शुक्ल जी के अनुसार रूप-विधान तीन प्रकार के होते हैं -

1. प्रत्यक्ष रूप-विधान
2. स्मृत रूप-विधान

3. संभावित या कल्पित रूप-विधान

प्रत्यक्ष रूप-विधान से मन में प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का प्रतिबिम्ब खड़ा होता है। जब अतीत में प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं के रूप-व्यापार का स्मरण करके हम रस-निमग्न हो उठते हैं, उस समय हमारे मन में स्मृत रूप-विधान होता है। लेकिन कवि एक और प्रकार का रूप-विधान करते हैं। इसमें वे देखे हुए या जाने हुए पदार्थों के आधार पर नवीन वस्तु-योजना प्रस्तुत करते हैं, इसी को संभावित या कल्पित रूप-विधान कहते हैं। रस की प्राप्ति तीनों से होती है पर कवि का विधान मुख्यतः तीसरा है। शुक्ल जी रस-मीमांसा में लिखा है - संभावित या कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति तो सर्वत्र काव्यानुभूति या रसानुभूति मानी जाती है। यहाँ स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि शुक्ल जी कल्पना को यथार्थजनित ही मानते हैं, पारलौकिक नहीं। कल्पना का सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तुओं से होता है, शुद्ध कल्पना जैसी कोई वस्तु नहीं होती।

1. हालाँकि शुक्ल जी पाश्चात्य मान्यताओं से परिचित और प्रभावित थे लेकिन योरोप में चल रहे आंदोलनों किंवा वादों-प्रवादों से वे सहमत नहीं थे। वे वादों की इस भीड़ को त्वरित प्रतिक्रिया भर मानते थे और उनके लिए इनका कोई स्थायी मूल्य तथा महत्व नहीं था।
2. शुक्ल जी पर आलोचक के रूप में कुछ आक्षेप भी हैं। उन्होंने कबीर जैसे नितान्त सामाजिक संदर्भों वाले कवि को अनदेखा कर एक ऐतिहासिक भूल की, जिसका परिमार्जन उनके बाद की पीढ़ी में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नामक पुस्तक लिखकर किया। वे आदिकाल के काव्य में भी बौद्ध सिद्धों, जैन श्रावकों और नाथयोगियों के काव्य के साथ न्याय नहीं कर पाए। मनोवैज्ञानिक आलोचन का प्रतिष्ठाता होने के बावजूद आधुनिककाल में छायावाद तथा उसके निराला, पंत और महादेवी जैसे कवि उनके कोपभाजन बने।

19.4 शुक्ल-युग के अन्य आलोचक

श्यामसुंदर दास

श्यामसुंदर दास यो तो शुक्ल जी से पहले हिंदी जगत में आ चुके थे और यथाशक्ति अपनी पूरी प्रतिभा के साथ उसकी सेवा कर रहे थे पर जब बात आलोचना की होती है तो उन्हें शुक्ल-युग का ही आलोचक माना जाता है। श्यामसुंदर दास का आलोचना को सबसे बड़ा योगदान 'साहित्यालोचन' नामक पुस्तक है। यह पुस्तक भारतीय काव्यशास्त्र और पश्चिमी साहित्य सिद्धान्तों को आमने-सामने रखते हुए आलोचना के विविध रूपों से परिचित कराती है। श्यामसुंदर दास की दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक 'काव्य का विवेचन' है, जिसमें काव्य का सर्वांग परीक्षण किया गया है। उनकी अगली पुस्तक 'गद्य काव्य का विवेचन' है, जिसमें उन्होंने उपन्यास और नाटक के भेद-

अभेद, उपन्यास के तत्व, उपन्यासों में जीवन का चित्रण, उपन्यास में सत्यता अथवा यथार्थ, उपन्यास में नीति, कहानी के रूप-रचना सिद्धान्त-उद्देश्य और निबन्धकला पर विस्तार से लिखा है। अपनी तरह की यह पहली पुस्तक है जो गद्य की आलोचना का आरम्भिक किंतु महत्वपूर्ण प्रयास करती है। इसके अलावा व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में भी उन्होंने बहुत कार्य किया। कबीर ग्रंथावली की भूमिका उनकी व्यावहारिक आलोचना अच्छा परिचय मिलता है। इसके अलावा रामचंद्र शुक्ल के हिंदी साहित्य का इतिहास के एक साल बाद प्रकाशित उनकी साहित्येतिहास की पुस्तक 'हिंदी साहित्य' में उन्होंने शुक्ल जी से असहमत होते हुए कुछ नई स्थापनाएँ दी हैं।

पदुमलाल पुन्ना लाल बख्शी

रामदरश मिश्र के शब्दों में श्यामसुंदर दास के साथ बख्शी जी का नाम इस अर्थ में लिया जा सकता है कि इन्होंने भी पाठकों के समक्ष देश और विदेश की विविध साहित्यिक सामग्री प्रस्तुत की। बख्शी जी का कार्य उतना विश्लेषणात्मक नहीं है, जितना परिचयात्मक। बख्शी जी का महत्व केवल इस बात में है कि इन्होंने बड़े उदार भाव से पूरब और पश्चिम के साहित्य का परिचय दिया और यह कार्य तब किया जब हिंदी में इसकी आवश्यकता थी। 'विश्व साहित्य' और 'हिंदी साहित्य विमर्श' बख्शी जी की दो प्रमुख पुस्तकें हैं। 'हिंदी साहित्य का विमर्श' 1922-23 में लिखी गई यानी शुक्ल जी के हिंदी साहित्य का इतिहास से पूर्वी।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

आचार्य शुक्ल की आलोचना ने दो धाराएँ स्थापित कीं - पहली जो उनकी मान्यताओं को जस का तस स्वीकार करती है और उनकी व्याख्याएँ प्रस्तुत करती है। दूसरी वह जिसमें सैद्धान्तिक क्षेत्र में नई स्थानाएँ और व्याख्याएँ की गईं। विश्वनाथप्रसाद मिश्र पहली परम्परा में आते हैं और उनका अपना मौलिक साहित्य सिद्धान्त देखने को नहीं मिलता। वाङ्मय विमर्श, बिहारी की वाग्बिभूति, भूषण और घन आनन्द उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। पुस्तकों के नाम से ही स्पष्ट है कि रीतिकालीन कविता पर उन्होंने काम किया है।

हिंदी आलोचना में आचार्य शुक्ल का युग हिंदी कविता में छायावाद का युग है, जिसका आचार्य शुक्ल ने विरोध किया क्योंकि वे स्वच्छंदता और रहस्यवाद को लोकमंगल में बाधक मानते थे। लेकिन छायावादी कविता और कवियों का अपना एक मनोसमाज था, जो वास्तविक मानव समाज में लगातार आवाजाही करता रहता था, उनका लोकमंगल की अवधारणा से कोई स्वभावगत विरोध नहीं था, जैसा शुक्ल जी को प्रतीत हुआ था। आचार्य शुक्ल ने इस आवाजाही और तथ्य पर ध्यान नहीं दिया और परिणामस्वरूप बीसवीं सदी के अत्यन्त महत्वपूर्ण महाकवि निराला से उनका वैचारिक संघर्ष लम्बे समय तक तत्कालीन हिंदी समाज में हलचल का सबब बना रहा। छायावाद के समर्थन में निराला, प्रसाद, पंत और महादेवी वर्मा ने पर्याप्त आलोचनात्मक लेखन किया, जिसका

ऐतिहासिक महत्व है। इसके अलावा शुक्ल-युग के प्रमुख आलोचकों में जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, गुलाब राय, लक्ष्मीनारायण सुधांशु कृष्ण शंकर शुक्ल, केसरी नारायण शुक्ल और सत्येन्द्र का नाम आता है।

1. बोध प्रश्न

क . निम्न प्रश्नों के सही विकल्प चुनिए

1. निम्न में कौन शुक्ल-युग का आलोचक नहीं है -

(अ) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

(ब) बालकृष्ण भट्ट

(स) जयशंकर प्रसाद

(द) सत्येन्द्र

2. रामचंद्र शुक्ल का जन्म कब हुआ -

(अ) 1882

(ब) 1892

(स) 1884

(द) 1886

3. निम्न में कौन-सी आचार्य शुक्ल की पुस्तक नहीं है-

(अ) रस-मीमांसा

(ब) साहित्यालोचन

(स) गोस्वामी तुलसीदास

(द) महाकवि सूरदास

4. निम्न से किस पश्चिमी विचारक का प्रभाव आचार्य शुक्ल पर पड़ा-

(अ) नीत्शे

(ब) सात्र

(स) हैकल

(द) मार्क्स

बोध प्रश्न 2 . सत्य/असत्य चुनिए

1. आचार्य शुक्ल के निबन्धों में उनकी आलोचना के सूत्र मिलते हैं -

(अ) सत्य

(ब) असत्य

2. आचार्य शुक्ल काव्य में लोकमंगल की साधना को आवश्यक मानते हैं -

(अ) सत्य

(ब) असत्य

3. आचार्य शुक्ल ने आलोचना में मनोविश्लेषण का सूत्रपात किया-

(अ) सत्य

(ब) असत्य

4. आचार्य शुक्ल ने रससूत्र की व्याख्या की-

(अ) सत्य

(ब) असत्य

19.6 हिंदी आलोचना में शुक्ल-युग का योगदान

रामचंद्र शुक्ल और उनका युग हिंदी आलोचना के विकासक्रम में एक महत्वपूर्ण पड़ाव की तरह है, जहाँ हिंदी साहित्य के इतिहास की सैद्धान्तिक पड़ताल, समीक्षा और आलोचना में नए मूल्यों का आग्रह, वैज्ञानिक जीवनदृष्टि, साहित्य की सामाजिकता, पश्चिमी साहित्यशास्त्र से साक्षात्कार आदि कई पक्ष सामने आते हैं। हिंदी आलोचना का आधुनिक स्वरूप और दिशा यहाँ से निर्धारित होते हैं। इस पूरे युग पर आचार्य शुक्ल के विराट व्यक्तित्व की मौलिक छाप है। उनके साहित्य सिद्धान्तों में से कुछ अपवादों को छोड़कर, अधिकांश आज भी प्रभावी हैं और साहित्य

विमर्श का हिस्सा बनते हैं। इन सभी पर पहले ही लिखा जा चुका है इसलिए यहाँ फिर से उल्लेख आवश्यक नहीं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग में प्रकट हुई आधुनिक हिंदी आलोचना ने अपना निजी और अलग रूप शुक्ल जी की आलोचना में पाया जो सामान्य जन-जीवन, वास्तविक मानव समाज और व्यक्ति के भावों का उत्सव मनाती है। जहाँ कल्पना भी यथार्थ से जुड़ जाती है, जहाँ एक आम आदमी को कविता का आस्वाद पाने का अधिकार है, जहाँ विशिष्टता और सामन्ती जीवनमूल्यों का नकार और मनुष्य के पक्ष में आधुनिक वैज्ञानिक भावबोध का गहरा स्वीकार है। आचार्य शुक्ल की आलोचना प्राचीन साहित्य की युगानुकूल व्याख्या करती है, उसमें अपने युग की दृष्टि के अनुरूप सौन्दर्य का संधान करती हुई उसे फिर से अर्थ और सन्दर्भवान बना देती है। इस प्रकार उनकी आलोचना में हमारा महान साहित्य जातीय चिन्तन और भावना अंग बना रहता है। शुक्ल जी कविता के रूप-विधान पर लिखते हुए सम्भावित या कल्पित रूप-विधान के निकट अवश्य बताया है किंतु कल्पना का वास्तविक अर्थ भी स्पष्ट किया है। कल्पित रूप-विधान यथार्थ से कटी हुई नहीं, बल्कि यथार्थ से जुड़ी हुई और उसके मानसिक विस्तार से जुड़ी वस्तु है। यह कल्पना प्रत्यक्ष जगत के दृश्यमान प्रतिबिम्बन से उत्पन्न कल्पना है, कवि के मन जन्मी कोरी और कृत्रिम कल्पना नहीं। कल्पना के नाम पर अतिरेकपूर्ण कलाबाजियों का शुक्ल जी विरोध किया है और रीतिकालीन कवियों- केशव, बिहारी, छायावादी कवियों और पश्चिम के कर्मिंज़ आदि कवियों की आलोचना वे इसी दृष्टि के साथ करते हैं।

3 बोध प्रश्न

ग . निम्न विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए-

- (1) आचार्य रामचंद्र शुक्ल का व्यक्तित्व।
- (2) लोकमंगल की अवधारणा।
- (3) हिंदी आलोचना में रामचंद्र शुक्ल का स्थान।
- (4) आचार्य रामचंद्र शुक्ल के प्रमुख आलोचना सिद्धान्त।
- (2) आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कृतित्व ।

19.7 सारांश

यह इकाई रामचंद्र शुक्ल की आलोचना के स्वरूप को स्पष्ट करती है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालती है। उनकी आलोचना के सिद्धान्तों से परिचय और उनकी पड़ताल करती है। हिंदी आलोचना में शुक्ल जी के महत्व को विद्यार्थी के सामने रखती है, जिससे उसे शुक्ल जी से पहले और उनके बाद की आलोचना का स्वरूप पहचानने में भी सहायता मिलती है। इस इकाई में

आचार्य शुक्ल के आलोचना सिद्धान्तों को विस्तार से बिंदुवार प्रस्तुत किया गया है, जो सरलता से विद्यार्थी में विषय के प्रति रुचि और समझ विकसित करता है। प्रयास किया गया है कि जटिल और बौद्धिक विमर्श होने के बावजूद शुक्ल जी की आलोचना को सरलतम रूप में विद्यार्थी के लिए ग्राह्य बनाया जा सके। शुक्ल जी के युग में और उसके बाद भी उनके समर्थन और असहमति की दो विरोधी धाराएँ हिंदी आलोचना में विद्यमान थीं, इस इकाई में उन दोनों का ही संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया गया है ताकि विद्यार्थी उस सैद्धान्तिक द्वन्द्व को पहचान सके जिससे किसी भी देश की भाषा और साहित्य में आलोचना के मूल स्वरूप का निर्माण होता है। इस इकाई में शुक्ल जी की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्सम्बन्धों पर भी स्पष्ट टिप्पणी है, जिससे आलोचना की विश्वसनीयता को परखने के सूत्र भी विद्यार्थी प्राप्त कर सकता है। पूर्ववर्ती युग से तुलना करते हुए शुक्ल-युग के महत्व को इस इकाई में सैद्धान्तिक आधार पर रेखांकित किया गया है, ताकि विद्यार्थी के आगे यह जटिल विमर्श सरल शब्दों में खुल सके। संक्षेप में यह इकाई आचार्य शुक्ल की आलोचना सभी महत्वपूर्ण पक्षों, उनके युग और अतीत-वर्तमान के समीकरणों को हल करने का उपक्रम करते हुए विद्यार्थी को साहित्य के पाठ से सम्बन्धित बौद्धिक विमर्श के लिए तैयार करती है।

19.8 शब्दावली

श्वास	-	साँस
सैद्धान्तिक	-	सिद्धान्त संबंधी
शोषक	-	शोषण करने वाला, अत्याचारी
प्रतीति	-	विश्वास
मीमांसा	-	समीक्षा, परीक्षा
कृत्रिम	-	बनावटी
उपक्रम	-	प्रयास

19.9 सहायक पाठ्य सामग्री

हिंदी साहित्य का इतिहास - रामचंद्र शुक्ल

गोस्वामी तुलसीदास - रामचंद्र शुक्ल

महाकवि सूरदास - रामचंद्र शुक्ल

जायसी ग्रंथावली - रामचंद्र शुक्ल

चिंतामणि:तीनों भाग- रामचंद्र शुक्ल

रस-मीमांसा- रामचंद्र शुक्ल

हिंदी आलोचना- विश्वनाथ त्रिपाठी

हिंदी साहित्य कोश-भाग दो

रामचंद्र शुक्ल के श्रेष्ठ निबंध - डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र/विनोद तिवारी

हिंदी आलोचना के बीजशब्द - बच्चन सिंह

आचार्य रामचंद्र शुक्ल आलोचना का अर्थ: अर्थ की आलोचना- रामस्वरूप चतुर्वेदी

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास की रचना-प्रक्रिया- समीक्षा ठाकुर

इतिहास और आलोचना- नामवर सिंह

आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना- रामविलास शर्मा

हिंदी आलोचना का विकास- नंदकिशोर नवल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल: आलोचना के नए मानदंड- भवदेव पांडेय

19.10 निबंधात्मक प्रश्न

(1) आचार्य रामचंद्र शुक्ल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय दीजिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'साहित्य में जीवन और जीवन में साहित्य की स्थापना के आलोचक है' इस कथन की समीक्षा कीजिए।

(2) हिंदी आलोचना के विकासक्रम पर प्रकाश डालते हुए रामचंद्र शुक्ल और उनके युग का महत्व स्पष्ट कीजिए।

इकाई 20 शुक्लोत्तर युग एवं हिन्दी आलोचना

- 20.1 प्रस्तावना
- 20.2 उद्देश्य
- 20.3 पूर्वपीठिका: छायावादी कवियों /आलोचकों की आलोचना-दृष्टि
- 20.4 हिंदी आलोचना और शुक्लोत्तर युग
- 20.5 पं. नंददुलारे वाजपेयी
- 20.6 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
- 20.7 डॉ. नगेन्द्र
- 20.8 डॉ. देवराज
- 20.9 सारांश
- 20.10 शब्दावली
- 20.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 20.12 सहायक पाठ्य सामग्री
- 20.13 निबंधात्मक प्रश्न

20.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई स्नातकोत्तर प्रथम वर्ष पाठ्यक्रम के अन्तर्गत सम्मिलित है-

इस इकाई के अध्ययन से पूर्व आपने हिन्दी आलोचना के सर्वाधिक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व के साथ-साथ उनकी महत्वपूर्ण आलोचना दृष्टि का परिचय प्राप्त किया।

प्रस्तुत इकाई में आप जान सकेंगे की शुक्लोत्तर आलोचना शुक्ल जी की समानुवर्ती और विरोधी धाराओं में विकसित हुई है। सैद्धान्तिक समीक्षा में यह विकास साफ़ दिखाई पड़ता है। शुक्ल जी के तुरत बाद हिंदी में प्रगतिशील धारा का भी विकास हुआ, जिस पर तीसरी इकाई के अन्तर्गत विस्तार से विचार किया जाएगा। व्यावहारिक आलोचना के पीछे निश्चित रूप से सिद्धान्त ही प्रभावी होते हैं, जैसा कि शुक्ल जी की आलोचना के बारे में विचार करते हुए हमने जाना। शुक्लोत्तर युग में चार आलोचक विशेषतया सक्रिय रहे हैं - पं. नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र और डॉ. देवराज। इनके अतिरिक्त भी कुछ नाम हैं, चार प्रमुख आलोचकों समेत जिन पर इस इकाई में प्रकाश डाला जाएगा।

20.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई शुक्ल जी के देहावसान के बाद हिंदी आलोचना में महत्व प्राप्त करने आलोचकों और उनकी आलोचना-दृष्टि पर केंद्रित है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- शुक्ल जी के युग में ही उनसे असहमति रखने वाले छायावादी रचनाकारों / आलोचकों की आलोचना दृष्टि से परिचित प्राप्त कर सकेंगे।
- शुक्लोत्तर युग की आलोचना के सैद्धान्तिक रूप का परिचय पा सकेंगे।
- शुक्लोत्तर युग के आलोचक पं. नन्ददुलारे वाजपेयी की आलोचना दृष्टि से अवगत होंगे।
- शुक्लोत्तर युग के आलोचक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि से परिचय प्राप्त करेंगे।
- शुक्लोत्तर युग के अन्य आलोचकों से परिचित होंगे।

20.3 पूर्वपीठिका: छायावादी कवियों/आलोचकों की आलोचना

आचार्य शुक्ल के समकालीन कवियों में प्रसाद, पंत और निराला छायावाद की वृहत्त्रयी के रूप में प्रसिद्ध थे और चौथा नाम महादेवी वर्मा का लिया जाता था। ये कवि शुक्ल जी की छायावादसम्बन्धी स्थापनाओं से सहमत नहीं थे, जिनके अनुसार छायावाद का वैचारिक स्रोत पश्चिमी था और ईसाई संतों का रहस्य अथवा छायाभास बंगाल से होता हुआ हिंदी में पहुँचा था। आचार्य शुक्ल तो छायावाद को वैचारिक आंदोलन न मानकर महज शैली मानते थे। यहाँ इन्हीं तथ्यों के प्रकाश में छायावादयुगीन कवियों/आलोचकों की मान्यताओं पर प्रकाश डाला जाएगा।

जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में कई स्थलों पर शुक्ल जी की धारणाओं खंडन किया है -विज्ञ समालोचक भी हिंदी की आलोचना करते-करते छायावाद, रहस्यवाद आदिवादों की कल्पना करके उन्हें विजातीय, विदेशी तो प्रमाणित करते ही हैं, यहाँ तक कहते हुए लोग सुने जाते हैं कि वर्तमान हिंदी कविता में अचेतनों में, जड़ों में चेतनता का आरोप करना हिंदीवालों ने अंग्रेजी से सीखा....कहीं अंग्रेजी में उन्होंने देखा कि 'गाड दज़ लव' फिर क्या, कहीं भी हिंदी में ईश्वर के प्रेम रूप का वर्णन देखकर उन्हें अंग्रेजी के अनुवाद या अनुकरण की घोषणा करनी पड़ी। स्पष्ट है कि प्रसाद जी का यह कथन स्वयं उनकी कविता और उस पर आचार्य शुक्ल के आक्षेप की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ।

प्रसाद जी के अनुसार 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' है। वे लिखते हैं - आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक अनुभूति कही जा सकती है। आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत रहस्यवाद के विरोध के विषय में प्रसाद जी अपने 'रहस्यवाद' नामक निबन्ध में कहते हैं - भारतीय विचारधारा में रहस्यवाद को स्थान न देने का एक मुख्य कारण है। ऐसे आलोचकों के मन में एक तरह की झल्लाहट है। रहस्यवाद के आनन्द-पथ को उनके कल्पित भारतीयोचित विवेक में सम्मिलित करने से आदर्शवाद का ढाँचा ढीला पड़ जाता है....आनन्द-भावना, प्रिय कल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी। आज की जातिगत निर्वीयता के कारण उसे ग्रहण न कर सकने पर यह सेमेटिक है, कहकर संतोष कर लिया जाता है....वर्तमान हिंदी में अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है...वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें संदेह नहीं।

प्रसाद जी ने 'यथार्थवाद और छायावाद' नामक एक महत्वपूर्ण निबन्ध लिखा, जिसमें स्पष्ट किया गया कि कल्पना और रहस्य के बावजूद छायावाद यथार्थ से कटा हुआ नहीं है। साथ ही प्रसाद

जी ने यथार्थ के आधार पर गद्य साहित्य का आकलन करते हुए उसे ही यथार्थ का मुख्य वाहक माना, जो उनके समकालीन कथाकार प्रेमचंद के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य है।

सुमित्रानन्दन पंत

सुमित्रानन्दन पंत ने प्रसाद और निराला की तरह प्रचुर मात्रा में गद्य लेखन नहीं किया किंतु अपने कविता संग्रहों की भूमिका वे लिखा करते थे, जिनमें अपने समय की आलोचकीय स्थापनाओं और दृष्टि के प्रति उनका विचार-विमर्श जानने को मिलता है। पंत जी ने अपनी इन भूमिकाओं में खड़ी बोली के काव्य का औचित्य सिद्ध किया और मुक्तछंद के समर्थन में अपनी राय भी व्यक्त की। वे कविता में चित्रभाषा के समर्थक थे। उन्होंने अपनी कविता 'परिवर्तन' और निराला की कुछ पंक्तियों का विश्लेषण किया, जिसे प्रसिद्ध आधुनिक आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी व्यावहारिक आलोचना मानते हैं।

निराला

निराला ने अपने समानधर्मा छायावादियों के भावोच्छ्वासीय गद्य से अलग बुद्धिप्रवण और तर्कपूर्ण गद्य लिखा, जिसमें साहित्य की सैद्धान्तिक समस्याओं का विश्लेषण करने का सामर्थ्य था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की ही भाँति वे भी संस्कृत, बांग्ला, अंग्रेज़ी आदि का अच्छा ज्ञान रखते थे और इन सभी भाषाओं के साहित्य को उन्होंने ने मूल में पढ़ा हुआ था। उन्होंने 'रवीन्द्र कविता कानन' नाम से एक पृथक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी और उनके कई निबन्धों में सैद्धान्तिक आलोचना का एक स्पष्ट आकार उभरता है। उनके साहित्यिक निबन्ध सैद्धान्तिक आलोचना का एक प्रखर उदाहरण पाठकों के सामने रखते हैं। उनके वाक्य भी आचार्य शुक्ल की तरह सूक्तिबद्ध होते थे और इस कारण बड़ी सरलता से याद भी रह जाते हैं। उदाहरण के लिए -

गद्य जीवन-संग्राम की भाषा है।

कविता परिवेश की पुकार है।

ये दोनों ही वाक्य सूक्तिमात्र नहीं हैं, बल्कि दो अलग विधाओं पर सैद्धान्तिक विमर्श की शुरुआत भी हैं। इसे संयोगभर न माना जाए कि छायावाद की कसौटी पर दो विपरीत ध्रुवों पर खड़े आचार्य शुक्ल और महाकवि निराला के भक्तिकालीन प्रिय कवि तुलसी ही हैं। तुलसी पर निराला एक लम्बी कविता भी लिखी। आचार्य शुक्ल के साथ हुए विवाद के अतिरिक्त निराला की आलोचना का प्रखरतम रूप उनके आलेख 'पंत और पल्लव' में प्रकट हुआ है। अपने ही समानधर्मा कवि की कविता पर ऐसी पैनी आलोचना सम्भवतः आज तक किसी कवि ने नहीं की होगी। निराला की जीवन और साहित्यदृष्टि आधुनिक और नवीन थी। अपने पारम्परिक परिवेश और संस्कारों के बावजूद उनमें पुरातन अथवा सनातन के लिए कोई हठधर्मिता नहीं थी। उनके भाषाई संस्कारों के

लिए भी यही बात कही जा सकती है और ये दोनों उनके इस कथन से सिद्ध हो जायेंगी - आज आब और हवा हर वक्रत नए हैं, यहाँ तक कि कूपमंडूक को भी कैँुए के अतल सोते से नया ही नया जल मिलता है। हम नवीनता को ही यहाँ सनातन कहेंगे। नवीनता के प्रति ऐसा आग्रह निराला के समय में खुद एक नई और विरल वस्तु है। निराला की आलोचना-दृष्टि के बारे में विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं - छायावादी कवियों के पास ही नहीं उनके अधिकांश समकालीन साहित्यकारों के पास उनकी जैसी मर्मभेदिनी काव्यदृष्टि नहीं थी। उनका गद्य यथार्थवादी था। उन्होंने भाषा, छंद स्थानीयता, सार्वदेशिकता, समसामयिकता आदि के जो प्रश्न उठाए हैं, वे आज भी महत्वपूर्ण हैं। समालोचना के नाम पर उन्होंने काव्य-सिद्धान्तों का प्रतिपादन न करके कविता की व्यावहारिक समीक्षा की है। कविता और कविता की आलोचना, दोनों दृष्टियों से निराला आज छायावादी कवियों में सबसे अधिक सन्दर्भवान है।

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा का आलोचनात्मक लेखन 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' नामक पुस्तक में संकलित है। इस पुस्तक के निबन्धों के विषय काव्यकला, छायावाद, रहस्यवाद, गीतिकाव्य, यथार्थ और आदर्श, सामयिक समस्या आदि हैं। आलोचना की दृष्टि से देखें तो महादेवी जी काव्य का साध्य सत्य को मानती हैं। काव्यसाधना सत्य की साधना है और सौन्दर्य उसका साधन। आचार्य शुक्ल की तरह महादेवी भी साधारण की अभिव्यक्ति को महत्व देती हैं। उनका योगदान साहित्य में स्त्रीविमर्श का आरम्भ करने में भी है। उनकी छायावादी अभिव्यक्ति कहीं न कहीं स्त्रीमन की मुक्ति से जुड़ी हुई वस्तु है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

शान्तिप्रिय द्विवेदी शुक्ल जी के समय में छायावाद के प्रमुख प्रवक्ता बनकर उभरे और उसमें विशेष रूप से पंत जी के काव्य के प्रभाववादी आलोचना से शुरू होकर व्याख्यात्मक आलोचना तक पहुँचने वाले शान्तिप्रिय द्विवेदी जी का आलोचना के क्षेत्र में उतना भी महत्व नहीं है, जितना खुद छायावादी कवियों का। प्रभाववादी आलोचना को आलोचना कहा जाए कि नहीं - यह आज भी विवाद का विषय है। आचार्य शुक्ल भी हिंदी साहित्य का इतिहास में आधुनिक गद्य पर लिखते हुए इस तरह की आलोचना को खारिज करते हैं - प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। स्वयं शान्तिप्रिय द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल पर वस्तुनिष्ठ होने का आरोप लगाते हुए कहा था कि वे वस्तु में निहित भाव तक नहीं पहुँच पाते। आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि से परिचित जन जानते हैं कि भावजगत का आचार्य शुक्ल के आलोचनाकर्म में कितना महत्वपूर्ण स्थान है। ऐसा कहना शायद गलत नहीं होगा कि सैद्धान्तिक आलोचना में गति न रखनेवाले शान्तिप्रिय द्विवेदी जैसे आलोचक में वह सामर्थ्य हो ही नहीं सकता कि वह आचार्य शुक्ल

पर आक्षेप कर उसे प्रमाणित भी कर सके। सैद्धान्तिक भूमि पर विमर्श कर सकने वाली ऐसी बौद्धिक प्रतिभा छायावाद में सिर्फ़ प्रसाद और निराला के पास थी।

20.4 हिंदी आलोचना और शुक्लोत्तर युग

जैसा कि हम देख आए हैं शुक्ल जी के समय की आलोचना में उनका वर्चस्व रहा और उनके समय की हिंदी आलोचना अधिकांशतः उनके समर्थन या विरोध की भावना से ही संचालित रही। शुक्ल जी के समय में सैद्धान्तिक आलोचना करते हुए किसी को भी शुक्ल जी के सिद्धान्तों से रू-ब-रू होना ज़रूरी हो गया था। शुक्ल जी के बाद भी यह क्रम जारी रहा और शुक्लोत्तर युग के आलोचकों ने कई विषयों पर विचार करते हुए शुक्ल जी धारणाओं पर गम्भीर और तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की तो कहीं उनसे सहमति भी। अर्थात् शुक्लोत्तर आलोचना में भी शुक्ल जी की उपस्थिति प्रकारांतर से बनी ही रही। दरअसल सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना की जो पद्धति रामचंद्र शुक्ल ने स्थापित की, उनके विरोधी और समर्थक, दोनों ही उस पर चले। प्रभाववादी आलोचना का विरोध शुक्ल जी ने किया था, जो उनके बाद भी बना रहा। वास्तव में किसी रचनाकार या रचना के तात्कालिक प्रभाव में सिद्धान्तहीन समीक्षा साहित्य में कोई स्थायी योगदान नहीं कर सकती। शुक्ल जी के बाद के सभी प्रमुख आलोचक इस बात पर सहमत रहे। कुछ जो कला या रूपवादी हुए उन्हें यह प्रभाववादी आलोचना रास आयी और उन्होंने इसके लिए पश्चिमी पद्धति का सहारा यह कहते हुए लिया कि जब हम दूसरी विचार सरणियाँ पश्चिम से ले सकते हैं तो यह क्यों नहीं, किन्तु ऐसे आलोचकों का कोई खास महत्व हिंदी आलोचना में न था और न है।

शुक्लोत्तर युग के प्रमुख आलोचकों और उनकी आलोचना दृष्टि पर निम्नवत विचार किया जा सकता है -

20.5 नन्ददुलारे वाजपेयी

नन्ददुलारे वाजपेयी का जन्म 1906 में हुआ। इनका जन्मस्थान उन्नाव का मगरैल गाँव है। वाजपेयी जी के जन्म का समय हिंदी में शुक्ल जी के उदय का समय भी है। वाजपेयी जी के पिता अपने समय के साहित्य से प्रभावित थे और उनसे ये संस्कार वाजपेयी जी में आया। 1929 में उन्होंने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से एम.ए. हिंदी की परीक्षा सर्वोत्तम अंकों से उत्तीर्ण की। वे अपने समय में हिंदी चंद उच्च शिक्षित विद्वानों में एक और बाबू श्यामसुन्दर दास के प्रिय शिष्य थे। उन्हीं के प्रोत्साहन से उन्होंने हिंदी में अनुसंधान का मार्ग अपनाया। 1932 में वे हिंदी के तत्कालीन प्रसिद्ध पत्र भारत में सम्पादक हो गए और आधुनिक लेखकों पर विचारशील समीक्षात्मक निबन्ध लिखना आरम्भ किया, जिनका संकलन बाद में जयशंकर प्रसाद और हिंदी साहित्य: बीसवीं सदी नामक

प्रसिद्ध पुस्तकों के रूप में हुआ। इस पत्र को छोड़ जल्द ही वे पुनः बनारस आ गए जो तब तक हिंदी साहित्य और उसमें भी आचार्य शुक्ल के कारण हिंदी आलोचना के केन्द्र के रूप में पहचान बना चुका था। वहाँ उन्हें नागरी प्रचारिणी सभा में सूरसागर के सम्पादन का कार्य मिला, जिसे कुशलतापूर्वक सम्पन्न करने के बाद वे रामचरितमानस के सम्पादन के आमंत्रण पर गीता प्रेस गोरखपुर गए पर गीताप्रस के संचालकों से नीतिगत मतभेदों के कारण प्रयाग आ गए और स्वतंत्र लेखन करने लगे। 1941 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में उनकी नियुक्ति हो गई। यहाँ से आलोचना में उनकी ख्याति और मौलिक कार्य के आधार पर उन्हें सागर विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। कई वर्ष वहाँ कार्य करने के बाद विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन में कुलपति बने और महाकाल की उसी नगरी में 1967 में वाजपेयी का देहान्त हो गया।

जैसा कि पूर्व में एकाधिक बार कहा जा चुका है, शुक्लोत्तरयुगीन आलोचना पर शुक्ल जी की आलोचना के सन्दर्भों और प्रसंगों के साथ ही विचार किया जा सकता है। शुक्ल जी के तुरत बाद के महत्वपूर्ण आलोचकों में नन्ददुलारे वाजपेयी का नाम सर्वोपरि है और उनकी विख्यात आलोचना पुस्तक 'हिंदी साहित्य: बीसवीं सदी' में रामचंद्र शुक्ल पर तीन लेख मौजूद हैं। इनमें से दो लेखों में शुक्ल जी की समीक्षा की सीमाओं पर चर्चा है किंतु तीसरे में, जो कि उनकी मृत्यु के बाद लिखा गया, उनके महत्व और आलोचना में योगदान का गम्भीर एवं कृतज्ञतापूर्ण स्मरण है। वस्तुतः यही शुक्ल जी का आलोचक व्यक्तित्व है, जिससे असहमत होना अलग बात है पर उसके प्रति आभार का भाव अनिवार्य रूप से साथ ही बना रहता है। वाजपेयी जी हिंदी आलोचना में छायावादी काव्य के समीक्षक के रूप में आए। सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में वे पहले आलोचक हैं जिन्होंने छायावादी काव्य का स्थूल विरोध करने के स्थान पर युगीन स्थितियों में उसके स्थापना के बीजसूत्र खोजे और उनका गहन तथा सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया। ध्यान देने की बात है कि आचार्य शुक्ल ने छायावादी काव्य का विरोध जिन लेखों में किया वे कालक्रम की दृष्टि से वाजपेयी जी के बाद लिखे गए।

नन्ददुलारे वाजपेयी के आलोचना सिद्धान्तों और महत्वपूर्ण प्रस्थान बिंदुओं को निम्नवत प्रस्तुत किया जा सकता है -

1. वाजपेयी जी पहले आलोचक हैं जिन्होंने सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में छायावादी काव्य की नई भावधारा, नए जीवनदर्शन, नई कल्पना दृष्टि, बिम्ब तथा प्रतीकयोजना और नितान्त नए भाषा रूपों को युगीन परिस्थितियों के धरातल पर समझा और समझाया।
2. शुक्ल जी हालाँकि रहस्यवाद का विरोध किया था पर यह विरोध भावलोक के रहस्य से नहीं था। वाजपेयी जी ने इसी को अपना प्रस्थानबिंदु बनाया और छायावादी रहस्यभावना का समर्थन किया।

3. वाजपेयी जी काव्य के अन्तःसौन्दर्य को उद्घाटित करने वाले आलोचक हैं। आधुनिक हिंदी कविता का सौन्दर्यशास्त्र अब तक या तो रससिद्धान्त के बोझ तले दबा हुआ था या फिर कोरे अलंकरण के विमर्श की विषयवस्तु समझा जाने के कारण उपेक्षित ही रहा था। वाजपेयी जी ने छायावादी कवियों में इस सौन्दर्य के गहन, एकान्तिक किंतु प्रभावशाली आयाम देखे और शुक्ल जी की स्थापनाओं के विरुद्ध उसके युगीन महत्व को रेखांकित किया - इस कार्य में उन्होंने शुक्ल जी के ही सिद्धान्त 'कल्पना यथार्थजनित या दृश्यमान जगत का प्रतिरूप होती है' की सहायता ली और छायावादी कविता के पक्ष में उसे विकसित किया।
4. वाजपेयी जी ने कविता में अध्यात्म का पक्ष लिया और छायावाद की सौन्दर्यचेतना के महत्व को स्वीकारते हुए उसमें अध्यात्म की भूमिका को रेखांकित किया। उनके अनुसार सौन्दर्य की स्थूलता या सूक्ष्मता समझ में आनी मुश्किल है, इसके अलावा आध्यात्मिक छाया भी व्याख्या-सापेक्ष होती है।
5. वाजपेयी जी ने अपनी पहली पुस्तक हिंदी साहित्यः बीसवीं शताब्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा अथवा आलोचना के सात बीजसूत्रों का उल्लेख वरीयता क्रम में किया है -
 1. रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन।
 2. रचना कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता(कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन।
 3. रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यांगों का अध्ययन।
 4. रचना में सामाजिक स्थितियों का चित्रण।
 5. रचना के प्रेरणा की खोज और विश्लेषण।
 6. कवि की व्यक्तिगत परिस्थितियाँ, प्रभाव और विचार।
 7. रचना में अवस्थित कवि का सम्पूर्ण जीवनदर्शन।

इस तरह वाजपेयी जी ने कविता को समझने के लिए एक विस्तृत फलक तैयार किया जिसके महत्वपूर्ण बिंदुओं की वरीयता आलोचक की अपनी धारणाओं के अनुसार हो सकती है किंतु बिंदु प्रायः वही रहेंगे।

6. वाजपेयी जी की 32-33 तक की यानी आरम्भिक आलोचना कविता तक ही सीमित थी लेकिन उसके बाद वे कथा और नाटक साहित्य के सम्पर्क में आए और अभिव्यक्ति में उनके महत्व को समझा। उन्होंने प्रसाद जी के उपन्यास कंकाल के यथार्थवाद को समझा और अपनी तर्कपूर्ण सहमति व्यक्त की। यह उनके आलोचनाकर्म का महत्वपूर्ण प्रस्थानबिंदु है। इसी क्रम में उनकी पुस्तक प्रेमचंद का भी नाम लिया जाएगा।

7. कंकाल के सन्दर्भ में ही वाजपेयी जी की रोचक धारणा सामने आयी जिसमें उन्होंने स्वीकार किया कि कंकाल में प्रोपेगेंडा है। अंग्रेजी आलोचना का यह पद उन्होंने इस्तेमाल किया और इसका समर्थन भी किया। वाजपेयी जी के लिए प्रोपेगेंडा दरअसल साहित्य में विचार और समकालीन जीवनदृष्टि का प्रचार है। उन्होंने प्रसाद जी के उपन्यास पर लिखते हुए कहा भी कि इस शब्द(प्रोपेगेंडा) से हिंदी के साहित्यिक डरते-से हैं, क्योंकि इसने प्रेमचंद जी को भी बदनाम किया है। पर वास्तव में यह डर मिथ्या है। स्वयं प्रेमचंद ने वाजपेयी जी को एक पत्र में लिखा था कि अगर प्रोपेगेंडा न हो, तो संसार में साहित्य की जरूरत न रहे। जो प्रोपेगेंडा नहीं कर सकता, वह विचारशून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का अधिकार नहीं है। मैं उस प्रोपेगेंडा को गर्व से स्वीकार करता हूँ।
8. प्रगतिवाद की आलोचना करते हुए वाजपेयी का एक और सिद्धान्त सामने आया। वे साहित्य को द्वन्द्वात्मक मानने के पक्षधर नहीं थे जैसा कि सैद्धान्तिक रूप से प्रगतिवाद में था। वाजपेयी जी साहित्य की उत्तरजीविता और धारावाहिकता में विश्वास रखते थे। जीवन के प्रति किसी भी प्रकार की निषेधात्मक दृष्टि उन्हें स्वीकार नहीं थी। शुक्ल जी की ही भाँति वे भी साहित्य को वाद विशेष की परिधि से बाहर मानने के पक्षधर थे। छायावादी कवियों का समर्थन करते हुए भी उनकी धारणा थी कि वाद में फँसकर लेखक अपनी नैसर्गिक रचनात्मक प्रतिभा को कुंठित कर सकता है। प्रगतिशीलता पर अपना मत करते हुए आधुनिक साहित्य में उन्होंने लिखा - साहित्य के सभी नए आंदोलन एक अर्थ में प्रगतिशील कहे जा सकते हैं क्योंकि वे किसी न किसी नई सामाजिक या सांस्कृतिक प्रगति से उत्पन्न होते किसी न किसी नवीन विचारधारा के सहचर हुआ करते हैं।
9. वादविरोधी होते हुए भी वाजपेयी जी की मान्यता थी कि युगीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण किए बिना कोई लेखक नहीं हो सकता। उनके अनुसार साहित्य का मानक वस्तुतः समकालीन जीवन चेतना में ही निहित है।
10. वाजपेयी जी के अनुसार साहित्य में आस्था और नैतिक चेतना, दो अनिवार्य तत्व हैं। नैतिक चेतना उनके अनुसार वह है जो मनुष्य के सम्बन्धों की सम्पन्नता को व्यक्त करे। यह वाजपेयी जी की सैद्धान्तिक आलोचना का एक स्पष्ट सामाजिक पक्ष है।
11. आलोचना के सामाजिक पक्ष के विषय में वाजपेयी जी का मत है कि हिंदी में समय के प्रवाह के अनुसार अब साहित्य के द्वारा सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा भी की जाने लगी है। साथ ही साहित्य की अभिव्यंजना शैलियों का इस रूप में विकास भी हो रहा है कि उन्हें समझने के लिए बुद्धि का अधिकाधिक आभास आवश्यक है। उन सबसे परिचित हुए बिना आलोचक बनने

की लालसा रखने पर बँधी हुई प्रतिष्ठा के खो जाने का खतरा भी है। कामायनी के सन्दर्भ में वाजपेयी जी ने स्पष्ट किया है कि कामायनी बुद्धि के विरोध नहीं बल्कि बुद्धिवाद की अति के विरोध का काव्य है। शुक्ल जी इसी अतिबुद्धिवाद को 'दुर्बुद्धि' कहते हैं।

20.6 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

रामचंद्र शुक्ल के बाद हजारीप्रसाद द्विवेदी को आचार्य सम्बोधन मिला जो उच्चशिक्षा में प्राध्यापन करने भर का नहीं बल्कि विद्वता और समूचे व्यक्तित्व का द्योतक है। हजारी प्रसाद जी का जन्म 1907 में बलिया ज़िले के 'आरत दुबेका छपरा' नामक बहुत छोटे-से गाँव में हुआ। 1930 में उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से ज्योतिषाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की और उसी वर्ष अध्यापन के लिए शान्तिनिकेतन चले गए। शान्तिनिकेतन में टैगोर, क्षितिमोन सेन, विधुशेखर भट्टाचार्य आदि के सानिध्य से उनकी साहित्यिक सक्रियता बढ़ी। 1949 में लखनऊ विश्वविद्यालय ने उनकी साहित्यसेवा पर उन्हें डी.लिट. की उपाधि प्रदान की। 1950 में उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति के अनुरोध पर प्रोफेसर और हिंदी विभाग का अध्यक्ष पद स्वीकार किया। 1955 में वे पहले आफ़िशियल लैंग्वेज कमीशन के सदस्य चुने गए। 1957 में भारत सरकार ने उन्हें नागरिक सम्मान 'पद्मभूषण' से सम्मानित किया। 1958 में उन्हें नेशनल बुक ट्रस्ट का सदस्य बनाया गया। इसके अतिरिक्त कई वर्षों तक वे नागरी प्रचारिणी सभा के उपसभापति, खोज विभाग के निदेशक और नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक भी रहे। 1960 में पंजाब विश्वविद्यालय के कुलपति के निमंत्रण पर उन्होंने वहाँ के हिंदी विभाग के अध्यक्ष का पद स्वीकारा और चंडीगढ़ चले गए। 1968 में आचार्य द्विवेदी पुनः काशी हिंदू विश्वविद्यालय आ गए और रेक्टर पद पर नियुक्त हुए और फिर वहीं हिंदी के ऐतिहासिक व्याकरण विभाग के निदेशक का पदभार भी सँभाला। उत्तर प्रदेश की हिंदी ग्रंथ अकादमी के अध्यक्ष का दायित्व भी मिला। 1978 में द्विवेदी जी का देहावसान हो गया। 1973 में कुमाऊँ विश्वविद्यालय के प्रथम दीक्षान्त समारोह में दिया गया आचार्य द्विवेदी का बीजव्याख्यान उत्तराखंड के शिक्षाजगत में एक उपलब्धि की तरह है और आज भी याद किया जाता है।

मौलिकता और विभिन्न विषयों की विद्वता के धरातल पर आचार्य शुक्ल के बाद आचार्य द्विवेदी का ही नाम लिया जाता है। एक अर्थ में दोनों एक ही परम्परा के आचार्य और आलोचक हैं। ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल की सीमाओं के पार उनके छूटे हुए काम को आगे बढ़ाया। हिंदी साहित्य की भूमिका, हिंदी का आदिकाल और कबीर - इन तीन पुस्तकों में आचार्य शुक्ल की स्थापनाओं अथवा सीमाओं से विरोध स्पष्ट दिखाई देता है। आचार्य द्विवेदी की सैद्धान्तिक आलोचना को क्रमवार निम्नवत देखा जा सकता है -

12. आचार्य शुक्ल के समय में हिंदी के आरम्भिक युग और भक्तिकाल से सम्बन्धित मूल ग्रंथों की खोज सीमित क्षेत्र में हो पायी थी। आचार्य द्विवेदी तक इस शोध का दायरा कहीं व्यापक हो गया और आचार्य शुक्ल के हिंदी साहित्य का इतिहास की कई सीमाएँ सामने आने लगीं और कुछ स्थापनाएँ भी विवादित हो गईं।
13. आचार्य शुक्ल ने नाथ, बौद्ध एवं जैन साहित्य को शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं माना था और अपने लिखे हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रथम काल का नामकरण बाक्री बचे रासो अथवा वीरकाव्य के नाम पर 'वीरगाथाकाल' रखना उचित समझा था। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस अव्याप्ति से हिंदी को उबारा और नाथयोगियों, बौद्धसिद्धों तथा जैन श्रावकों के काव्य को उसके पूरे ऐतिहासिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिप्रेक्ष में परखते और मान्यता देते हुए इस काल का नाम 'आदिकाल' रखा जो आज सर्वमान्य है। उनकी 'हिंदी का आदिकाल' नामक पुस्तक इस विषय पर सबसे प्रामाणिक आलोचना पुस्तक मानी जाती है। इससे यह भी पता चलता है कि आचार्य द्विवेदी अपनी आलोचना दृष्टि में कितने उदार थे। यह तथ्यपरक उदारता सैद्धान्तिक आलोचना में एक सिद्धान्त की तरह देखी जा सकती है।
14. हिंदी में भक्तिकाल के आरम्भ और उसमें निहित भक्तिआंदोलन के प्रारम्भिक सूत्रों पर शुक्ल जी की स्थापना किंचित साम्प्रदायिक हैं या कहें कि साम्प्रदायिक शक्तियाँ आसानी से उसका लाभ उठा सकती हैं। इस विषय को कुछ विस्तार से देखने की आवश्यकता है। खेद का विषय है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वीरगाथा काल के चरण साहित्य को तो वीरता का गान कहा लेकिन भक्तिकाल का आरम्भिक परिचय ही कुछ इस भंगिमा में दिया - 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे।..... अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की भक्ति की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था'

आचार्य शुक्ल का इतिहास हिन्दी साहित्य के सबसे लोकप्रिय इतिहासों में एक है और आपने देखा होगा कि पाठ्यपुस्तकों में दिया गया इतिहास भी अधिकांशतः इसी पर आधारित होता है। ऊपर दिए उद्धरण से कुछ प्रश्न पैदा होते हैं -

1. क्या हिन्दी साहित्य सिर्फ हिन्दू जाति की सम्पत्ति है? और वह भी एक हतदर्प-पराजित हिन्दू जाति की!

2. क्या इस्लाम ने भारत आकर सचमुच किसी बड़ी मानव सभ्यता का नाश कर दिया?
3. उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन क्या सिर्फ इसलिए अस्तित्व में आया क्योंकि हिन्दू इस्लाम से डरे और हारे हुए थे?

सूफियों के सम्बन्ध में भी आचार्य शुक्ल का मंतव्य ध्यान देने योग्य है - इतिहास और जनश्रुति में इस बात का पता लगता है कि सूफी फकीरों और पीरों के द्वारा इस्लाम को जनप्रिय बनाने का उद्योग भारत में बहुत दिनों तक चलता रहा।

यहाँ फिर कुछ सवाल उठते हैं -

1. क्या सूफियों को भारत में इस्लाम की स्थापना के षडयंत्र के लिए राजनीतिक रूप से भेजा गया था?
2. उद्योग शब्द का क्या तात्पर्य है? क्या उन प्रेम दीवानों का इस तरह के उद्योग में विश्वास था?
3. और फिर खुद इन सूफियों की इस्लाम में क्या स्थिति थी और इस्लाम के पैरोकार इन्हें किस नज़र से देखते थे?

हजारी प्रसाद जी की किताबों में सबसे पहली बात यह दर्ज है कि वे साफ़ तौर पर हिन्दी साहित्य को जनभाषाओं का साहित्य मानते हैं और यह भी कहना नहीं भूलते कि इसी साहित्य ने इन जनभाषाओं को राजकीय सम्मान भी दिलाया। हजारीप्रसाद जी के इस जन का विस्तार हमारे समय की जनवादी अवधारणा तक दिखाई पड़ता है। दूसरी खास बात को उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के पहले ही पृष्ठ पर लिखा है - दुर्भाग्यवश, हिन्दी साहित्य के अध्ययन और लोक-चक्षु-गोचर करने का भार जिन विद्वानों ने अपने ऊपर लिया है, वे भी हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध हिन्दू जाति के साथ ही अधिक बतलाते हैं और इस प्रकार अनजान आदमी को दो ढंग से सोचने का मौका देते हैं - एक यह कि हिन्दी साहित्य एक हतदर्प-पराजित जाति की सम्पत्ति है और इसलिए उसका महत्व उस जाति के राजनीतिक उत्थान-पतन के साथ सम्बद्ध है और दूसरा यह कि ऐसा न भी हो तो भी वह एक निरन्तर पतनशील जाति की चिन्ताओं का मूर्त प्रतीक है।⁷ इसी क्रम में हजारीप्रसाद जी ने आगे लिखा कि मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है। सूफियों पर उनका यह वक्तव्य ध्यान देने योग्य है - निर्गुण भाव के शास्त्र-निरपेक्ष साधकों की भाँति इन कवियों में अधिकतर शास्त्र-ज्ञान-विरहित थे, पर निस्संदेह पहुँचे हुए प्रेमी थे। इन्होंने प्रेम के जिस एकांतिक रूप का चित्रण किया है, वह भारतीय साहित्य में नई चीज़ है। प्रेम की इस पीर के आगे ये लोकाचार की कुछ परवाह नहीं करते थे। भारतीय काव्य-साधना में प्रेम की ऐसी उत्कट तन्मयता दुर्लभ थी।

गौरतलब है हजारीप्रसाद जी प्रेम की एकांतिक साधना का जिक्र कर रहे हैं जो आचार्य शुक्ल के इस्लाम को फैलाने के उद्योग से बिल्कुल अलग जमीन पर कही गई बात है। वास्तविकता यही है कि सूफियों ने भारतीय संस्कृति में एक नया अध्याय जोड़ा, जिसका विस्तार साहित्य से लेकर अध्यात्म और संगीत के क्षेत्र तक मिलता है। हिन्दी साहित्य की भूमिका में हजारीप्रसाद जी ने दो-टुक शब्दों में लिखा कि यह कहना तो और भी उपाहास्पद है कि जब मुसलमान हिन्दू मंदिरों को नष्ट करने लगे तो हताश होकर हिन्दू लोग भजन-भाव में जुट गए। उन्होंने उत्तर में भक्ति आन्दोलन के उद्भव को दक्षिण के आलवार भक्तों से जोड़ा, जिनमें कई अछूत जातियों के भक्त थे और इस बारे में यह कहा कि आलवारों का भक्तिमतवाद भी जनसाधारण की चीज़ था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, जिसे हजारीप्रसाद जी ने महत्व दिया। उनके लिए जनसाधारण का भी असाधारण महत्व था। मेरा आग्रह है कि आचार्य शुक्ल के 'लोक' के बरअक्स हजारीप्रसाद जी के 'जन' को रखकर अवश्य देखा जाए। यह एक नई साहित्यालोचना और इतिहास दृष्टि है। इसमें विशुद्ध ऐतिहासिक तर्क भी हैं और अपने समकाल और भविष्य को भाँपने की अद्भुत योग्यता भी। हजारीप्रसाद जी ने भारत में इस्लाम के आगमन को सात्मीकरण से जोड़कर देखा। मुसलमान इस धरती पर आए पहले आक्रमणकारी नहीं थे। उनसे पहले आर्य, यवन, हूण और शक यहाँ आ चुके थे। भारत के अन्दर भी जैन और बौद्ध जैसे धर्मों का बोलबाला था। दक्षिण, उत्तर और सुदूर उत्तरपूर्व की संस्कृतियों और जीवन शैली में भिन्नता थी। इस्लाम के आगमन ने इसमें एक नया पन्ना जोड़ा। टकराव होना ही था और हुआ भी लेकिन बाद में यह टकराव सात्मीकरण में बदलता गया। दो संस्कृतियों के मिलन का यह सबसे अच्छा और तर्कसंगत सिद्धान्त है। हमें जानना होगा कि कबीर से पहले भी बारहवीं शताब्दी में अब्दुरहमान नाम का जुलाहा कवि हुआ है, उसके रचनाओं का संकलन और संपादन 'संदेश-रासक' के रूप में हजारीप्रसाद जी ने अपने शिष्य विश्वनाथ त्रिपाठी के साथ मिलकर किया है। हजारीप्रसाद जी ने हिन्दी साहित्य के ऊपर से हिन्दू का बिल्ला उतार उसके स्रोतों को सैद्धान्तिक रूप से बौद्ध सिद्धों और जैन मुनियों की वाणी में खोजा। इस तरह वे राजाओं की गाथाओं में न जाकर जनमानस का हृदय टटोल रहे थे। हिन्दी आलोचना के विकासक्रम यह एक क्रांति है, जिसमें आचार्य द्विवेदी के बुनियादी आलोचना सिद्धान्त भी स्पष्ट दिखाई देते हैं।

1. आचार्य द्विवेदी पहले आलोचक हैं जिन्होंने भक्ति आंदोलन की तुलना हिन्दी के समकालीन प्रगति आन्दोलन से की। आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष में यह एक बड़ा कदम था। वे लिखते हैं - प्रगतिशील आंदोलन महान उद्देश्य से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी सम्भावनाएं अत्यधिक हैं। आचार्य के इस कथन से सहज ही पता लगता है कि चाहे भक्ति आंदोलन चाहे प्रगतिवाद, दोनों में उन्हें डर साम्प्रदायिकता के प्रवेश का था। अपनी सैद्धान्तिक भूमि पर साम्प्रदायिकता के संकट का अनुभव करने वाले भी वे पहले आलोचक हैं।

2. तुलसीदास के सन्दर्भ समन्वयवाद पद हिंदी आलोचना में बहुत चल पड़ा था। आचार्य द्विवेदी ने पहली बार इसकी सीमाओं को जाना। उन्होंने खुद को अनेकान्तवादी घोषित करते हुए लिखा - कई अतिवादताओं बचकर कोई मध्यममार्ग निकालने को सन्तुलित दृष्टिकोण नहीं कहते।
3. आचार्य द्विवेदी ने कथालोचना भी की और प्रेमचन्द उनकी मानवतावादी और प्रगतिशील दृष्टि के कारण महान कथाकार के रूप में चिन्हित किया।

20.7 डॉ नगेन्द्र

डॉ. नगेन्द्र आधुनिक युग के वे आलोचक हैं, जिन्होंने भारतीय परम्परा से रससिद्धान्त की नई व्याख्या करने का प्रयास किया साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र का एक समूचा साहित्य हिंदी में उपलब्ध कराया।

डॉ. नगेन्द्र आलोचना के पहले सफल और महत्वपूर्ण प्रयास छायावादी कवियों पर लिखते हुए किए। उनकी पुस्तक सुमित्रानन्दन पंत आचार्य शुक्ल के जीवनकाल में आ गई थी। आचार्य शुक्ल स्वयं इस पुस्तक की प्रशंसा करते हुए इसे छायावाद पर पहली ठीक-ठिकाने की पुस्तक बताया था। डॉ. नगेन्द्र द्वारा छायावाद की सूक्तिपरक परिभाषा आज भी विद्यार्थियों को अपने ओर खींचती है - छायावाद 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है'। डॉ नगेन्द्र ने जिस प्रकार पंत जी की आलोचना की, उसे प्रभाववादी कहकर खारिज नहीं किया जा सकता था। उनके प्रमुख सिद्धान्तों को निम्नवत देखा जा सकता है -

1. डॉ. नगेन्द्र छायावादी काव्य के सैद्धान्तिक आलोचक के रूप में स्थापित हुए पर उनका अधिकांश कार्य सुमित्रानंदन पंत पर केन्द्रित रहा। उन्होंने छायावाद में सौन्दर्यनिरूपण और रहस्यभावना की तथ्यपरक समीक्षा की। छायावाद की उपरोक्त सूक्तिपरक व्याख्या भी दी।
2. डॉ. नगेन्द्र अपने समय में चल रहे प्रगतिवादी आन्दोलन से सैद्धान्तिक तारतम्य नहीं बिठा पाए। अपने समय के प्रगतिवादी कवियों पर विचार करते हुए लिखा कि एक और आक्षेप जो प्रगतिवाद के मूल सिद्धान्तों पर किया जा सकता है यह है कि इसका दृष्टिकोण मूलतः वैज्ञानिक होने के कारण बौद्धिक एवं आलोचनात्मक है। अतएव स्वभाव से ही उनमें वह तन्मयता या आत्मविसर्जन नहीं है जो काव्य के लिए अनिवार्य है। नगेन्द्र के इस आक्षेप की खुद भी अपनी कई सीमाएं हैं जिन पर अगली इकाई में लिखा जाएगा।
3. डॉ. नगेन्द्र की समूची साहित्य साधना प्रतिफल आचार्य विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार उनका ग्रंथ **रस सिद्धान्त** है। स्वयं नगेन्द्र इसे अपनी साहित्य-साधना का उत्तमांश माना है। अब तक आचार्य शुक्ल की रस मीमांसा ही प्रचलन में थी और कविता के बदलते शिल्प

- में इसकी अधिक आवश्यकता भी नहीं जान पड़ती थी। नगेन्द्र ने शुक्ल जी की मीमांसा में कुछ नया और स्वतंत्र जोड़ने की अपेक्षा की होगी, तभी यह ग्रंथ प्रकाश में आया।
4. रससिद्धान्त के सन्दर्भ में बड़े प्रयोगवादी कवि अज्ञेय का मत था कि रस जिस व्यवस्था पर आधारित है वह आस्तिकता है। आज के जीवन में वह आस्तिकता नहीं है इसलिए आज के काव्य को रस नाम देना उचित नहीं है। वह अनुभूति मात्र है। लेकिन डॉ. नगेन्द्र ने अज्ञेय का प्रतिवाद करते हुए रस को आस्तिकता पर आधारित न मानकर मानवसंवेदना पर आधारित माना और इस तरह नए युग की कविता में उसे फिर प्रासंगिक बना दिया।
 5. पाश्चात्य काव्यशास्त्र में डॉ. नगेन्द्र ने प्लेटो, अरस्तू और लांजाइनस का वृहद विवेचन हिंदी में सम्भव किया और कराया भी। हिंदी की ऐतिहासिक आलोचना अब पश्चिमी मान्यताओं के बरअक्स देखी और पढ़ी जा सकती थी।

20.8 डॉ. देवराज

शुक्लोत्तर काल में कुछ ऐसे आलोचक हुए जिन्होंने प्याप्त व्यवहासिक समीक्षा लिखी किंतु सैद्धान्तिक रूप वे किसी वाद अथवा आंदोलन से नहीं बंधे। डॉ. देवराज उनमें प्रमुख है। अपने लेखक आरम्भिक काल में ही उन्होंने **छायावाद का पतन** जैसी किताब लिखी वस्तुतः देवराज दर्शन के गम्भीर विद्यार्थी रहे इसलिए उनकी काव्यालोचना दृष्टि काफी निमर्म और एकांगी रही। इस पुस्तक ने अपनी ओर ध्यान तो खींचा लेकिन छायावाद को या उसके प्रतिवाद को समझा पाने यह अपनी भूमिका नहीं बना पायी। डॉ. देवराज के अनुसार छायावाद के पतन कारण ठीक वही थे जो उसके उत्थान के।

छायावाद के बाद प्रगतिवाद भी डॉ. देवराज के प्रतिरोध की सीमा में आया। प्रगतिवाद की समीक्षा करते वे बार-बार समाज और व्यक्ति की गुत्थियों में उलझते रहे और कोई नई दृष्टि प्रगतिवादी आलोचना को नहीं दे पाए किन्तु शुक्लोत्तर समीक्षा में वे एक महत्वपूर्ण नाम हैं।

बोध प्रश्न -

1. निम्न में कौन शुक्लोत्तर-युग का आलोचक है -

(अ) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

(ब) बालकृष्ण भट्ट

(स) जयशंकर प्रसाद

(द) देवराज

2. पं. नंद दुलारे वाजपेयी का जन्म का जन्म कब हुआ -

(अ) 1960

(ब) 1906

(स) 1884

(द) 1886

3. डॉ. नगेन्द्र ने रससूत्र की व्याख्या की-

(अ) सत्य

(ब) असत्य

4. हिंदी का आदिकाल किसकी पुस्तक है -

(अ) रामचंद्र शुक्ल

(ब) शांतिप्रिय द्विवेदी

(स) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(द) डॉ. नगेन्द्र

5. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानवतावादी दृष्टिकोण के लेखक थे -

(अ) सत्य

(ब) असत्य

6. 'छायावाद का पतन' नामक पुस्तक डॉ. नगेन्द्र ने लिखी -

(अ) हाँ

(ब) नहीं

7. सुमित्रानन्दन पंत पर डॉ. नगेन्द्र ने किताब लिखी -

(अ) हाँ

(ब) नहीं

8. निम्न से किस पश्चिमी विचारक का प्रभाव आचार्य शुक्ल पर पड़ा-

(अ) नीत्शे

(ब) सात्र

(स) हैकल

(द) मार्क्स

9. रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी में रहस्यवादी काव्य का आलोचकीय समर्थन किया-

(अ) सत्य

(ब) असत्य

निम्न विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए-

(1) आचार्य रामचंद्र शुक्ल का व्यक्तित्व।

(2) लोकमंगल की अवधारणा।

(3) डॉ० नगेन्द्र के साहित्यिक व्यक्तित्व पर टिप्पणी लिखिए।

(4) डॉ० नंददुलारे वाजपेयी के कृतित्व पर एक टिप्पणी लिखिए।

(5) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के आलोचना सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।

20.9 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके हैं की हिन्दी आलोचना कभी आचार्य शुक्ल से संवाद तो कभी प्रतिवाद करते हुए आगे बढ़ी। पं. नंददुलारे वाजपेयी ने शुक्लजी से सीखा भी और कुछ जगहों पर उनका खंडन भी किया। इसी प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल जी द्वारा किए साहित्येतिहास में कई खामियों को सामने लाते हुए उन पर विस्तार से कार्य किया। उन्होंने इस क्रम में तीन महत्वपूर्ण किताबें भी लिखीं - हिंदी साहित्य की भूमिका, हिंदी का आदिकाल और कबीरा आचार्य शुक्ल के पश्चात हजारीप्रसाद जी ही हुए जिन्हें आचार्य की पदवी से याद किया जाता है। डॉ. नगेन्द्र हिंदी के नए अकादमिक जगत के प्रवक्ता थे। उस जगत के जो विभिन्न विश्वविद्यालयों में फल-फूल रहा था और उनके आचार्य गण नगेन्द्र की तर्ज पर खुद को आलोचक कहाने लगे थे, जबकि

सच यह था कि इस अकादमिक मरुथल में आलोचक सिर्फ नगेन्द्र ही थे और रहे। नगेन्द्र की तरह डॉ. देवराज भी आलोचना के क्षेत्र में आए। उन्होंने कुछ सैद्धान्तिक कार्य करने का प्रयास भी किया किन्तु अधिकांशतः वे दर्शन के क्षेत्र में ही कार्य करते रहे।

20.9 शब्दावली

शुक्लोत्तर	-	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद
देहावसान	-	मृत्यु
विज्ञ	-	जानकार, विद्वान
सैद्धान्तिक	-	सिद्धान्त संबंधी
कथालोचना	-	कहानी, उपन्यास आदि की समालोचना

20.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देवराज
2. 1906
3. सत्य
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी
5. सत्य
6. नहीं
7. हाँ
8. हैकल
9. असत्य

20.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री

हिंदी साहित्य का इतिहास - रामचंद्र शुक्ल

हिंदी आलोचना- विश्वनाथ त्रिपाठी

हिंदी समीक्षा स्वरूप और संदर्भ

हिंदी साहित्य कोश-भाग दो

रामचंद्र शुक्ल के श्रेष्ठ निबंध - डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र/विनोद तिवारी

हिंदी आलोचना के बीजशब्द - बच्चन सिंह

आचार्य रामचंद्र शुक्ल आलोचना का अर्थ: अर्थ की आलोचना- रामस्वरूप चतुर्वेदी

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास की रचना-प्रक्रिया- समीक्षा ठाकुर

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का गद्य साहित्य- अशोक सिंह

इतिहास और आलोचना- नामवर सिंह

हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली - डॉ. अमरनाथ

आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना- रामविलास शर्मा

हिंदी आलोचना का विकास- नंदकिशोर नवल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल: आलोचना के नए मानदंड- भवदेव पांडेय

हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी- निर्मला जैन

20.12 निबंधात्मक प्रश्न

- (1) शुक्लोत्तर आलोचना परिदृश्य पर एक विस्तृत निबंध लिखिए।
- (2) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी आलोचनात्मक साहित्य पर उनके महत्व पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

इकाई 21 प्रगतिशील आलोचना एवं रामविलास शर्मा

- 21.1 प्रस्तावना
- 21.2 उद्देश्य
- 21.3 प्रगति का अर्थ और मार्क्सवाद
- 21.4 हिंदी में प्रगतिशील आंदोलन का उदय एवं विकास
- 21.5 डॉ. रामविलास शर्मा का व्यक्तित्व
- 21.6 डॉ. रामविलास शर्मा के आलोचना सिद्धान्त
- 21.7 सारांश
- 21.8 शब्दावली
- 21.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 21.10 सहायक पाठ्य सामग्री
- 21.11 निबंधात्मक प्रश्न

21.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई हिन्दी स्नातकोत्तर प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रम के रूप में सम्मिलित है। इस इकाई के अध्ययन से पूर्व आपने शुक्ल एवं शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना का विस्तृत अध्ययन किया है।

प्रस्तुत इकाई में आप प्रगतिशील आंदोलन, प्रगतिवादी चेतना और प्रगतिशील हिन्दी आलोचना के संदर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि का अध्ययन करेंगे।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप प्रगतिशील हिन्दी आलोचना एवं डॉ० रामविलास शर्मा के आलोचकीय महत्व को जान सकेगे।

21.2 उद्देश्य

प्रगतिशील आलोचना एवं डॉ० रामविलास शर्मा शीर्षक इस इकाई के सम्यक अध्ययन के उपरान्त आप बता सकेंगे कि

साहित्यिक आंदोलन के रूप में प्रगति का क्या अर्थ है।

प्रगतिशील आलोचना क्या है।

प्रगतिशील आंदोलन की पृष्ठभूमि में स्थित मार्क्सवादी सिद्धान्त क्या है।

हिंदी साहित्य में मार्क्सवादी साहित्य सिद्धान्तों की भूमिका और मान्यता है।

डॉ० रामविलास शर्मा का आलोचना साहित्य में क्या व्यक्तित्व है।

डॉ० रामविलास शर्मा के आलोचना सिद्धान्त क्या हैं।

डॉ० रामविलास शर्मा ने अपने समय के साहित्य पर क्या प्रभाव छोड़े।

21.3 प्रगति का अर्थ और मार्क्सवाद

प्रगति शब्द का प्रयोग आगे बढ़ने के रूप में आम है और यही शायद इसका सबसे सही अर्थ भी है। आगे बढ़ना ! पुराने मनुष्यविरोधी रीति-रिवाजों को तज कर आगे बढ़ना। शोषण की व्यवस्थाओं को तोड़ कर आगे बढ़ना। अकेले मनुष्य के लिए नहीं, समूची मानवता के लिए आगे बढ़ना। यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि मनुष्य ने अपनी अब तक की विकासयात्रा विराट सामूहिक प्रयत्नों द्वारा अर्जित की है। चलना और चलते रहना - यह प्रगति का एक सामान्य अर्थ हुआ। अब प्रश्न यह उठता है कि किस ओर चलना। हम अंधेरे नहीं चल सकते, हमें प्रकाश की आवश्यकता होती है। हम बिना दिशा के नहीं चल सकते, हमें एक दिशा की आवश्यकता होती है। यह प्रकाश और दिशा हमें कुछ

मानवीय सिद्धान्तों से मिलते हैं। प्रगतिवादियों को यह मार्क्सवाद से मिला, जिसे उन्होंने साहित्य की और साहित्यालोचन की दिशा के रूप में स्वीकार किया। हिंदी लगभग पूरा प्रगतिशील आंदोलन मार्क्सवाद से संचालित रहा है और बीज भगतसिंह की शहादत के समय ही पड़ गए थे, जो एक निश्चित वैचारिक सरोकर के लिए फांसी चढ़े। प्रगतिवादी मानते रहे कि भारतीय समाज की मुक्ति मार्क्सवाद की राह पर ही है। इनमें राहुल सांकृत्यायन जैसे व्यक्ति भी शामिल थे जो स्वामी सहजानन्द के साथ किसान आंदोलन से जुड़े रहे साथ नागार्जुन जैसे जनकवि भी। कई-कई प्रगतिबोध वाले लेखकों, पत्रकारों, रंगकर्मियों, राजनीतिकर्मियों ने मिलकर हिंदी में प्रगति का एक नया अध्याय जोड़ा जो आज सबसे अधिक प्रभावशाली है। विचारधारा के अनुसार प्रगतिशील लेखक-कवि-आलोचक अधिकांशतः मार्क्सवादी हैं।

अब प्रश्न उठता है कि साहित्य में मार्क्सवाद या मार्क्सवादी आलोचना क्या है। इसके कुछ सिद्धान्त या विचारबिंदु हैं, जिन्हें इस प्रकार क्रम दिया जा सकता है

1. मार्क्सवाद ने बार पहली समाज को किसी आंतरिक अवयव संरचना के रूप में प्रस्तुत किया। इसमें उत्पादन-शक्ति, उत्पादन के सम्बन्ध से लेकर राज्य, राजनीति, विधि, नश्वरता, दर्शन,, विज्ञान, कला, सभी सम्मिलित थे।
2. मार्क्सवादी आलोचना की पहली अवधारणा यह है कि एक कवि के चित्त और वस्तुओं के प्रति उसकी वास्तविक दृष्टि के बीच द्विधात्मक संघर्ष मौजूद रहता है।
3. सोवियत रूस में क्रांति के बाद मार्क्सवादी अवधारणाओं का अतिरेक साहित्य पर देखा गया जब लेनिन ने घोषणा की कि साहित्य को हर स्थिति में पार्टी का साहित्य हो। उधर मार्क्स के संगी एंगेल्स लेनिन से काफी पहले 1885 में ही स्पष्ट कर कए थे कि लेखक के लिए ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है और शायद यही कारण था कि वे शेक्सपीयर को शीलर से और बालजाक को जोला बड़ा कलाकार मानते थे।
4. मार्क्सवादी आलोचना का व्यवस्थित सिद्धान्त पहली बार 1932 में प्रस्तुत हुआ जिसे 'समाजवादी वास्तववाद' की संज्ञा प्रदान की जाती है। लेखक का काम इस सिद्धान्त के अनुसार यथार्थ का पुनरुत्पादन करना है।
5. मार्क्सवादी अथवा प्रगतिशील आलोचना 'वस्तु आधारित' आलोचना है। यह वस्तु और रूप को अलग अलग तत्व मानती है तथा वस्तु को मूल सामाजिक तत्व मानती है, जिसका निरूपण लेखक करता है।
6. मार्क्सवादी आलोचना विचारधारा को महत्व देती है, कह सकते हैं कि ये एक कट्टर सैद्धान्तिक आलोचना है। मार्क्सवादी आलोचना के अनुसार विचार धारा के निम्न 6 प्रमुख बिन्दु हैं -

- विचारधारा का पदार्थपरक अस्तित्व होता है। एंगेल्स ने आडियलोजी को यथार्थपरक सामाजिक नातेदारी के विचार में होने वाले प्रतिबिम्बन को साहित्य माना।
- यह प्रतिबिम्बन दरअसल पुनरुत्पादन है जो लेखक करता है और सामाजिक प्रकार्यों में अपनी भागीदारी देता है।
- मार्क्सवादी आलोचना सामाजिक यथार्थ पर दृष्टि रखती है। वह सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक घटनाओं को समकाल में घटित होते देखती और साहित्य में उसके सूत्र खोजती है।
- विचारधारा हमेशा जनता केन्द्रित होती है। आम जनता के दुखदर्द और वंचनाएं विचार धारा के केन्द्र में होते हैं।
- विचारधारा शोषणमुक्त समाज का स्वप्न देखती है। इस दिशा में वह समाज को बदलने वाली रचनात्मकता को प्रोत्साहित करती है।
- पूंजीवाद और साम्राज्यवाद को मार्क्सवादी आलोचना में आम जन का सबसे बड़ा शत्रु माना जाता है।

21.4 हिंदी में प्रगतिशील आंदोलन का उदय एवं विकास

हिंदी में प्रगतिशील आंदोलन से पूर्व जानना होगा कि पश्चिम में यह कब और किस रूप में आया क्योंकि पश्चिमी प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन की शाखा के रूप में ही हिन्दुस्तान में भी प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। 1935 में ई.एम. फास्टर की अध्यक्षता में पेरिस में प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का प्रथम अधिवेशन हुआ।

1936 में सज्जाद जहीर और मुल्कराज आनन्द के संयुक्त प्रयासों से लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का पहला सम्मेलन हुआ। इसलिए हिंदी में प्रगतिशीलता का उद्भव इसी वर्ष से मान लिया गया है। हालांकि 1930 के आसपास तक हिंदी यह आन्दोलन लेखकों को प्रेरित कर रहा था। प्रेमचन्द स्वयं इस विचारधारा बहुत प्रेरित रहे। प्रथम अधिवेशन के सभापति के रूप दिए गए वक्तव्य में उन्होंने कहा कि भी कि प्रगतिशील नाम ग़लत हैं, क्योंकि कलाकार या लेखक स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है। नाम को लेकर प्रेमचन्द ने जो कहा हो पर उसके पीछे समूची विचार परम्परा से वे अन्त तक आड़ोलित थे और रहे।

प्रगतिशीलता के इस विचार को आलोचना में प्रविष्ट होना था। आचार्य शुक्ल और उनके बाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी वैचारिक रूप से पूर्णतः परिपक्व थे और अपने दृष्टिकोण में काफी साफ भी। भारतीय परम्पराओं के साथ-साथ पाश्चात्य दर्शन को भी निकट से देख रहे थे। उनके समय में

आलोचना में सिद्धान्त खोजने-रचने की विषयवस्तु होते थे, किन्तु प्रगति के युग में पहले ही कुछ बने बनाए सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक ढांचे थे। आलोचना के लिए यह एक उलझन भरा समय रहा होगा जब उसे अपनी निकट परम्परा भी देखनी होती होगी और नए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को भी सिद्ध करना होगा। प्रगतिवाद की विचारधारा पूरी तरह मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित है। वह आधुनिक विचारधारा है किंतु ऐतिहासिक विश्लेषण में अतीत के साहित्य का भी तथ्यपूर्ण अध्ययन करती है। मार्क्सवादी विचारक-आलोचक शिवदान सिंह चौहान का कथन है कि जहां यह सत्य है कि बाह्य परिस्थितियों से साहित्य अनेक स्वस्थ और अस्वस्थ प्रभाव ग्रहण करता है वहां यह भी उतना ही सत्य है कि ये प्रभाव साहित्य की ऐतिहासिक परम्पराओं के माध्यम से जीवन के अगणित सम्बन्धों को ग्रहण करके ही व्यक्त होते हैं इस प्रकार एक ओर वे साहित्य की परम्परा बदलते हैं तो दूसरी ओर साहित्य के इतिहास की तारतम्यता और सम्बद्धता को पुष्ट करते हैं।

प्रगतिशील आलोचना ने अतीत के साहित्य को कितनी अर्थवन्ता के साथ ग्रहण किया है इसके अनेक उदाहरण हैं। प्रगतिशीलों से भक्त कवियों, संतवाणियों आदि को खासा महत्व दिया है। वे कबीर, जायसी, तुलसी को परम्परा का ज़रूरी कवि मानते हैं।

21.5 डॉ. रामविलास शर्मा का व्यक्तित्व

इसी उलझे हुए समय में डॉ. रामविलास शर्मा आलोचना के क्षितिज पर आए। इनका जन्म 1912 ई में हुआ। अंग्रेजी के विद्यार्थी रहे। लम्बे समय तक निराला का साथ मिला। कन्हैयालाल मुंशी विद्यापीठ में अंग्रेजी के ही अध्यापक हुए। कुछ समय आगरा के ही बलवंत राजपूत कालेज में अंग्रेजी पढ़ाई। रामविलास जी के पूर्व हमारे दोनों बड़े आचार्य आलोचक संस्कृत की परम्परा से आए थे, किन्तु रामविलास जी अंग्रेजी से। वे अंग्रेजी पढ़े और अंग्रेजी पढ़ानेवाले आलोचक थे। पश्चिमी विचारकों और विचार सरणियों के बारे में उनकी जानकारी अधिक निकट की थी। लखनऊ में रहते हुए उन्हें निराला का साथ मिला जो बाद में और गहरा होता गया। निराला के साथ उनकी आदरपूर्ण मैत्री ने रामविलास के व्यक्तित्व में कई आयाम जोड़े। छायावाद के बारे में उनकी समझ इसी साथ से साफ़ हुई। साथ यह भी कहना होगा कि निराला की समझ पर भी मार्क्सवादी रामविलास शर्मा का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा और छायावाद की सीमाओं के पार उन्होंने भारतीय जनता की वंचनाओं और पीड़ाओं के जो मार्मिक चित्र खींचे वैसा कोई अन्य छायावादी नहीं कर पाया। डॉ. रामविलास शर्मा हिंदी के प्रखरतम आलोचकों में हैं, जिन्होंने न सिर्फ़ प्रगतिशील आलोचना बल्कि भाषा और समाज के क्षेत्र में उल्लेखनीय काम किया है।

तीन भागों में निराला की साहित्य साधना, प्रेमचन्द और उनका युग, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, प्रगति और परम्परा, भाषा, साहित्य और संस्कृति, भाषा और समाज आदि डॉ. शर्मा की प्रमुख कृतियां हैं। मृत्यु से पूर्व वे भारत की आर्य संस्कृति पर कुछ कार्य कर रहे थे जो कुछ टुकड़ों में प्रकाशित हुआ है। कुछ

मार्क्सवादी आलोचकों ने इसी कार्य के कारण डॉ. शर्मा पर विचारधारा से विचलन का आक्षेप लगाया।

21.5 डॉ रामविलास शर्मा के आलोचना सिद्धान्त

डॉ. रामविलास शर्मा के आलोचना सम्बन्धी सिद्धान्तों अथवा बिन्दुओं को निम्नवत सूचीबद्ध किया जा सकता है -

1. डॉ. रामविलास शर्मा घोषित मार्क्सवादी हैं, अतः उनकी आलोचना पर मार्क्सवादी विचारधारा प्रभाव होना स्वाभाविक है।
2. मार्क्सवादी होने के बावजूद डॉ. शर्मा ने रससिद्धान्त पर अपनी मान्यता स्पष्ट की है। उन्होंने रस की अलौकिकता में काव्य को उलझाकर उसके सामाजिक कर्तव्य की ओर से आंखें फेरने वाली मनोवृत्ति को अनावृत किया है। साथ ही रस विवेचन में सब कुछ आचार्यों के ही हवाले कर देने की परम्परा से हटकर पाठकों को अपनी तरह से रसास्वाद लेने का अधिकार दिया है।
3. डॉ. रामविलास शर्मा ने साहित्य सामाजिक यथार्थ के चित्रण को सर्वोपरि माना है। इसी कारण उनका झुकाव कविता निराला और बाद में केदारनाथ अग्रवाल तथा कथासाहित्य में प्रेमचंद की ओर रहा।
4. डॉ. शर्मा के लिए साहित्य में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद एक कसौटी है। उनके अनुसार पुरानी जर्जर अमानवीय स्थितियों और सत्ता केन्द्रों से संघर्ष करते हुए शोषित तबके का उदय होता है, जिसे साहित्य में चित्रित किया जाना चाहिए।
5. डॉ. शर्मा उच्च आध्यात्मिक और सांस्कृतिक अर्थों का आभास देने वाली किंतु समाज में अमानवीय स्थितियों को बनाए रखने वाली छद्म शक्तियों की पहचान अपनी सैद्धान्तिक आलोचना में बड़ी गहराई से करते हैं।
6. डॉ. शर्मा परम्पराओं में सभी कुछ का परित्याग कर देने के पक्षधर नहीं हैं। उन्होंने साहित्यःस्थायी मूल्य और मूल्यांकन में लिखा है कि यह आवश्यक नहीं कि शोषक वर्ग ने जिन नैतिक अथवा कलात्मक मूल्यों को निर्माण किया है वे सभी शोषण मुक्त वर्ग के लिए अनुपयोगी हों.....प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में हमें मार्क्सवाद से यह सहायता मिलती है कि हम उसकी विषयवस्तु और कलात्मक सौन्दर्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखकर उनका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं।
7. डॉ. शर्मा की आलोचना की विशेषता है कि जहां एक ओर वे आधुनिक समाज के निर्माण के स्वप्न को और उसकी जनपक्षधरता को स्पष्ट करते वहीं इस स्वप्न को हिंदी की जातीय परम्परा से जोड़ते भी हैं।

8. डॉ. शर्मा शायद पहले आलोचक हैं जिन्होंने अंग्रेजों द्वारा काउ बेल्ट कही जाने हिंदी पट्टी के लेखकों का गरिमा और गौरवपूर्ण संधान किया फिर चाहे वे प्रेमचन्द हों या निराला।
9. डॉ. शर्मा के हिंदी आलोचना में आगमन तक हिंदी साहित्य के आदि और मध्यकाल की गुत्थियां सुलझा लीं गई थी इसलिए उन्होंने अपने लेखन की शुरूआत में इन पर कुछ नहीं लिखा। वे आधुनिक युग की शिनाख्त के आलोचक बने। बाद में वृद्धावस्था में उन्होंने कुछ ऐतिहासिक लेखन करने की कोशिश की जो विवादित रहा।
10. अब तक हमने आचार्य शुक्ल, आचार्य द्विवेदी, पं. नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. देवराज आदि की आलोचना से परिचय प्राप्त किया है और हम देख सकते हैं हिंदी में गद्य आलोचना कथालोचना एक तरह से उपेक्षित रही थी, वो भी तब जबकि प्रेमचन्द जैसा महान कथाकार परिदृश्य पर मौजूद था। डॉ. शर्मा ने यह काम बखूबी किया। प्रेमचन्द पर उनकी पुस्तक 'प्रेमचंद और उनका युग' आज भी एक दस्तावेज है। गोदान को जब आलोचक कृषक जीवन के महाकाव्य में भटका रहे थे तब डॉ. शर्मा के मार्क्सवादी मन इस तथ्य को जाना कि गोदान भारत में शोषण के औजारों के बदलने की कथा है, भारत में पूंजीवाद के आगमन की कथा है। डॉ. शर्मा ने ही पहली बार हिंदी संसार को बताया कि प्रेमचन्द के पात्रों में हिंदू-मुस्लिम पात्रों की सामान्य आवाजाही है, जैसी कि वास्तविक समाज में। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी उल्लेख करते हैं कि प्रेमचन्द को डॉ. रामविलास शर्मा ने कबीर, तुलसी और भारतेन्दु की परम्परा से जोड़ा है। किसी आलोचक लिए यह एक बड़ा सैद्धान्तिक आयाम है।
11. कविता के क्षेत्र में डॉ. रामविलास शर्मा ने बहुत कार्य किया है। 1948 में उनकी पुस्तक 'निराला' प्रकाशित हुई थी। डॉ. शर्मा निराला के बहुत बड़े प्रशंसक थे। उन्होंने लिखा भी है कि अपने इस प्रिय कवि पर चारों ओर से घृणित आक्रमण न होते तो वे शायद हिंदी आलोचना के क्षेत्र में न उतरते। निराला छायावादी थे, डॉ. शर्मा अगली पीढ़ी के मार्क्सवादी लेकिन आम भारतीय जनता के मन और मर्म के स्तर कुछ था जो उन्हें जोड़ता था। आज़ादी के आसपास और बाद के निराला को देखिए तो प्रगतिवादी कवि हर कहीं नजर आयेगा।
12. निराला के बहाने डॉ. शर्मा हिंदी आलोचना के क्षेत्र में उतरे और सभी छायावादी कवियों का अध्ययन किया, जिनमें एक उनके प्रिय निराला भी थे। प्रिय और प्रशंसा जैसे पद यह भ्रम उत्पन्न करते हैं कि डॉ. शर्मा ने सर्वत्र निराला जयजयकार की होगी पर स्थिति बिल्कुल ऐसी नहीं है। नहीं भूलना चाहिए कि डॉ. शर्मा के भीतर का आलोचक मार्क्सवाद की सरणियों में अपना काम कर रहा है। उसके सामने घुटती-पिसती भारतीय जनता और उस जनता के लिए जो साहित्य लिखा जा रहा है वहीं उस युग का साहित्य है। छायावादियों में निराला को छोड़ बाकी कवि ऐसा नहीं कर पाए।

निराला पर बंगला रहस्यभावना और अध्यात्म का गहरा रंग था, जिसे डॉ. शर्मा बार-बार इंगित करते रहे। निराला के जटिल व्यक्तित्व में से डॉ. शर्मा ने उस महान कवि को निकाला और हमारे सामने रखा, लेकिन किसी श्रद्धा के लिए नहीं, अपने समय के शोषण और दुश्क्र को जानने के लिए। निराला उनके लिए प्रेम, सौन्दर्य और संघर्ष के कवि बने और उन्होंने निराला की कविताओं से सिद्ध करके दिखया कि निराला का सौन्दर्य ब्रह्मानन्द का सहचर है। डॉ. शर्मा कविता में आने वाली ध्वनियों के प्रति भी सचेत थे और उनके आधार पर कवि द्वारा बनाए लोक प्रवेश करते थे। यहां भी निराला की उनके अधिक सहायक हुए क्योंकि ध्वनियों और नाद का निराला से बड़ा कवि कोई नहीं। डॉ. शर्मा ने हिंदी में नई आ रही लम्बी कविताओं पर ध्यान एकाग्र किया, संयोग ही था कि इनमें से अधिकांश निराला की थीं।

13. डॉ. शर्मा मार्क्सवाद के अनुरूप ऐतिहासिक ज्ञान की आवश्यकता पर बल देते हैं और उन तथ्यों का विश्लेषण करते हैं जिनके कारण अतीत का साहित्य हमें भाता है।
14. डॉ. शर्मा ने साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र पर अपनी राय रखते हुए स्पष्ट किया है कि साहित्यिक सौन्दर्य विषय, भाव, विचार और व्यंजनाप्रणाली, इन सबके मिले-जुले रूप पर आधारित होता है।
15. साहित्य भाषा के विषय में डॉ. शर्मा का कथन है कि भाषा का आदर्श रूप वही है जो लोक-चेतना को वहन कर सके। उन्होंने व्यंग्य भी किया है कि जो अपने साज-सिंगार में व्यस्त रहेगा, वह औरों की बात क्या कहेगा? स्पष्ट है कि डॉ. शर्मा साहित्य की सर्वोपरि सामाजिक और उसके साथ सहज रूप से प्रस्फुटित होनेवाली भाषाशैली को साहित्यसौन्दर्य का स्रष्टा माना है।
16. डॉ. शर्मा मार्क्सवाद के अनुरूप शैली से अधिक विषयवस्तु को महत्व देते हैं। वे मानते हैं कि साहित्य का विषय सामाजिक हो, एकांतिक होने पर भी उसके गूढ़ सामाजिक आशय हों, जैसा निराला में है। साहित्य की जनजीवन से स्पष्ट सम्बद्धता हो। उनका कहना है कि कला में शक्ति केवल उसे मांजने से नहीं आती वरन् विषय की जीवन्तता से आती है। उन्होंने एक निबन्ध ही 'साहित्य में जनता का चित्रण' नाम से लिखा है, जिसमें स्पष्ट किया है कि यह समझना कि जनता के जीवन को निकट से देखने से कवि का भावजगत धुंधला हो जाएगा या उसके अन्तःस्थल की कोमल वृत्तियों का सर्वनाश हो जाएगा, एक प्रवंचना भर ही है।
17. डॉ. शर्मा ने बहुत सारा काम व्यावहारिक समीक्षा के रूप में किया है। प्रेमचन्द और उनका युग, प्रेचन्द, भारतेन्दु युग, निराला, रामचंद्र शुक्ल उनकी ऐसी स्वतंत्र पुस्तकें हैं। उन्होंने प्रसाद और वृंदावनलाल वर्मा की कृतियों पर समीक्षाएं लिखीं, जिनमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा का अच्छा मेल मिलता है। डॉ. शर्मा ने शरतचंद्र, नजरुल इस्लाम, शैली, टैगोर, बलभद्र दीक्षित, भूषण, आई.ए. रिचर्ड्स के आलोचना

सिद्धान्त आदि निबन्ध भी लिखे, जिनसे उनकी प्रगतिशील आलोचकीय दृष्टि का पता चलता है।

बोध प्रश्न 1

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. प्रगतिवाद क्या है, संक्षेप में लिखिए।
2. प्रगति से क्या तात्पर्य है?
3. हिंदी साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन का आरम्भ कब और कैसे हुआ?
4. मार्क्सवाद में लेखक को उत्पादक किस प्रकार माना जाता है?
5. डॉ. रामविलास शर्मा का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

बोध प्रश्न 2 सही विकल्प चुनिए

1. डॉ. रामविलास शर्मा का जन्म किस सन में हुआ?

अ. 1912

ब. 1920

स. 1918

द. 1909

2. निम्न में से कौन आलोचक रामविलास शर्मा का समकालीन तथा सहधर्मी आलोचक है?

अ. शिवदान सिंह चौहान

ब. डॉ. नगेन्द्र

स. रामचंद्र शुक्ल

द. हजारप्रसाद द्विवेदी

3. प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन का गठन कहां हुआ?

अ. रोम

ब. लंदन

स. पेरिस

द. न्यूयार्क

4. प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन का पहला अधिवेशन कब हुआ था?

अ. 1936

ब. 1935

स. 1940

द. 1941

5. प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन के पहले अधिवेशन की अध्यक्षता किसने की?

अ. ई.एम. फास्टर

ब. आई.ए. रिचर्ड्स

स. टी.एस. इलियट

द. इनमें से कोई नहीं

6. भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना कब हुई?

अ. 1934

ब. 1935

स. 1936

द. 1945

7. भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना में कि अंग्रेजी लेखक की भूमिका थी?

अ. वी.एस. नायपाल

ब. नीरद चौधरी

स. मुल्कराज आनन्द

द. के. आर. नारायण

8. भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना में कि उर्दू लेखक की भूमिका थी?

अ. सआदत हसन मंटो

ब. सज्जाद जहीर

स. के आसिफ

द. कृष्ण चन्दर

9. प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन का सभापति कौन था?

अ. निराला

ब. रामविलास शर्मा

स. प्रेमचन्द

द. सुमित्रानन्दन पंत

बोध प्रश्न 3 निम्न कथनों में सत्य/असत्य का निर्धारण कीजिए

1. प्रगतिशील आलोचना राजनीतिक रूप से मार्क्सवाद से प्रेरित है ?
2. नागार्जुन प्रगतिशील कवि है ?
3. केदारनाथ अग्रवाल प्रगतिशील कवि नहीं है?
4. प्रगतिशील आलोचना का विस्तार आज की आलोचना में है?

21.7 सारांश

हिंदी आलोचना में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाद डॉ. रामविलास शर्मा सबसे आलोचक हैं जिन्हें उनकी सैद्धान्तिक-व्यावहारिक समीक्षा तथा विभिन्न विषयों पर लेखकीय प्रचुरता के कारण याद किया जाता है। वे अंग्रेजी के विद्वान थे और अध्यापक भी। वे पश्चिमी सिद्धान्तों को भी उनके मूल से जानते थे और भारतीय को भी। दो विश्वयुद्धों के बीच वे युवा हुए और उनका सम्पर्क मार्क्सवादी विचारधारा से हुआ। उन्हें प्रतीत हुआ कि भारत की जनता भी शोषण और अमानवीय जीवन-स्थितियों की उसी चक्की में पिस रही है, जिसे साम्राज्य और पूंजीवाद कहते हैं। यहां से उन्हें दिशा मिली। भारतेन्दु और महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग में उन्होंने भारतीय नवजागरण देखा, जहां आम जनता आजादी और स्वाभिमान के लिए सचेत होती जा रही

थी और अपनी भाषा और साहित्य के लिए भी। हम विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि रामविलास जी वे आलोचक हैं जिन्होंने प्रगतिशील आलोचना के लिए भूमि तैयार की। उनकी इतिहासदृष्टि भी विलक्षण थी, जो कबीर, तुलसी, रहीम, रसखान तक एक पूरी परम्परा को समाहित करती है। उदाहरण के लिए निराला की लम्बी कविताएं 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' का उनका किया विश्लेषण देखा जा सकता है। रामविलास जी तैयार की हुई विचारभूमि पर उनके तुरत बाद कई आलोचकों ने सार्थक सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना की। शिवदान सिंह चौहान तो उनके समकालीन ही रहे। फिर बच्चन सिंह, नामवर सिंह, मैनेजर पांडे आदि आज के बड़े आलोचक हैं। हालांकि जैसा कि पहले भी उल्लेख हुआ अपने अंतिम समय में डॉ. शर्मा आर्य संस्कृति की ओर कुछ कार्य करना चाहते थे जिसके कतिपय साम्प्रदायिक आशय भी रहे और उनके परवर्तियों का उनसे विरोध भी रहा। डॉ. शर्मा ने अस्तित्ववाद का जो आरोप मुक्तिबोध पर लगाया उसे डॉ. नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' में पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। यह किसी आलोचक की सबसे बड़ी तार्किक हार कही जा सकती है। लेकिन अपने क्रम में डॉ. रामविलास शर्मा अपने वक्रत के सबसे बड़े आलोचक कहे जाते हैं, जिन्होंने प्रचुर मात्रा में लेखन किया।

21.8 शब्दावली

विराट - विशाल, बड़ा

आडियोलोजी - विचारधारा

अनुपयोगी - जो उपयोगी न हो

ऐतिहासिक - इतिहास संबंधी

स्त्रष्टा - बनाने वाला सृजन करने वाला

21.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 2 के उत्तर

अ. 1912

अ. शिवदान सिंह चौहान

स. पेरिस

ब. 1935

अ. ई.एम. फास्टर

स. 1936

स. मुल्कराज आनन्द

ब. सज्जाद जहीर

स. प्रेमचन्द

बोध प्रश्न के 3 उत्तर

सत्य

सत्य

असत्य

सत्य

21.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1. निराला की साहित्य साधना - भाग एक : रामविलास शर्मा
2. निराला की साहित्य साधना - भाग दो : रामविलास शर्मा
3. निराला की साहित्य साधना - भाग तीन : रामविलास शर्मा
4. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी - भाग एक: रामविलास शर्मा
5. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी - भाग दो: रामविलास शर्मा
6. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी - भाग तीन: रामविलास शर्मा
7. भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद - भाग एक: रामविलास शर्मा
8. भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद - भाग दो: रामविलास शर्मा
9. मार्क्स और पिछड़े हुए समाज -रामविलास शर्मा
10. भारत की भाषा समस्या -रामविलास शर्मा

11. भाषा और समाज -रामविलास शर्मा
12. आस्था और सौन्दर्य -रामविलास शर्मा
13. नई कविता और अस्तित्ववाद -रामविलास शर्मा
14. भारतीय साहित्य की भूमिका -रामविलास शर्मा
15. प्रेमचन्द और उनका युग -रामविलास शर्मा
16. आचार्य रातचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना -रामविलास शर्मा
17. भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएं-रामविलास शर्मा
18. भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्पराएं -रामविलास शर्मा
19. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण-रामविलास शर्मा
20. ऐतिहासिक भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा -रामविलास शर्मा
21. पाश्चात्य दर्शन और सामाजिक अन्तर्विरोध-रामविलास शर्मा
22. परम्परा का मूल्यांकन-रामविलास शर्मा
23. निराला -रामविलास शर्मा
24. प्रेमचन्द-रामविलास शर्मा
25. हिंदी आलोचना का विकास- नंदकिशोर नवल
26. हिंदी ओलोचना - विश्वनाथ त्रिपाठी
27. हिंदी समीक्षा: स्वरूप और संदर्भ - रामदरश मिश्र
28. हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी - निर्मला जैन
29. मार्क्सवादी, ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय आलोचना- पांडेय शशिभूषण शीतांशु
30. हिंदी आलोचना: शिखरों का साक्षात्कार -रामचंद्र तिवारी

21.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रगति शब्द का आशय स्पष्ट करते हुए प्रगतिवाद प्रकाश डालिए तथा डॉ. रामविलास शर्मा के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दीजिए।
2. हिन्दी आलोचना के प्रमुख मार्क्सवादी आलोचना सिद्धान्तों पर विस्तृत लेख लिखिए साथ ही डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष पर प्रकाश डालिए।
3. प्रगतिशील आंदोलन का विस्तृत परिचय देते हुए उसके विकास क्रम को स्पष्ट कीजिए।
4. डॉ० रामविलास का परिचय देते हुए उनकी आलोचात्मक विकास यात्रा पर निबंध लिखिए तथा प्रगतिशील हिन्दी आलोचना में डॉ० शर्मा का अवदान स्पष्ट कीजिए।

इकाई22 - समकालीन हिन्दी आलोचना और नामवर सिंह

- 22.1 प्रस्तावना
- 22.2 उद्देश्य
- 22.3 समकालीन हिंदी आलोचना
- 22.4 मार्क्सवादी आलोचना परम्परा
- 22.5 रचना और आलोचना के बदलते ढाँचे
- 22.6 डॉ. नामवर सिंह का व्यक्तित्व
- 22.7 डॉ. नामवर सिंह के आलोचना सिद्धान्त
- 22.8 सारांश
- 22.9 शब्दावली
- 22.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 22.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 22.12 निबंधात्मक प्रश्न

22.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई हिन्दी स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अंतर्गत सम्मिलित है। इस इकाई के अध्ययन से पूर्व की इकाईयों में आपने हिन्दी आलोचना की संपूर्ण विचार एवं विकास यात्रा का ज्ञान प्राप्त किया।

प्रस्तुत इकाई में आप समकालीन हिन्दी आलोचना के उद्भव एवं विकास को समझ सकेंगे।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समकालीन हिन्दी आलोचना दृष्टि तथा इसी के अंतर्गत डॉ० नामवर सिंह की आलोचनात्मक दृष्टि का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

22.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे कि -

- समकालीन हिन्दी आलोचना क्या है?
- समकालीन हिन्दी आलोचना की अलग अलग धाराएं क्या हैं?
- प्रमुख समकालीन आलोचक कौन हैं?
- समकालीन हिन्दी आलोचना में डॉ. नामवर सिंह का व्यक्तित्व एवं महत्व क्या है?
- डॉ. नामवर सिंह के आलोचना सिद्धान्त क्या हैं?

22.3 समकालीन हिन्दी आलोचना

- समकालीन एक ऐसा पद है, जिसमें कम से कम तीन पीढ़ियां समाहित हो सकती हैं। तीन उम्रों के आलोचक। हिन्दी आलोचना की समकालीनता भी कमोबेश ऐसी ही है। पहली पीढ़ी में नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, मैनेजर पांडेय, नंदकिशोर नवल, कमला प्रसाद और परमानंद श्रीवास्तव हैं। दूसरी पीढ़ी में पुरुषोत्तम अग्रवाल, सुधीश पचौरी, जीवन सिंह, वागीश शुक्ल, मदन सोनी आदि हैं। तीसरी पीढ़ी में प्रणय कृष्ण, कृष्णमोहन, आशुतोष कुमार, अनिल त्रिपाठी, ज्योतिष जोशी, पंकज चतुर्वेदी, व्योमेश शुक्ल आदि। इस पहली, दूसरी और तीसरी पीढ़ी में कुछ समकालीन कवि भी हैं, जिन्होंने अत्यन्त समर्थ आलोचना लिखी है जिनमें चन्द्रकान्त देवताल, अशोक वाजपेयी, विष्णु खरे, राजेश जोशी, अरुण कमल, विष्णु नागर, विजय कुमार, मंगलेश डबराल, लीलाधर मंडलोई आदि नाम प्रमुख हैं।

- समकालीन कविता की अंतर्धाराएं भी अलग अलग हैं। नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, मैनेजर पांडे, परमानन्द श्रीवास्तव समेत कई बाद तक के आलोचक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी हैं। दूसरे छोर पर मार्क्सवाद का विरोध या उससे निस्पृहता है - रमेशचंद्र साह, अशोक वाजपेयी, वागीश शुक्ल, मदन सोनी, ज्योतिष जोशी आदि। नई पीढ़ी में सभी समर्थ आलोचक मार्क्सवादी हैं, जैसे प्रणय कृष्ण, आशुतोष कुमार, पंकज चतुर्वेदी, कृष्णमोहन आदि।

22.4 मार्क्सवादी आलोचना परम्परा

- जैसा कि पहले ही उल्लेख हुआ समकालीन आलोचक अधिकांशतः मार्क्सवादी अथवा वामपंथी हैं। प्रगतिशील आंदोलन की एक गहरी छाप उन पर है, जिसे उन्होंने अगली पीढ़ियों तक अपने श्रेष्ठतम रूप में बढ़ाया। मार्क्सवादी आलोचना की बात करें तो साफ़ तौर एक परम्परा का विकास हुआ है। डॉ. रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, नामवर सिंह, बच्चन सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, देवीशंकर अवस्थी, मैनेजर पांडे, मधुरेश, पुरुषोत्तम अग्रवाल, रामकृपाल पांडे, पांडेय शशिभूषण शीतांशु, रविभूषण, कुंवरपाल सिंह, परमानंद श्रीवास्तव, वीरन्द्र यादव और बीच की पीढ़ी के कवि आलोचक मुक्तिबोध, विष्णु खरे, चंद्रकांत देवताले, विजय कुमार, राजेश जोशी, अरुण कमल, मंगलेश डबराल, लीलाधर मंडलोई। नई पीढ़ी के प्रणय कृष्ण, कृष्णमोहन, पंकज चतुर्वेदी आदि। एक पूरी साठ साल की परम्परा है यह, जिसे हम मार्क्सवादी आलोचना कह रहे हैं। इसमें कुछ भीतरी रंग भी हैं, जैसे कवि विजेन्द्र और आलोचक जीवन सिंह का लोकराग के प्रति अतिरिक्त आग्रह।

22.5 रचना और आलोचना के बदलते ढाँचे

इन साठ सालों में रचनाओं ने अपने रंग और ढंग बदले हैं यानी उनके शिल्प-स्वरूप आदि में पर्याप्त फेरबदल हुआ है। इसी काल में तार सप्तक और प्रयोगवाद हुआ। इसी काल खंड में नई कविता और नई कहानी आए। किसान आंदोलन हुआ। नक्सलबाड़ी और श्रीकाकुलम हुआ। आपातकाल लगा। हिंदू-सिख साम्प्रदायिकता हुई। बाबरी मस्जिद दहा दी गई। बम विस्फोट हुए - आतंकवाद बढ़ता ही गया। उधर देश की व्यापार और अर्थनीतियों में आमूलचूल परिवर्तन हो गया। नेहरू युग का समाजवाद अब ढह गया। भारत खुले बाज़ार का एक हिस्सा बन गया। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ आयीं। किसानों से ज़मीनें छीनी जाने लगीं। किसान आत्महत्याएं करने लगे। आज़ादी के बाद कितना कुछ हुआ इस देश में उसे संक्षिप्त रूप में लिखना भी दरअसल विस्तार ही होगा।

इन बदलावों के कारण सभी रचना विधाओं में विषयवस्तु और शिल्प में परिवर्तन हुआ। मार्क्सवादी आलोचना चूँकि सैद्धान्तिक आलोचना है इसलिए उस नई बदलावों को समझने की जिम्मेदारी सबसे अधिक थी।

नई कहानी से बात आरम्भ करें तो ये नई आजादी के बाद अब सपनों के बनने-टूटने का सिलसिला था। बनने का कम, टूटने का ज्यादा। हिंदी आलोचना के सामने भी रचनाओं के बदलने का सवाल था। अब कहानी महज कहानी न कही जाकर नई कहानी कही जा रही थी और वह भी स्वयं कहानीकारों द्वारा। आलोचना को अपने सिद्धान्तों की कसौटी पर देखना था कि नया क्या है। नामवर सिंह ने शिल्प और अनूठे भाषा प्रयोग के लिए निर्मल वर्मा की परिन्दे कहानी को पहली नई कहानी का श्रेय दे दिया। नई कहानी के साथ आंचलिक कथाकार भी थे। आंचलिकता एक आन्दोलन हो चला था और उसके समर्थक भी काफी थे। मार्क्सवादी आलोचना को देखना था कि आंचलिक समाज जो कि सामन्ती समाज भी है किस तरह कथा-कहानी में आ रहा है।

कुछ कहानीकार प्रतिबद्ध मार्क्सवादी थे, उन्हें कैसे नया कहानीकार कहना है या उनमें क्या नया है, यह देखना भी मार्क्सवादी आलोचना के जिम्मे था। नामवर सिंह तो विचारधारा के लिए उस वक़्त इतने प्रतिबद्ध थे कि साहित्य छोड़ अपने ग्रामीण इलाके से सांसद का चुनाव लड़ने चले गए थे, जीत नहीं पाए, ये दीगर बात है और साहित्य के लिए अच्छी भी कि इस कारण इस भाषा को उसका इतना समर्थ आलोचक मिला। भैरवप्रसाद गुप्त के कहने पर उन्होंने कहानी की आलोचना श्रंखलाबद्ध ढंग से उनकी पत्रिका में की, जिसका बाद में **कहानी:नई कहानी** नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशन हुआ। कविता में प्रगतिवाद के विरुद्ध प्रयोगवाद का नारा था, जिसे अज्ञेय बड़ी सौम्यता से चला रहे थे। आगे चल कर नई कविता हो गया। लक्ष्मीकांत वर्मा एक लोहियावादी विद्वान हुए जिन्होंने नई कविता के प्रतिमान नामक पुस्तक लिखी, जिसमें क्षणवाद और लघुमानववाद की अस्तित्ववादी स्थापनाएं थी। इस पुस्तक के प्रतिकार रूप में कहें तो हमें नामवर सिंह की पुस्तक कविता के नए प्रतिमान मिली।

मुक्तिबोध महाराष्ट्रीय परिवेश के कवि थे जो फंतासी के शिल्प में ऐसी हिंदी कविताएं लिख रहे थे, जो हिंदी में विचार और भाषा दोनों में एक नया अनुभव था- हालांकि मुक्तिबोध के महत्व और महानता को हिंदी समाज ने उनकी मृत्यु के बाद स्वीकारा। डॉ. रामविलास शर्मा उन दिनों **नई कविता और अस्तित्ववाद** लिख रहे थे। उन्हें मुक्तिबोध अस्तित्ववाद के निकटतम कवि लगे और अपनी प्रिय प्रगतिशील कवि केदारनाथ अग्रवाल से तुलना करते हुए उन्होंने मुक्तिबोध को नकारना आरम्भ किया। नामवर सिंह ने मुक्तिबोध के प्रतिबद्ध वामपंथी रूप को पहचाना, इसमें हरिशंकर परसाई और शमशेर भी उनके सहायक हुए। नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' मुक्तिबोध को ही समर्पित करते हुए यह भी स्वीकार किया है कविता

के नए प्रतिमान के केंद्र में मुक्तिबोध हैं। नई कहानी और नई कविता दोनों अपने वक्त पर अपने अवसान को समर्पित हुए। किसान आंदोलन और जमींदारों के अत्याचार ने श्रीकाकुलम और नक्सलबाड़ी को जन्म दिया। हिंदी संसार तब अकविता और अकहानी में कहीं उलझ रहा था। धूमिल, राजकमल चौधरी, केदारनाथ सिंह, लीलाधर जगूड़ी, चंद्रकांत देवताले, वेणुगोपाल, कुमार विकल, सौमित्र मोहन आदि कई कवि हिंदी कविता के फलक पर आए। उधर प्रगतिशील कविता के चारों कवि अपनी प्रतिभा के शिखर पर थे। उनकी रचनाएं लगातार आ रही थीं। कविता की इस प्रचुरता का सारा मूल्यांकन आलोचना में होना था। हिंदी आलोचना में अब दो विभाजन दिखने लगे थे। पहला स्पष्ट रूप से मार्क्सवादी था और प्रभावी भी, दूसरा कवि अशोक वाजपेयी के इर्दगिर्द पनप रहा था। यह नवआलोचक मार्क्सवादी रचना और आलोचना दोनों का निकट निरीक्षण अपने मानदंडों पर करते थे।

हिंदी कविता के समकालीन संसार में एक परम्परा आठवें दशक की पीढ़ी कहने की है, जिसमें आलोक धन्वा, वीरेन डंगवाल, अरुण कमल, मनमोहन, मंगलेश डबराल, असद ज़ैदी आदि आते हैं। ये सभी नक्सलबाड़ी आंदोलन की वैचारिकी से उत्पन्न कवि माने गए और इनकी आलोचना मार्क्सवादी सिद्धान्तों में सहूलियत के साथ हुई किंतु प्रतिपक्ष में इन पर कई प्रश्न भी उठाए गए।

22.6 1. नामवर सिंह का व्यक्तित्व

नामवर सिंह का जन्म 28 जुलाई 1926 को बनारस जिले के जीयनपुर गांव में हुआ। एक सामान्य किसान परिवार में जन्मे नामवर सिंह ने प्राथमिक शिक्षा बनारस के देहाती स्कूलों में प्राप्त की फिर बनारस उदयप्रताप कालेज से इंटर किया। यहीं से लिखने का सिलसिला भी शुरू हुआ जो गद्य न होकर कविता में था।

पहली कविता इंटर करते हुए क्षत्रियमित्र नामक पत्रिका में छपी। 1949 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय से बी.ए., 1951 में एम.ए. तथा वहीं से 1956 में पी.एच.डी. की। 1953 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में व्याख्याता के पद पर अस्थाई नियुक्ति भी हुई। 1959 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार के रूप में चक्रिया-चन्दौली लोकसभा सीट पर चुनाव लड़ा और हार। इसी वर्ष काशी हिंदू विश्वविद्यालय से भी कार्यमुक्त हुए। 1959-60 में म.प्र. के सागर विश्वविद्यालय में कुछ समय के लिए नियुक्ति रहे। विभागीय राजनीति के चलते पद छोड़कर 1960 से 65 तक बनारस में ही रहकर स्वतंत्र लेखन किया। 1965 में पार्टी के जनयुग साप्ताहिक में सम्पादक होकर दिल्ली आए। इसी के साथ राजकमल प्रकाशन के साहित्यिक सलाहकार भी हुए और अब तक हैं। 1967 से राजकमल प्रकाशन की आलोचना पत्रिका सम्पादन। 1970 में जोधपुर विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष-प्रोफेसर

के रूप में नियुक्त। 1974 में कुछ समय के लिए क.मा.मुं. हिंदी विद्यापीठ आगरा के निदेशक भी रहे और उसी साल जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केंद्र में हिंदी के प्रोफेसर नियुक्त हुए और 1987 में वहां से सेवानिवृत्त होने के बाद 5 वर्ष के लिए पुनः नियुक्त। 1993 से 96 तक राजा राममोहन राय लाइब्रेरी फाउंडेशन के अध्यक्ष रहे। फिलहाल महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय वर्धा के कुलाधिपति हैं। उनकी लिखी पुस्तकों की सूची निम्नवत है -

1. पृथ्वीराज रासो: भाषा और साहित्य
2. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां
3. कहानी: नई कहानी
4. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान
5. काशी के नाम
6. आलोचक के मुख से
7. वाद विवाद संवाद
8. दूसरी परम्परा की खोज
9. कविता के नए प्रतिमान
10. इतिहास और आलोचना
11. छायावाद
12. ज़माने से दो-दो हाथ
13. हिंदी का गद्यपर्व
14. प्रेमचंद और भारतीय समाज
15. कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता

नामवर सिंह के इस संक्षिप्त जीवनवृत्त से पता लगता है कि उन्होंने हिंदी में कितने क्षेत्रों में कितना योगदान और कितना विपुल लेखन किया है।

1 बोध प्रश्न

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. समकालीनता क्या है?
2. नामवर सिंह ने रस सिद्धान्त के विषय में क्या कहा है?
3. नामवर सिंह ने छायावाद के विषय में क्या कहा है?
4. समकालीन आलोचकों के नाम लिखिए।

2 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

क. निम्न में से कौन समकालीन आलोचक नहीं है

अ. विश्वनाथ त्रिपाठी

ब. हजारी प्रसाद द्विवेदी

स. प्रियम अंकित

द. पंकज चतुर्वेदी

ख. निम्न में से कौन सा आलोचक मार्क्सवादी नहीं है

अ. विश्वनाथ त्रिपाठी

ब. अशोक वाजपेई

स. राजेश जोशी

द. इनमें से कोई नहीं

22.7 1. नामवर सिंह के आलोचना सिद्धान्त

जैसा कि पहले भी स्पष्ट हुआ है कि नामवर सिंह एक राजनीतिक चेतना के व्यक्ति हैं। रामविलास शर्मा की तरह वे घोषित कम्युनिस्ट हैं। अतः नामवर सिंह आलोचना का प्रमुख एवं मूल सिद्धान्त तो मार्क्सवाद ही है। उसे कुछ बिन्दुओं में हम इस तरह देख सकते हैं।

1. नामवर सिंह वाद के विवादों को निरर्थक मानते हैं। उनकी विचारधारा मार्क्सवाद प्रेरित और प्रतिबद्ध है किंतु हिंदी में चल पड़े कई-कई वादों पर उनका अभिमत इस प्रकार है -हिंदी में साहित्यिक वादों एवं प्रवृत्तियों का परिचय अनेक पुस्तकों में सुलभ है। सर्वत्र वादों की संख्या गिनाने की होड़-सी लगी हुई है। बहुज्ञता प्रदर्शित करने के लिए जैसे सबसे खुला मैदान यही दिखाई पड़ रहा है। कोशिश यही है कि किसी पाश्चात्य वाद का नाम न छूट जाए। कुछ उत्साही तो अपनी मौलिक खोज प्रमाणित करने के लिए हर यूरोपीय वाद के लिए हिंदी में कुछ-न-कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत कर देते हैं। इस प्रकार हिंदी धड़ल्ले से अभिव्यंजनावाद, अतिथथार्थवाद, अस्तित्ववाद, प्रतीकवाद, प्रभाववाद, बिम्बवाद, भविष्यवाद, समाजवादी यथार्थवाद आदि की चर्चा हो रही है, गोया ये सभी प्रवृत्तियाँ हिंदी साहित्य की हैं अथवा हिंदी में भी प्रचलित रही हैं। कहना न होगा कि ज्ञानवर्धन के इन उत्साही प्रयत्नों से आधुनिक हिंदी साहित्य की अपनी वास्तविक प्रकृति के बारे में भ्रम फैल रहा है।
2. नामवर सिंह ने आधुनिक साहित्य प्रवृत्तियाँ नामक पुस्तक लिखते हुए सिर्फ चार प्रवृत्तियों को मान्यता दी है - छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद।
3. नामवर सिंह के अनुसार छायावाद हिंदी के रोमांटिक उत्थान काव्यधारा है जो 1918 से 1936 तक प्रभावी रही और जिसमें प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी प्रमुख कवि हुए। नामवर सिंह के शब्दों में छायावाद सामान्य भावोच्छ्वास प्रेरित स्वच्छन्द कल्पना वैभव की वह 'स्वच्छन्द प्रवृत्ति' है जो देश-काल-गत वैशिष्ट्य के साथ संसार की सभी जातियों के विभिन्न उत्थानशील युगों की आशा-आकांक्षा में निरन्तर व्यक्त होती रही। स्वच्छन्दता की उस सामान्य भाव-धारा की विशेष अभिव्यक्ति का नाम हिंदी साहित्य में छायावाद पड़ा।
4. नामवर सिंह की मानना है कि रहस्य-भावना प्राचीन है किन्तु रहस्यवाद नवीन। रहस्यवाद का सम्बन्ध कुछ भक्तिकाल से और कुछ छायावाद से है। नामवर सिंह उसे छायावाद से ही जोड़ते हैं -रहस्यवाद आधुनिक है और हिंदी में छायावादी काव्य आंदोलन से सम्बद्ध है।
5. प्रगतिवाद वह चिंतनधारा है जिससे नामवर सिंह के आलोचक का जन्म हुआ। 1958 के आसपास सैद्धान्तिक रूप से वे लिखते हैं कि प्रगतिवाद के इन बीस वर्षों का इतिहास साहित्य में स्वस्थ सामाजिकता, व्यापक भावभूमि और उच्च विचार के निरन्तर का विकास इतिहास है, जो केवल राजनीतिक जागरण से आरम्भ होकर क्रमशः जीवन की व्यापक समस्याओं की ओर, आदर्शवाद से आरम्भ होकर क्रमशः यथार्थवाद की ओर और यथार्थवाद अथवा नग्न यथार्थ से आरम्भ होकर क्रमशः स्वस्थ सामाजिक यथार्थवाद की ओर अग्रसर होता जा रहा है।

6. नामवर सिंह के सामने नई कविता का प्रश्न था। नई कविता के प्रतिमान नाम की एक समूची पुस्तक ही थी और नएपन के सायास आग्रह के साथ कवियों का समूह था। नामवर सिंह ने कविता के नए प्रतिमान की भूमिका के पहले वाक्य में स्पष्ट कर दिया है कि नए से उनका आशय क्या है- किसी काव्यकृति का कविता होने के साथ ही नई होना अभीष्ट है। वह नई हो और कविता न हो, यह स्थिति साहित्य में कभी स्वीकार्य नहीं हो सकती।
7. इससे पहले हमने रचना और आलोचना के बदलते ढंग की बात की। नामवर सिंह मानते हैं कि कविता जब नई होगी या नए ढंग पर लिखी जाएगी, उसके लिए नए प्रतिमानों की ज़रूरत होगी। यहां स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि नामवर सिंह मार्क्सवादी सिद्धान्तों हटने की बात नहीं कर रहे। मुक्तिबोध उनकी पुस्तक **कविता के नए प्रतिमान** के केन्द्र में है, अतः सोच तो वही मार्क्सवादी रहेगी पर अभिव्यक्ति का ढंग बदलेगा और उसे परखने वाले आलोचना के प्रतिमान या उपकरण बदलेंगे।
8. अपने पूर्ववर्ती हर समर्थ आलोचक की तरह नामवर सिंह भी रस सिद्धान्त पर अपना मतव्य स्पष्ट करते हैं। उन्होंने रस के प्रतिमान की प्रसंगानुकूलता पर बात की है। दरअसल नामवर के साथ डॉ. नगेन्द्र भी आलोचना में सक्रिय थे और अपने समय के कवियों में रस निष्पत्ति खोज रहे थे। नामवर सिंह रस को नए रूप में देखना चाहते हैं। इस क्रम में नामवर सिंह रस की **गू ता** के बजाए कविता के आस्वाद पर बल देते हैं। उन्हें लगता है कि समकालीन नए कवियों पर रस आरोपित करने से बेहतर है कि उनकी कविता में आस्वाद के तत्व खोजे जाएं।
9. नामवर सिंह ने एक अहम काम कथालोचक के सन्दर्भ में किया है जो 'कहानी: नई कहानी' नाम से उपलब्ध है। नई कहानी आंदोलन के दौरान तीन धाराएं थीं जो साफ़ अलग दिखती थीं। पहली शेखर जोशी और भीष्म साहनी जैसे मार्क्सवादियों की, दूसरी रेणु जैसे आंचलिकों की, तीसरी मोहन राकेश-राजेन्द्र यादव-कमलेश्वर की त्रयी और चौथी जिसमें शैलेश मटियानी और शानी जैसे कहानीकार थे। निर्मल वर्मा उस दौर के बड़े कथाकार थे और नामवर जी ने उनकी कहानी परिन्दे को पहली नई कहानी का खिताब दिया था हालांकि बाद में अपनी चूक मानते हुए उसे उन्होंने लौटा भी लिया। नामवर सिंह ने नए कहानीकारों पर महत्वपूर्ण लेख लिखे, जो समय के साथ दस्तावेज़ जैसे हो गए हैं।
10. नामवर सिंह के आलोचना में सक्रिय होने तक आलोचना में बहुत काम हो चुका था लेकिन तब भी लोग छायावादोत्तर कविता के मूल्यांकन में आ रही समस्या की बात करते थे। दरअसल पुराने खांचे टूटने से यह समस्या खड़ी हुई। छायावाद तक भी लोग रस, छन्द, अलंकार खोज लेते थे और बिम्ब-प्रतीक जैसे आधुनिक

उपकरणों की झलक भी दिखा लेते थे पर नए कवियों जैसे मुक्तिबोध के साथ ये सब करना असम्भव था। इस पर नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक कविता के नए प्रतिमान में विस्तार से लिखा है।

11. नई कविता के समय में अचानक रामधारी सिंह दिनकर की पुस्तक 'उर्वशी' छप कर आयी। ये किताब परम्परागत छंद में थी और आलोचना नए रास्ते पर चल पड़ी थी। अपने शिल्प में यह किताब चालीस बरस पीछे थी अतः विषयवस्तु में ही कुछ बहस सम्भव थी। नामवर सिंह ने कल्पना में छपे उर्वशी विवाद पर कुछ पृष्ठ कविता के नए प्रतिमान में लिखे हैं। उन्होंने इसे पारम्परिक और आधुनिक जीवनमूल्यों का टकराव माना है।
12. उर्वशी के साथ ही यह हुआ कि कई आलोचकों ने छायावादी कृति कामायनी पर पुनर्विचार करने के प्रयत्न किए। इस पुनर्मूल्यांकन में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजयदेवनारायण साही से लेकर मुक्तिबोध तक संलग्न रहे। मुक्तिबोध ने कामायनी को फैंटसी रूप में देखा-जाँचा-परखा और उसमें निहित जीवनमूल्यों की समीक्षा की। एकदम यही राह फिर नामवर सिंह ने मुक्तिबोध की कविता के सन्दर्भ में अपनायी।
13. नई कविता के सामने काव्यभाषा और सृजनशीलता का प्रश्न भी था। काव्यभाषा कैसी हो? गद्यभाषा से कितनी अलग हो या नहो? उसमें सृजनशीलता का पक्ष कैसे मुखर हो - ये सब प्रश्न तब कि ही नहीं अब की कविता के भी हैं। इस विषय में नामवर सिंह ने विजयनारायण देव साही के कथन का सन्दर्भ लेते हुए कहा है कि कविता को बोलचाल भी भाषा के निकट लाने का अर्थ केवल बोलचाल के शब्दों को अपनाने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि सही माने में आज के जीवन की धड़कन को व्यक्त करने वाली लय को गहरे तक पकड़ना है। काव्यभाषा की सृजनशीलता पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि काव्यभाषा की सृजनशीलता को किसी एक नुस्खे अथवा कुछ नुस्खों में बांधना असम्भव है। भाषा, कवि से जिस सृजनशीलता की अपेक्षा रखती है, वहीं सृजनशीलता आलोचक के लिए भी आवश्यक है।
14. नामवर सिंह के आलोचना में पदार्पण के साथ ही काव्य बिम्ब और सपाटबयानी अथवा बिम्बविहीनता का प्रश्न भी उठने लगा था। अंग्रेजी में ये इमेज और नरेशन के सवाल थे। हिंदी आलोचक के सम्मुख इनका उठना लाजिमी ही था खासकर तब जबकि नागार्जुन, अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, धूमिल, चन्द्रकांत देवताले, लीलाधर जगूड़ी, केदारनाथ सिंह आदि एक साथ रचनारत हों। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है कि कविता में अर्थग्रहण भर से काम नहीं चलता बिम्बग्रहण भी

आवश्यक होता है। नई कविता अपने बुनियादी रूप में बिम्बधर्मिणी थी। नामवर सिंह ने कविता के नए प्रतिमान में इस बिम्बधर्मिता के कई सकारात्मक उदाहरण (नागार्जुन कृत अकाल और उसके बाद) प्रस्तुत करते हुए उसका समर्थन भी किया है, लेकिन फिर वे रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और केदारनाथ सिंह की काव्यपंक्तियों का हवाला देते हुए सपाटबयानी तक आते हैं। उनके अनुसार कविता में सपाटबयानी का यह आग्रह वस्तुतः गद्य सुलभ जीवन्त वाक्य विन्यास को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास है, जिसके मार्ग में बिंबवादी रुझान निश्चित रूप से बाधक रहा। इसके बाद नामवर सिंह ने कविता के गद्य को सन्दर्भित करने के लिए त्रिलोचन का उदाहरण दिया - नई कविता के उत्कर्षकाल में भी प्रवाह-पतित होने का खतरा उठा कर एक कवि धारा के विरुद्ध वाक्य विन्यास की रक्षा के लिए आवाज़ बुलन्द करता रहा, लेकिन उसकी आवाज़ न तब सुनी गई न अब - वह कवि है 'धरती' और 'दिगंत' का रचनाकार त्रिलोचन। जाहिर नामवर सिंह बिम्ब और सपाटबयानी, दोनों ही प्रकरण में अतिवादी नहीं हैं। उनके लिए दोनों का मोल है बशर्ते वो कविता हो, फिर चाहे बिम्बवादी हो या सपाट। अपने इस सिद्धान्त को नामवर सिंह ने पिछले पचास साल से संजो कर रखा है।

15. कविता की संरचना कैसी हो, यह प्रकरण भी काफी विचार-विमर्श का विषय रहा है। नई कविता से पहले छायावाद में भी दो तरह की काव्य संरचना सामने थी - प्रगीतात्मक और नाटकीय। प्रगति, प्रयोग और नए तक पग धरते ये दो संरचनात्मक रूप कमोबेश बने रहे और नामवर सिंह ने भी इन पर विस्तार विचार किया। छायावाद में महादेवी और पंत काफी प्रगीतात्मक थे, निराला और प्रसाद भी लेकिन नाटकीयता प्रसाद और सबसे अधिक निराला में है। प्रगतिशील कविता में वह बहुत है, सबसे ज्यादा नागार्जुन के यहां। प्रयोगवाद में खुद अज्ञेय के पास भी कम नहीं। मुक्तिबोध तो उसको फंतासी के स्तर पर ले गए हैं। डॉ. नामवर सिंह प्रगीतात्मकता को महत्व देते हुए भी मुक्तिबोध के हवाले से नाटकीयता को प्रधानता देते हैं।
16. विसंगति और विडम्बना के पद नई कविता के साथ आए और नामवर सिंह ने भी उन पर अपना मतव्य रखा। वे मानते हैं कि जीवन में यदि विसंगतियां और विडम्बनाएं हैं तो कविता में उन्हें आना चाहिए। वे इसके लिए निराला, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, प्रभाकर माचवे आदि की कविताओं के सन्दर्भ ग्रहण करते हैं। इससे पहले हमने नाटकीयता का उल्लेख किया है, उसे तनिक नामवर जी के इस कथन के साथ जोड़कर देखा जाए - स्पष्ट है कि आज की विडम्बनापूर्ण स्थिति के सम्मुख नाटकीय काव्य के लिए अपार सम्भावनाएं हैं और नाटकीय रचनाएं ही इस स्थिति की चुनौती को अच्छी तरह स्वीकार भी कर सकती हैं।

17. कविता महज मनोरंजन नहीं। आधुनिक कविता तो हरगिज़ नहीं। आज की कविताओं में अनुभूति की जटिलता और तनाव का एक अनायास विन्यास स्पष्ट देखा जा सकता है। यह अनुभूति भी अब महज अनुभूति न कह कर प्रामाणिक अनुभूति कही जाती है। नामवर सिंह का सिद्धान्त स्पष्ट है। जटिलता और तनाव अर्थात् द्विधात्मकता जो मार्क्सवादी आलोचना का मूल है।

3 बोध प्रश्न- सही विकल्प चुनिए

क. निम्न में से कवि ने अपनी कविता फंतासी का प्रयोग किया है

अ. श्रीकांत वर्मा

ब. रघुवीर सहाय

स. मुक्तिबोध

द. चन्द्रकांत देवताले

ख निम्न कथनों में सत्य / असत्य का निर्धारण कीजिए

1. नामवर सिंह का जन्म बनारस के निकट भदोही ग्राम में हुआ था।
2. नामवर सिंह की पहली प्रकाशित रचना एक कविता थी।
3. नामवर सिंह ने परिन्दे को पहली नई कहानी माना।
4. नामवर सिंह हिंदी अत्यधिकवादों के उल्लेख से सहमति नहीं रखते।
5. प्रणय कृष्ण समकालीन युवा आलोचक है।

घ लघु उत्तरीय प्रश्न

4. नामवर सिंह ने रहस्य-भावना के सम्बन्ध क्या विचार प्रकट किए?
5. नामवर सिंह के अनुसार प्रगतिशीलता क्या है?
6. नामवर सिंह ने उर्वशी-विवाद के सम्बन्ध में क्या मत प्रकट किया है?
7. मुक्तिबोध ने कामायनी को किस प्रकार का काव्य माना है?

22.8 सारांश

समकालीन आलोचना के इस विवेचन के बाद आप जान चुके हैं कि यह कितनी तरह जटिल चिंतनधाराओं का समुच्चय है। जैसा कि पहले भी उल्लेख हुआ इसकी प्रभावी धारा मार्क्सवाद ही रही। कई पुस्तकों पर व्यावहारिक समीक्षा होती रही, कभी मार्क्सवादी तो कभी मार्क्सवाद विरोधी, किन्तु ऐसी आलोचना उस तरह की हुई जिसे प्रभाववादी कहते हुए शुक्ल जी ने खारिज कर दिया था।

समकालीनता में प्रचुरता भी है। कितने आलोचक, कितनी अलग-अलग पीढ़ियों के, एक साथ सक्रिय हैं। नामवर सिंह अभी हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष कहे जाते हैं। उनके द्वारा बोला गया हर शब्द ध्यान से जाँचा-परखा जाता है। लिखने का क्रम नामवर सिंह कुछ सालों से नहीं निभा पा रहे किन्तु वे लगातार देशभर में विविध विषयों पर अद्भुत व्याख्यान दे रहे हैं, जिनका मोल सैद्धान्तिक आलोचना से कम नहीं। नामवर सिंह की इसी तरह की चार आलोचना पुस्तकें अभी छप कर आयी हैं और चार छपने वाली हैं।

22.9 शब्दावली

समकालीन - वर्तमान

आंचलिक - किसी विशेष भू-भाग से संबंधित

इर्दगिर्द - आस-पास

बहुज्ञता - बहुत जानना, विद्वान होना

अभीष्ट - जिसकी इच्छा हो वह वस्तु

सपाटबयानी - सीधी बात

फंतासी - फैंटेसी

22.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 2 के उत्तर

क -ब. अशोक वाजपेई

ख ब. हजारी प्रसाद द्विवेदी

बोध प्रश्न 3 के उत्तर - सही विकल्प चुनिए

क- स. मुक्तिबोध

ख - गलत

सही

सही

सही

सही

22.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. नामवर संचयिता- नामवर सिंह
2. कृति विकृति संस्कृति - सत्यप्रकाश मिश्र
3. आलोचना से आगे- सुधीश पचौरी
4. हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी - निर्मला जैन
5. हिंदी आलोचना का विकास- नंदकिशोर नवल
6. हिंदी ओलोचना - विश्वनाथ त्रिपाठी
7. आलोचना की पहली किताब - विष्णु खरे

22.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. समकालीन आलोचना से आप क्या समझते हैं? समकालीन और शुक्ल जी आलोचना में अंत बताइए।
2. समकालीन शब्द का आपकी दृष्टि में क्या अर्थ है? समकालीन मार्क्सवादी आलोचना की परम्परा पर प्रकाश डालिए।
3. डॉ. नामवर सिंह के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए तथा उनके प्रमुख आलोचना सिद्धान्त का विवेचन कीजिए।